मानसिक ब्रह्मचर्य

अथवा

कर्मयोग

ग्रन्थकार—

सेठ फकीरचन्द कानोड़िया

मुद्रक—

त्यागी फाइन आर्ट प्रेस,

कटरा खुशहालराय, किनारी बाजार, देहली ।

ट्रेड मार्क
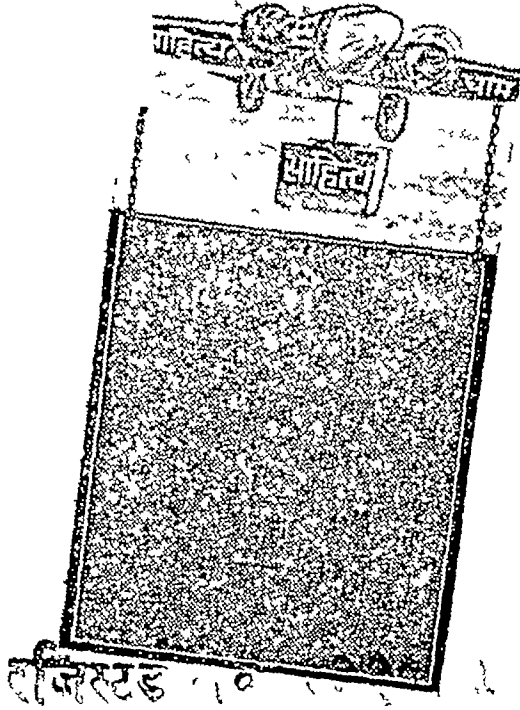
स्थान

साहित्य धाम

किनारी बाजार, देहली।

मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग

प्रथम दृष्टव्य

विषय सूची | पृष्ठ संख्या

ग्रंथ का मूल्य

ग्रन्थ का मूल्य	१२) रुपया
ग्रन्थ के दो खण्ड	१४) रुपया
प्रथम खण्ड	७) रुपया
दूसरा खण्ड	७) रुपया

कई इष्ट-मित्रों ने मुझे सम्मति दी है कि अधिक मूल्य का अंग्रेजी ग्रंथ तो लोग मोल ले लेते हैं परन्तु हिन्दी का नही लेते। उनका यह कहना ठीक होगा किन्तु मै ऐसा नहीं समझता। क्योंकि यदि हिन्दी के ग्रंथ में गुण होगा और ग्राहक की आवश्यकता पूरी होगी तो वह क्यों न अधिक मूल्य देकर अपनी आवश्यकता पूरी करेगा ? संसार मे यही दो बाते हैं। जो सब प्रकार की वस्तुओं पर लागू होती है, फिर हिन्दी की ही पुस्तके इन दो बातों से कैसे बच सकती है ? इसी कारण से मैं समझता हूं कि यदि हिन्दी की पुस्तकों मे गुण, आवश्यकता-पूर्ति और मौलिकता होगी तो ग्राहक अधिक मूल्य देकर भी हिन्दी की पुस्तके मोल लेगे। हॉ, यह होसकता है कि यदि नकल हुई अथवा अपहरण हुआ तो ग्राहक अवश्य हिचकिचाएँगे।

दूसरी बात है, इस ग्रंथ के मूल्य के अधिक की। इसके विषय मे मैं कुछ नहीं कह सकता, अधिक है या कम। कदाचित ग्राहक यह नहीं देखेगे कि ग्रन्थकार को अपने विषय को पूर्ण बनाने में

कितना अधिक समय लगा है ? कितना अधिक परिश्रम करना पडा है ? कितने अधिक कष्ट तथा दुःख झेलने पड़े हैं ? कितने हजारों रुपये व्यय करने पडे हैं ? और कितनों का उस पर भार है ? वे तो अपना रुपया ही देखेंगे। इस लिये उन्हीं के दृष्टि-कोण से विचार करना चाहिए और उनके लिये सुविधा का मार्ग निकालना चाहिए।

उनका यह कहना ठीक होगा कि ग्रंथ का मूल्य अधिक है। परन्तु कोई भी ग्राहक बाजार में किसी भी वस्तु को मोल लेते समय यह देखता है कि हम जितना रुपया दे रहे हैं, उतने रुपये की उस वस्तु मे उतना-लाभ होगा या नही। यदि उसे उतना लाभ होता दिखाई देता है तो वह उस वस्तु को मोल ले लेता है और उसे घाटे की वस्तु नहीं समझता। यदि उसे कम लाभ होना दिखाई देता है तो ग्राहक उस वस्तु को नहीं खरीदता। यदि ग्राहक को रुपये खरचने मे जितना अधिक लाभ होने की सभावना होती है तो वह उतने अधिक लाभ होने की कल्पना करके प्रसन्नता-प्रसन्नता से अपनी गाढी कमाई का मूल्यवान रुपया देकर उस वस्तु को मोल ले लेता है।

ग्रथ को मोल लेते समय ग्राहक को देख लेना चाहिए कि जितना रुपया हम व्यय कर रहे है, कम से कम उतना लाभ तो होना ही चाहिए। जिससे हम घाटे मे न रहें, अधिक हो

तो बहुत ही अच्छा। यदि ग्रंथ पर रुपये खरचने का कुछ अधिक लाभ होता है तो ग्रन्थ का मूल्य अधिक कहां रहा?

दूसरे, अन्य अनेक वस्तुओं को मोल ले लेने पर भी उन पर बारम्बार व्यय करना पड़ता है, परन्तु ग्रन्थ को एक बार मोल ले लेने पर ग्राहक बारम्बार के व्यय से बच जाता है। इस लिये यदि ग्राहक को अपनी आवश्यकता पूरी होती दिखाई दे तो उसे "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ को अवश्य मोल लेकर रुपये का सद् व्यय करने में आगे बढ़ना चाहिए। हिचकने या रुपये के मोह में पड़ने से हानि ही होने की संभावना रहेगी।

अनेक सज्जन ऐसे हैं, जो रुपये के मोह मे पड़ कर तथा भ्रांत धारणा बनाकर लाभकारी वस्तु को भी मोल नही लेना चाहते। ऐसे सज्जनों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि परिश्रम करके रुपया संचित क्यों किया जाता है ? उसका क्या मूल्य है..? उससे क्या लाभ है.? रुपया कमाने का लाभ तो यही है-ना कि—आवश्यकता पूरी करने के लिये, जीवन को प्रगति देने के लिये और उसे सुख, शांति तथा आनन्द से युक्त बनाने के लिये—उसे सुमार्ग मे व्यय किया जाए, उसे देकर दूसरों से अपनी आवश्यकीय वस्तु (विषय) मोल ले ली जाए। यदि मनुष्य अपने रुपये को सुमार्ग मे व्यय नहीं करता है और न-हि वह अपनी आवश्कीय वस्तु

मोल लेता है तो—परिश्रम करके रुपयों के एकत्र करने का कोई लाभ नहीं, उसका कोई मूल्य नहीं—परिणाम यह होगा कि या तो वह उसे कुमार्ग में व्यय करेगा या वह किसी प्रकार नष्ट हो जाएगा अथवा उसके रुपयों का लाभ दूसरा ही उठाएगा। रुपये का स्वामी तो केवल निरर्थक कागजों और ईंट-कंकरों को इकट्ठा कर-करके उनके बोझ से चीखता रहेगा। अत रुपये का मूल्य या लाभ समझकर उसके स्वामी को चाहिए कि उसे सुमार्ग मे लगाए और अपनी आवश्यकीय वस्तु प्राप्त करने के लिये उसे दूसरों को दे।

अनेक सज्जन ऐसे है, जो ग्रंथ का अध्ययन तो करना चाहते है परन्तु एक-साथ बारह रुपया व्यय करने में असमर्थ हैं। उनकी सुविधा के लिये ग्रन्थ के दो खण्ड कर दिये है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य सात रुपया रख गया है।

अनेक सज्जन ऐसे है, जो ग्रथ का मूल्य देने मे असमर्थ है और उसका अध्ययन करना चाहते है। ऐसे सज्जनो के लिये यह मार्ग हो सकता है कि वे पुस्तकालय के अधिकारियों से उसे मंगाने का आग्रह करें। क्योंकि उसका रुपया जनता की साहित्यिक आवश्यकता पूर्ति के लिये ही है। दूसरे असमर्थ महानुभाव इष्ट-मित्रों से भी ग्रंथ माग कर अपना काम चला चला सकते हैं।

—ग्रन्थकार

प्रकाशक—

फकीरचन्द कानोड़िया

सर्वाधिकार ग्रन्थकार के आधीन है

प्रथम संस्करण विक्रम संवत् २००५
ग्रन्थ प्रति संख्या १०००
गतिशील संख्या

समर्पण

समर्पण ऐसे ही व्यक्ति को किया जा सकता है
जो महान् हो और किसी भी महत्वपूर्ण विषय को
सफल बनाने में सब से अधिक भाग रखता हो।
मानसिक ब्रह्मचर्य जैसे महत्वपूर्ण विषय को
सफल बनाने में सब से अधिक महत्वपूर्ण
भाग मेरी आत्मा ने ही लिया है। जो
स्वयं महान् है और भविष्य में उससे
अन्य भी महाफल प्राप्त होने की
संभावना है। इसलिये यह
'मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा
कर्मयोग' नामक ग्रन्थ
स्वात्मा को सस्नेह
समर्पित करता
हूँ।

—फकीरचन्द कानोड़िया

कृतज्ञता प्रकाशन

मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग नामक विषय को सम्पन्न बनाने के लिये माता-पिता की ओर से जो सुविधा तथा स्वतन्त्रता मुझे मिली है, उनका मिलना किसी भी सन्तान को दुर्लभ है। उन्होंने ४५ वर्ष तक मेरा लालन-पालन किया, २५ वर्ष तक गंभीर रोगों के आक्रमणों से मेरी रक्षा की और धन, वस्त्र, यान, औषधी, चिकित्सक और शुश्रूषक नौकरों आदि की ओर से कभी चिंतित नही होने दिया। उन्होंने कभी मुझ से धनार्जन करने की मांग नहीं की। मै अपने खाने-पीने, सोने, भ्रमण करने और अपने विषय में मग्न रहा करता था। जो दूसरों के लिये कुछ नही था, परन्तु मेरे लिये सब कुछ था। मुझे न घर की व्यवस्था की चिन्ता थी और न-हि सामाजिक आदि कार्यों से प्रयोजन था। इस प्रकार माता-पिता की ओर से मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता तथा सुविधा मिली हुई थी। जिनकी अपार कृपा से मैं अपने विषय को सम्पन्न बनाकर ग्रंथ के रूप में जनता के सन्मुख रख रहा हूँ। उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। जिससे मुक्त होना अत्यंत दुष्कर है। फिर भी जहाँ तक हो सके मुझे उनकी सेवा करनी चाहिए। यदि मैं

अपने जीवन से उन्हें सन्तोष दे सका तो अपने को कृतार्थ समझूँगा।

मेरे बंधुओं तथा उनकी पत्नियों और और इष्ट-मित्रों ने भी जो सुविधा दी एवं जो सद् भावना से सम्मति दी—इसके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

—फकीरचन्द कानोड़िया

जीवन को किस प्रकार का साहित्य अपनाना चाहिए ?

साहित्य साहित्य के लिये नहीं लिखा जाना चाहिए। इस प्रकार का साहित्य काल्पनिक होता है और वह जीवन की अनुभूति शून्य होता है। साहित्य की रचना अर्थोपार्जन तथा यशोपार्जन आदि के लिये भी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के साहित्य मे भी बहुत-कुछ उक्त दोष आ जाता है। इस प्रकार का साहित्य जीवन की प्रगति नहीं कर सकता और वह जीवन के साथ-साथ चलकर, उसे सुख-आनन्द पूर्ण नहीं बना सकता।

साहित्य, जीवन से उत्पन्न होना चाहिए। अर्थात् साहित्य का विषय जीवन मे इतना घुलमिल जाना चाहिए कि वह उससे पृथक् न किया जा सके। या यों कहना चाहिए कि उस विषय को जीवन से पृथक् कर दिया जाए, तो जीवन जीवन न रहे। वरन् वह एक चेतनामात्र रह जाए। दूसरी प्रकार यों समझना चाहिए कि साहित्य का विषय (वह चाहे संघर्षात्मक हो चाहे शांति प्रिय, चाहे व्यापारिक हो-चाहे वस्तु उत्पत्ति सम्बन्धी, चाहे यांत्रिक हो-चाहे हाथ द्वारा उत्पादित, चाहे दार्शनिक हो-चाहे वैज्ञानिक, चाहे शारीरिक हो-चाहे मनोवैज्ञानिक) जीवन के साथ-साथ निरंतर चलता रहे और वह प्रत्येक प्रकार की सुविधा-असुविधा, सफलता-असफलता, उतार-चढ़ाव, सुख-

दुःख, व्याकुलता और आनन्द आदि का जीवन को अनुभव कराता हुआ सुफलदायक हो। जब इस प्रकार से किसी प्रकार का विषय जीवन से घुलमिलकर एक हो गया हो और वह उसका प्रगति करने वाला तथा सुफलदायक हो, तो उसके आधार पर उत्पन्न हुआ साहित्य—जीवन से उत्पन्न साहित्य कहलाएगा। इस प्रकार का साहित्य जीवन के साथ-साथ रहकर, उसकी प्रगति कर सकता है। एव वह सफलता का मार्ग दिखाता हुआ शांति, सन्तोष और आनन्ददायक हो सकता है।

जीवन से नहीं उत्पन्न होनेवाला साहित्य तो—जीवन की प्रगति में बाधक, पद-पद पर रोड़े अटकानेवाला, असुविधा-दायक, संतापितकर और नष्ट करने वाला होता है। इस प्रकार के साहित्य को जीवन—जीवित रहने, सुख, सुविधा और अपने को आनन्द पूर्ण बनाने के लिये—कभी नहीं अपना सकता। वह उसके लिये त्याज्य है। यदि जीवन इस प्रकार का साहित्य अपनाएगा, तो भ्रमवश ही अपनाएगा। जब उसका भ्रम दूर हो जाएगा, तो वह उसका परित्याग कर देगा और अपने किये पर पश्चात्ताप करेगा। अतः जीवन को जीवन से उत्पन्न होनेवाला साहित्य को ही अपनाना चाहिए और अन्य प्रकार से उत्पन्न होनेवाले साहित्य का यत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए।

शंका निवारण—

उपरोक्त लेख से यह शंका उत्पन्न होती है कि—"अर्थोपार्जन आदि की दृष्टि से लिखा हुआ साहित्य जीवन से सम्बन्ध नहीं रखता" ऊपर यह वर्णन कर आए है, परन्तु— स्वयं ग्रंथकार "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक साहित्य से आर्थिक आदि लाभ उठा रहा है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ जीवन की गाढ़ अनुभूति से सम्बन्ध रखता है ?

उपरोक्त शंका ठीक है, परन्तु साधक या पाठक इस ग्रंथ को कुछ भी ध्यान देकर अध्ययन करेंगे तो ज्ञात हो जाएगा कि यह ग्रंथ जीवन से उत्पन्न हुआ है। ऐसे जीवन-साहित्य से यदि साहित्यकार को आर्थिक और यश आदि का लाभ हो तो उन्हें त्यागने की आवश्यकता नहीं हैं। क्योंकि जीवन की प्रगति के लिये उनकी भी आवश्यकता है। यदि साहित्यकार आर्थिक आदि लाभ का परित्याग कर देगा, तो परिणाम यह होगा कि उसकी जीवन-गति रुक जाएगी और उसके साथ ही साथ साहित्य-रचना भी समाप्त हो जाएगी ।

इस ग्रन्थ की विशेषताएं

१ कामाग्नि प्रशांतक—

मनुष्य को जब प्रेमिका (या प्रेमी) से सम्मिलन नहीं होता है तो वियोग के कारण उसकी छाती मे कामाग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह दहक-दहककर कामी पुरुष (या स्त्री) को जलाने लगती है। उस जलन की पीडा के कारण मनुष्य खाने-पीने का स्वाद लेना भूल जाता है, उसकी भूख मारी जाती है, वह कपडे पहरना भूल जाता है, वह खोया-खोया सा रहता है, उसका मन पढ़ने लिखने, किसी काम करने और आचार-विचार मे नहीं लगता और संसार उसके लिये सूना-सूना-सा हो जाता है। जब शरीर मे कामाग्नि लगे हुये कुछ दिन बीत जाते हैं तो मनुष्य को काम-ज्वर हो जाता है। जिसको दूर करने के लिये चाहे जितना व्यय करो परन्तु कदाचित कोई भी डाक्टर या वैद्य उसे दूर नही कर सकता। कोई भी चिकित्सक उस कामाग्नि से पीड़ित तथा तापित रोगी पर अमृत वर्षा करके और पिलाकर उसे शात नहीं कर सकता। परन्तु इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ मे वह अमृत का भडार भरा हुआ है, जिसकी वर्षा और पान से कामाग्नि तथा काम ज्वर शात होने की अवश्य सभावना है।

२. अधिक से अधिक काम-क्रीडा का आनन्ददायक—

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ में—किस प्रकार स्त्री और पुरुष एक-दूसरे की ओर प्रवृत्त होते है ? किस प्रकार सौन्दर्य, प्रेम, मधुरता और स्नेह का जाल उन्हे फसा लेता है ? किस प्रकार वे एक-दूसरे को पाने का यत्न करते है ? कौन प्रेमी या प्रेमिका प्राप्त हो सकती है और कौन नही ? उसे किस विधि से प्राप्त किया जा सकता है और किस विधि से नही ? कौन विधि ग्राह्य है और कौन त्याज्य है ? प्रेमी या प्रेमिका के भाव किस विधि से जाने जा सकते है ? इत्यादि—अधिक से अधिक काम-क्रीडा के आनन्द देने वाली बातें वर्णन की गई है।

३ अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का साधक—

पुरुष अपने मन को स्त्री की ओर चलने से रोकने के लिये अनेक उपाय किया करता है। वह बल या हठ पूर्वक उसे रोकने का यत्न करता है। वह उसकी चाल को रोकने के लिये अपने को काम-धन्धे में लगाता है। वह चाहता है कि मन किसी लडकी या पराई स्त्री की ओर न चले और वह इस न-चलने के लिये अपने को खेल-तमाशे आदि मनोरंजक स्थानों में ले जाता है। कोई-कोई पुरुष तो स्त्री-सम्बन्धी विषय से दूर रहने के लिये एकान्त या वन का

निवास किया करता है। इसी प्रकार स्त्री की भी अवस्था होती है। परन्तु वास्तव में या गंभीरतापूर्वक विचार करके देखा जाए तो ज्ञात होगा कि मन इन किसी भी प्रकार से स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर चलने से नहीं रुक सकता। वह रुक तभी सकता है, जब कि उसे सन्तोष हो।

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र मे मन को सन्तुष्ट करने का ही मार्ग निकाला गया है। इस ग्रन्थ मे किस-किस प्रकार असन्तोष होने पर मन स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त होता है और किस-किस प्रकार से उसे सान्त्वना देकर रोका जा सकता है? इत्यादि ब्रह्मचर्य सम्बन्धी व्यावहारिक मौलिक तत्वों का विस्तार सहित वर्णन है।

४ कर्मयोग का नवीन-पथ प्रदर्शक—

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ मे वांछित-फल प्राप्त करने के लिये कर्म करने का नया-पथ वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ मे छल-प्रपंच से बचायक तत्वों का भी वर्णन है। इस में अपने दोषों को पहचानने के लिये कर्मों की त्रिपुटी भी दी है। इसमें कर्म करते-करते किन तत्वों को ध्यान में रखना चाहिए, यह भी वर्णन है। हम वांछित वस्तु की अप्राप्ति की अवस्था मे व्याकुलता को किस प्रकार शांति के साथ सहन कर सकते

हैं ? और कर्म-रहस्य को भली प्रकार से खोला गया है। इत्यादि कर्मयोग सम्बन्धी बहुत-सी बातों का विस्तार सहित वर्णन है ।

५ स्त्री और पुरुषों के अधिकार का निष्पक्ष निर्णायक—

स्त्री और पुरुषों के अधिकार के विषय मे उनकी भावनाओं तथा विचारों मे ग्रन्थी पड़ जाया करती है और आज भी वह कुछ न कुछ पड़ी हुई है । एवं भविष्यत् मे चाहे भी जब पड़ सकती है ।

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र में उक्त ग्रन्थी का निष्पक्ष हो कर भली प्रकार सुलझाया गया है ।

६. साम्प्रदायिक एकता के निष्पक्ष तत्वों का विशद प्रकाशक—

चिरकाल से बड़े-बड़े महात्मा, बड़े बड़े नेता और बड़े-बड़े विद्वान् साम्प्रदायिक एकता करने मे लगे हुये हैं। परन्तु आज तक कोई भी महानुभाव इस समस्या का सम्यक् समाधान नहीं कर पाया है। इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रथ मे इस समस्या को सुलझाने के लिये सम्यक् निष्पक्ष तत्वों का स्पष्ट तथा विस्तार के साथ वर्णन है। इन तत्वों के अनुसार व्यवहार होने से साम्प्रदायिक समस्या के सुलझने की अत्यन्त संभावना है ।

७ मानवता का स्थापक—

यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ मानवता के स्थापन करने मे किसी व्यक्ति पर दवाव नहीं डालता, किसी से हठ नहीं करता, किसी से दुराग्रह यह सत्याग्रह भी नहीं करता और न किसी को उपदेश करता है। वरन् यह ग्रथ बड़ी मनोहरता तथा कोमलता के साथ और आनन्दानुभूति कराता हुआ अपने विषय को हृदय मे प्रवेश कराके अमानवता को हटाकर मानवता को स्थापन करता है।

८ कुटुम्बत्व का विशद व्याख्यानक—

अनेक बार वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक या आत्मिक आदि विषय की उन्नति की प्रगति मे कुटुम्ब का बन्धन बाधक हो जाता है। और वह व्यक्ति तथा समाज (या देश) को पतितावस्था मे ले जाकर दीन-हीन बनाता हुआ, दु ख का लोक बना देता है। यह सब मनुष्य की अनसमझी के कारण ही होता है।

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रथ मे मनुष्य की उन्नति तथा आनन्द की ओर प्रगति करने के लिये कुटुम्ब के विषय को स्पष्ट करके विस्तार के साथ समझाया गया है।

९. सत्य चरित्र का उत्थानक—

मनुष्य असत्चरित्र को अपनाने से स्वयं अपने-आप मे विश्वासहीन होकर सन्देह ग्रस्त, चिन्ताशील, भयभीत रहता है और वह व्याकुलता तथा क्षोभ आदि दोषों से युक्त होता है। दूसरे, दूसरे लोग भी उस पर विश्वास नहीं करते और जब भी उनकी इच्छा होती है या जब भी उन्हे अवसर मिलता है, तभी वे उसे बुरा भला कह कर हानि पहुंचाने लगते हैं। उस समय कुटुम्बी और मित्र भी शत्रु बन जाया करते हैं परन्तु सत्चरित्र मे मनुष्य इन सब दोषों से छूट कर अनेक गुणों का धाम बन जाता है और शत्रु भी उससे प्रेम करते हुए सहायता पहुंचाने लगते है।

उपरोक्त अवस्थाओं को देखते हुए इस ग्रथ मे सत्य-असत्य तथा सत्कर्म-असत्कर्म की परिभाषा और व्याख्या करते हुए असत्चरित्र से सत्चरित्र का उत्थान किया गया है। इस उत्थान करने के लिये इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र मे बहुत-से साध्य और साधन तत्वो का स्पष्ट तथा विस्तार के साथ वर्णन है।

१० सत्यासत्य निर्णय करने के सिद्धांत का प्रतिपादक—

मनुष्य प्रत्येक विषय मे सत्य-असत्य का निर्णय करने के लिये उत्सुक रहा करता है। क्योंकि वह उसके

बिना व्याकुल हो जाता है, संदेह-ग्रस्त रहता है, अन्धकार में चलता हुआ ठोकरें खाता है और अपने कर्म-सूत्रों की उलझन में स्वयं उलझ जाता है। जिससे वह न आगे बढ़ सकता है और न-हि अपने उद्देश्य या वांछित-फलको प्राप्त कर सकता है।

उक्त दोषों को जान कर इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ में सत्यासत्य निर्णय करने के लिये, उसके सिद्धात का स्पष्ट तथा विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जिसके ज्ञान-प्रकाश मे साधक—अपने कर्म-सूत्रो की उलझन को सुलझाता हुआ और ठोकरों से बच कर अपने कर्तव्य-मार्ग पर बढ़ता हुआ—अपने उद्देश्य वा वाञ्छित-फल को प्राप्त करके सुख, शाति और आनन्द को प्राप्त कर सके।

११ जीवन का उद्देश्य सम्बन्धी ग्रन्थी का सुलझायक—

अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं, जो जीवन के उद्देश्य सम्बन्धी ग्रंथी में उलझे हुए रहते हैं। जिस उलझन के कारण मनुष्य न-तो अपनी वाञ्छित-वस्तु को प्राप्त करने के लिये उसकी ओर प्रगति कर सकते हैं और न-हि सुख, शांति तथा आनन्द को प्राप्त हो सकते हैं।

इस 'मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग' नामक शास्त्र में उपरोक्त 'जीवन का उद्देश्य सम्बन्धी ग्रंथी' को सुलझाया गया है।

१२. स्वार्थवाद में अधिक से अधिक परार्थ प्रतिपादक—

संसार में अधिकतम शास्त्रों, महात्माओं, विद्वानों और नेता लोगों ने स्वार्थवाद को अत्यन्त बुरा तथा परोपकार को अत्यन्त श्रेष्ठ या लोक कल्याणकारक बतलाया है। परन्तु इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ मे स्वार्थवाद मे अधिक से अधिक परार्थ (दूसरे की भलाई) को सिद्ध किया गया है।

१३. अद्वैतवाद के नये, व्यवहारिक और मौलिक मार्ग का निरूपक--

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र मे अद्वैतवादके नये, व्यावहारिक और मौलिक मार्ग का स्पष्ट और विस्तार के साथ वर्णन है।

१४ परलोक और पुनर्जन्म का नये रूप-रंग में विचारक--

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ मे स्वर्ग, नरक ,परलोक और पुनर्जन्म का नये तथा व्यावहारिक प्रकार से स्पष्ट एवं विस्तृत रूप मे वर्णन है।

१५. मनोविज्ञान का विशद प्रकाशक—

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र में मन या अतःकरण को स्पष्ट रूप में विस्तार के साथ समझाया गया है। मन के विभाग करके उनके

कार्यों का वर्णन किया गया है। मनुष्य की अनिच्छा होते हुये मनोवेग उसे उचित-अनुचित रूप से अपने विषय की ओर किस प्रकार खींच लेता है? वह उसकी क्या-क्या दशा बनाता है? उससे क्या-क्या हानि-लाभ होते हैं और मनोविज्ञान के द्वारा मन को अनोद्देश्य की ओर से हटाकर उद्देश्य की प्राप्ति या सफलता की ओर किस प्रकार प्रवृत्त किया जा सकता है? इत्यादि बातों का इस ग्रन्थ में स्पष्ट, सुन्दर और विस्तार के साथ वर्णन है।

१६ भूत-प्रेत आदि का भय निवारक—

यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ भूत-प्रेत आदि का भय दूर करने वाला है।

१७ सब प्रकार के सुख-आनन्दों का मार्ग दर्शक—

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र में कर्मयोग और ज्ञानयोग का ऐसा संयुक्त वर्णन है, जो सब प्रकार के सुख-आनन्दों का देने वाला है।

इस महाग्रन्थ में ब्रह्मचर्य, कर्मयोग ज्ञानयोग और सच्चरित्र का उत्थान आदि ऐसे विषय वर्णन किये गये हैं, जिनकी साधना का सिद्धि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं।

१८. साधक का चालक भी है—

यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ अपने विषय के कर्म-पथ का ज्ञान कराने के साथ-साथ उस पथ पर चलाने वाला भी है।

१६. २५ वर्ष का अनुभूत, व्यावहारिक और मौलिक —

यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र २५ के वर्ष निरंतर बलिदान से युक्त परिश्रम करके अनुभव से सम्पन्न बनाकर व्यावहारिक और मौलिक लिखा गया है ।

शेषांश— -

उपरोक्त उन्नीस विशेषताओं के अतिरिक्त इस महाग्रंथ "मानसिक ब्रह्मचय अथवा कर्मयोग में अन्य भी अनेक विशेषताएं हैं। जिनका ज्ञान पाठक द्वारा इस ग्रन्थ के अध्ययन करने पर छोड दिया गया है।

प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी ऐसी भावना - विचार के जाल मे जकड़ा हुआ रहता है, जिससे वह संशय, भ्रम, क्लेश, चिन्ता, क्षोभ, असफलता, विफलता और अप्रगति आदि को प्राप्त होता है। जहा तक मुझे ज्ञात होता है, वहा तक कहा जा सकता है कि यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र प्रत्येक व्यक्ति

कार्यों का वर्णन किया गया है। मनुष्य की अनिच्छा होते हुये मनोवेग उसे उचित-अनुचित रूप से अपने विषय की ओर किस प्रकार खींच लेता है? वह उसकी क्या - क्या दशा बनाता है? उससे क्या-क्या हानि-लाभ होते हैं और मनोविज्ञान के द्वारा मन को अनोद्देश्य की ओर से हटाकर उद्देश्य की प्राप्ति या सफलता की ओर किस प्रकार प्रवृत्त किया जा सकता है? इत्यादि बातों का इस ग्रन्थ में स्पष्ट, सुन्दर और विस्तार के साथ वर्णन है।

१६ भूत-प्रेत आदि का भय निवारक—

यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ भूत-प्रेत आदि का भय दूर करने वाला है।

१७ सब प्रकार के सुख-आनन्दों का मार्ग दर्शक—

इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र में कर्मयोग और ज्ञानयोग का ऐसा संयुक्त वर्णन है, जो सब प्रकार के सुख-आनन्दों का देने वाला है।

इस महाग्रन्थ में ब्रह्मचर्य, कर्मयोग ज्ञानयोग और सच्चरित्र का उत्थान आदि ऐसे विषय वर्णन किये गये हैं, जिनकी साधना का सिद्धि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं।

१८. साधक का चालक भी है—

यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ अपने विषय के कर्म-पथ का ज्ञान कराने के साथ-साथ उस पथ पर चलाने वाला भी है।

१९. २५ वर्ष का अनुभूत, व्यावहारिक और मौलिक —

यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र २५ के वर्ष निरंतर बलिदान से युक्त परिश्रम करके अनुभव से सम्पन्न बनाकर व्यावहारिक और मौलिक लिखा गया है।

शेषांश—

उपरोक्त उन्नीस विशेषताओं के अतिरिक्त इस महाग्रंथ "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग में अन्य भी अनेक विशेषताएं हैं। जिनका ज्ञान पाठक द्वारा इस ग्रन्थ के अध्ययन करने पर छोड़ दिया गया है।

प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी ऐसी भावना - विचार के जाल में जकड़ा हुआ रहता है, जिससे वह संशय, भ्रम, क्लेश, चिन्ता, क्षोभ, असफलता, विफलता और अप्रगति आदि को प्राप्त होता है। जहा तक मुझे ज्ञात होता है, वहा तक कहा जा सकता है कि यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र प्रत्येक व्यक्ति

को न्यूनाधिक रूप मे जीवन-समस्या के सुलझाने में सहयोग देगा।

उपरोक्त-विशेषताओं की सत्यता का ज्ञान ग्रन्थ के अध्ययन करने पर ही ज्ञात हो सकता है। इसलिये जिस सज्जन को उपरोक्त विषयों (वस्तुओं) की आवश्यकता हो, उन्हे इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ का अध्ययन करके अवश्य देखना चाहिए।

—ग्रन्थकार

मानसिक ब्रह्मचर्य

अथवा

कर्मयोग

विषय-सूची

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

———

दशवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवां अध्याय

चौदहवां अध्याय

पन्द्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय

उन्नीसवाँ अध्याय

बीसवाँ अध्याय

इक्कीसवाँ अध्याय

कर्तव्यपालन का मार्ग

जीवन के उद्देश्य पर अनेक उदाहरण

उद्देश्य और कर्तव्यपालन

बाईसवाँ अध्याय

तेईसवाँ अध्याय

चौबीसवाँ अध्याय

दो आवश्यक बातें

स्पर्श

मनुष्य

लक्षण और स्पर्श सिद्धान्त

मानसिक ब्रह्मचर्य के तत्वों का परीक्षण

पच्चीसवाँ अध्याय

छब्बीसवाँ अध्याय

परलोक वर्णन की आवश्यकता

जीव का आधार

परलोक और पुनर्जन्म का अभाव

सताईसवाँ अध्याय

मानसिक ब्रह्मचर्य
मनसिज मन्थन
घट
अथवा
कर्म योग
ग्रन्थकार
सेठ फकीरचन्द कानोड़िया

॥ श्री ॥

मानसिक ब्रह्मचर्य

अथवा

कर्मयोग

पहला अध्याय

ग्रन्थ के आरम्भ की तिथि—

"मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नाम का ग्रथ वैशाख शुक्ल प्रतिपदा विक्रम सम्वत् २००२ में आरम्भ किया।

भूमिका भाग

मन या मनोवेग का महत्व—

संसार में मन या मनोवेग का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मनुष्य को प्रेरणा करनेवाला, उत्थान और पतन में लेजानेवाला है। यह मनुष्य और उसके विचार को अपने वश मे रखता है। यह इच्छा तथा विचार न होने पर भी मनुष्य से मनमाना कर्म करवाता रहता है। इसका क्षणिक आवेश भी महान् कार्यों तथा उद्देश्यों को क्षणभर में धूलिसात् कर देता है। परन्तु जिस मनुष्य ने मन (मनोवेग) को अपने नियंत्रण में कर लिया है,

उसके लिये यह परम मित्र और साधक है। उसको यह मनोवाञ्छित फल देता है, कठिन से कठिन मार्ग को सरल से सरल बनाता है, उसे उन्नति और शांति के मार्ग पर ला, अग्रसर करता है। इत्यादि कारणों से मन की परख करते हुए वेदान्तियों ने कहा है कि—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः"

परमार्थ मत्ता मे तो मन या मनोवेग की महत्ता है ही, पर लौकिक पक्ष मे भी उसकी कम महत्ता नहीं। जिस अधैर्य के—ससार मे सबसे अधिक उन्नतिशाली, शक्तिशाली और शिरोमणि बनाने के—मनोवेग ने एडोल्फ हिटलर और उसके जर्मनी राष्ट्र को महान् बनाया; उसी ने उन्हें धूल में मिला दिया। यह मनोवेग का ही प्रभाव है कि जो महात्मा गांधी अपने को सत्पथ का पथिक बताते हैं, जिन्हे अभीतक कदाचित सत्य का कुछ ही ज्ञान हुआ हो, वे बारंबार भूल करने पर प्रायश्चित्तरूप में उपवास करते हैं परन्तु उनके भक्त उनमे सत्यता की पूर्णता मानते हैं। जिसको स्वयं महात्मा गाधी भी स्वीकार नहीं करते। यह मनोवेग ही है कि महात्मा गांधी के जिस अहिंसामय असहयोग ने विदेशी वस्त्र व्यापारियों पर धरणा लगाते हुए उनको गालियाँ दीं, उनके प्रति जनता में घृणा उत्पन्न की और यहाँ तक किया कि उनके घर चिकित्सक को भी जाने से रोक दिया जाता था ...न्तु उनके व्यापार-संकट पर कुछ भी ध्यान नहीं था। फिर उनके भक्तों की दृष्टि में वह अहिंसामय असहयोग ही था

और वह था सत्य। इसी प्रकार महाभारत महाकाव्य में भी वर्णन आता है कि धृतराष्ट्र यह समझता था कि पाण्डवों को आधा राज्य देना न्याय संगत है परन्तु अपने पुत्र-मोह के कारण ऐसा नहीं कर सकता था। इसी प्रकार हम प्रतिदिन के व्यवहार में भी देखते हैं कि किसी मनुष्य को किसी वस्तु की आवश्यकता है और वह दूसरे व्यक्ति के पास है। वह उससे अपने लिये आवश्यक वस्तु ला सकता है परन्तु उसमें क्रोध के आवेश का भाव है। इस कारण वह किसी अन्य व्यक्ति से कहता है कि मेरा वहाँ जाना आवश्यक है पर यदि मुझ में क्रोध चाण्डाल जागृत होगया, तो वह वस्तु लाना तो दूर रहा वरन् उससे बिगाड़ हो जायगा। इसलिये मेरा वहाँ जाना ठीक नहीं। मेरे स्थान पर यदि तुम चले जाओ तो अधिक उचित है। इसी प्रकार मनोवेग को समझाने का एक और उदाहरण देकर इस तांते को समाप्त करूँगा। किसी पुरुष को किसी अमुक-कार्य या व्यापार के करने की आवश्यकता है, जिससे उसकी आर्थिक कठिनाई दूर हो सके। वह उस कार्य या व्यापार को करना उचित तथा न्याय संगत मानता है। परन्तु वह अपनी परंपरा या प्रतिष्ठा के कारण उस कार्य या व्यापार को नहीं कर सकता। चाहे उसे आर्थिक कठिनाई के कारण अनेक प्रकार के दु:खों को भोगते हुए, जीवन-व्यतीत करना पड़े। यह मनोवेग ही है।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि मन या मनोवेग का, लौकिक पक्ष में भी, कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

अत चाहे पारमार्थिक पक्ष हो अथवा लौकिक, दोनों ही पक्षों से मन पर नियन्त्रण करना आवश्यक हो जाता है और कामोपभोग या ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विषय में तो इसकी महत्ता और भी अधिक हो जाती है। इसमें मनोवेग चरम-सीमा ग्रहण कर लेता है। अन्य व्यवहारों मे तो-यह अनियंत्रित होकर असफल बनाता है, कुमार्ग में ले जाता है, पर शरीर को पसीजा-पसीजा कर क्षीण नहीं करता। शरीर की शक्ति बनी रहती है, इन्द्रियों अपना कार्य भली प्रकार करती हैं परन्तु कामक्रीड़ा सम्बन्धी विषय में तो यह उक्त सब बातों को एक साथ कर डालता है। दिन मे तो यह-कामवेग पीछे पड़ा ही रहता है परन्तु रात्रि को भी—जबकि सब मनुष्य अंधकार में लीन होकर विश्राम करते हैं, पशु-पक्षी अपने-अपने ठानों और घोसलों मे सोते हैं और तो क्या वृक्ष तथा पौधे भी अंधकार में लुप्त होकर एक प्रकार से सोते रहते हैं, उस समय भी यह—जागकर विश्राम करते हुये मनुष्य को पीड़ित करता हुआ, पसीजा-पसीजाकर मारता है। इसके उदाहरण हमारे शास्त्रों में भरे पड़े हैं। ऐश्वर्यशाली रावण की दुर्दशा इसी कारण हुई। विश्वामित्र साठ हजार वर्ष तपस्या करके भी इसी मनोवेग के कारण पश्चात्ताप को प्राप्त हुआ। ऐसे उदाहरण शास्त्रों ही में नहीं प्रतिदिन के व्यवहारों में भी देखे जाते हैं। यदि मनुष्य काम-क्रीड़ा सम्बन्धी मनोवेग को नियन्त्रण में कर ले, तो उसके लिये [illegible] में कुछ भी प्राप्त करना दुर्लभ नहीं रह जाता। वह

सत्य, शिव और सुन्दर रूप धारण कर लेता है। पर इसके नियंत्रण करने की बात करना जितना अधिक सरल तथा सुन्दर है, उतना ही उसको व्यवहार में लाना कठिन तथा दुःखदायी है। मन को वश में करने की कठिनाई तथा उसकी गंभीरता को अनुभव करते हुए अर्जुन ने भगवान कृष्ण के सन्मुख इस प्रकार निवेदन किया था कि—

"चञ्चलं हि मन. कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥"

अर्थात् मन को वश मे करना वायु को वश मे करने की भाँति कठिन है। पर इतना होने पर भी यह विधि से वश में किया जा सकता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य वायु को अपनी बाहुओं में बाँधने का प्रयत्न करता है तो उसका प्रयत्न व्यर्थ होता है। परन्तु यदि वह उसके चारों ओर परमाणुओं का ऐसा युक्त तथा दृढ़ योग (सम्बन्ध) कर देता है कि जिस मे से वह निकल न सके (वह सम्बन्ध चाहे रबड़ का हो, चाहे शीशे का हो, चाहे धातु का हो अथवा अन्य किसी प्रकार का हो) तो वह बाँधा जाता है या वह वश में हो जाता है। इसी प्रकार मन की भी अवस्था है। यदि उसके चारों ओर यथार्थ विचार-परमाणुओं का दृढ़ योग कर दिया जायगा तो वह वश मे हो जायगा। इस ग्रन्थ मे उन्हीं विचार-परमाणुओं, उपायों, नियमों या तत्वों का वर्णन किया जायगा; जिनके घेरे मे घिरकर वह निकल न सके और वश मे होजाए। अन्य व्यवहारों के भावों

की अपेक्षा काम व्यवहार का भाव सब से अधिक महत्वशाली प्रतीत होता है। जब इस व्यवहार में मन पर नियंत्रण कर लिया जायगा, तो अन्य व्यवहारों में उसपर नियंत्रण करना सरल हो जायगा।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के 'भूमिका भाग' अथवा 'मन या मनोवेग का महत्व' विषयक पहले अध्याय को समाप्त करते हैं।

पहला अध्याय समाप्त

॥ शुभम् ॥

दूसरा अध्याय

इस ग्रन्थ का उद्देश्य—

मन पर नियंत्रण करने के नियम वर्णन करने से पूर्व इस ग्रंथ का उद्देश्य बतलाना आवश्यक है। अनेक महानुभावों को इस ग्रंथ में अश्लीलता प्रतीत होगी परन्तु इस ग्रंथ का उद्देश्य काम-क्रीड़ा के विषय में मन को नियंत्रण में करना है। साधक, पाठक या श्रोता के सामने यथार्थ चरित्र को रखते हुये, यथार्थ (सत्य) चरित्र का उत्थान करते हुये, अधिक से अधिक सब प्रकार के सुखों तथा आनन्द प्राप्त करने का मार्ग बतलाना है। अथवा उन नियमों का वर्णन करना है, जिनके लिये मनुष्य लालायित रहता है। ऐसे यथार्थ (सत्य) नियम और उसके विस्तार में अश्लीलता को अवश्य लाना पड़ेगा। इसके बिना साधक या पाठक के मन या अन्तःकरण मे वह चित्र नही खड़ा किया जा सकता, जो खड़ा करना चाहिए। इस चित्र के उत्थान के बिना वांछित फल भी नहीं प्राप्त हो सकता। अतः इस ग्रंथ में अश्लीलता का लाना आवश्यक होजाता है। उसे देखकर घबराना नहीं चाहिए। घबराने की बात भी क्या है? इसको कौन नहीं चाहता? ऊपर से चाहे कोई भी कुछ कहे।

अतः उक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये इस ग्रंथ को सुनना, पढ़ना और विचारना चाहिए। साथ ही वर्णित नियमों

या तत्वों को अपने व्यवहार में लाने का यत्न करना चाहिए।

प्राणीमात्र में काम-क्रीड़ा के भाव—

ग्रंथ का उद्देश्य और अश्लीलता सम्बन्धी विशेष सूचना देने के उपरान्त अब अपने मुख्य विषय 'काम-क्रीड़ा' पर आया जाता है।

हम देखते है कि संसार में क्या मनुष्य, क्या पशु, क्या पक्षी आदि सब प्रकार के जीवों में मैथुन-क्रीड़ा के भाव पाए जाते हैं। वे इस क्रीड़ा को इसलिये करते हैं कि आनन्द की प्राप्ति हो। उनका मुख्य उद्देश्य (लक्ष्य) यही रहता है, कर्तव्य-पालन नहीं। जैसे—

कोई कुत्ती है. वह मार्ग मे चली जारही है। उसे जो-जो कुत्ता मार्ग में मिला, वही (अपनी काम-वासना पूर्ति के लिये) उसके पीछे हो लिया। समस्त कुत्ते उस एक कुत्ती से मैथुन-क्रीडा करना चाहते हैं परन्तु वे सब के सब तो उसे नहीं कर सकते पर उसके साथ हो लेते हैं सब। यदि वे काम-क्रीडा, कर्तव्यपालन के लिये करते हैं तो—एक कुत्ती के लिये केवल एक कुत्ते ही की आवश्यकता होती है—उसके पीछे अनेक कुत्ते न होते। परन्तु देखा जाता है कि एक-एक कुत्ती के पीछे पाँच-पाँच और सात-सात तक कुत्ते होजाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे जो मैथुन-क्रीड़ा करना चाहते हैं, आनन्द की प्राप्ति के लिये ही; न-कि कर्तव्यपालन के लिये। दूसरे जब कुत्ता, कुत्ती के पीछे-पीछे हो लेता है और वह उससे मैथुन करने का यत्न करता है

तो कुत्ती उसे भौंकती है, बटका मारती है परन्तु कुत्ता इस अपमान और आघात को चुपचाप सहन कर लेता है। ऐसा क्यों ...? यदि कुत्ते में कर्तव्य पालन करने की इच्छा होती तो वह इस प्रकार अपमानित होकर उसके पीछे-पीछे मैथुन-क्रीड़ा करने के लिये न चलता। परन्तु वह तो, कुत्ती के बारंबार फटकारने पर भी, उसके पीछे पीछे दौड़ता चला जाता है क्योंकि कुत्ते को उससे आनन्द प्राप्त करने की इच्छा है। इसलिये वह कुत्ती की समस्त कठोरता, रूक्षता और प्रहार सब कुछ सहन कर लेता है। और भी देखिये जब कुत्ती गर्भस्थ होजाती है और उसके अनेक बच्चे उत्पन्न होजाते हैं, तो कुत्ता उनके लालन-पालन करने के लिये कुछ व्यवस्था नहीं करता। इस उदाहरण से स्पष्ट होजाता है कि कुत्ता जो काम-क्रीड़ा करना चाहता है, वह केवल अपने आनन्द की प्राप्ति के लिये; कर्तव्यपालन के लिये नहीं। बच्चों के लालन-पालन करने का भार अकेली कुत्ती पर आ पड़ता है और वह भरसक यत्न से उनका लालन-पालन करती है। यदि यह कहा जाए कि कुत्ती तो अपना कर्तव्यपालन करती है...? पर वास्तव मे देखा जाय तो वह भी ऐसा नहीं करती, क्योंकि वह मैथुन-क्रीड़ा जब इच्छा होती है तब करती है, जिससे इच्छा होती है उससे करती है अथवा बलवान कुत्ता, कुत्ती के चाहे जानेवाले कुत्ते की उपेक्षा करके, उससे मैथुन करना चाहता है और कुत्ती चुपचाप उसे सहन कर लेती चाहे कुत्ते तथा कुत्ती की लम्बाई-चौड़ाई, ऊँचाई नि...

कितना भी अंतर हो और चाहे उस अंतर के कारण मैथुन करना दुस्साध्य हो, फिर भी कुत्ती क्रीड़ा करने के लिये तैयार हो जाती है। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि कुत्ती जो मैथुन-क्रीडा करती है, वह भी अपने आनन्द की प्राप्ति के लिये ही, न-कि कर्तव्यपालन के लिये। परन्तु पीछे उसे किसी कारणवश कर्तव्यपालन करना पड़ता है, यह दूसरी बात है।

अब एक उदाहरण पक्षियों का भी लीजिए। एक कबूतर और कबूतरी है। जब वे काम-क्रीड़ा करते हैं तो ज्ञात होता है कि उस क्रीडा में उन्हें कितना आनन्द मिल रहा है। उस समय उनमें कर्तव्यपालन का भाव नहीं पाया जाता।

अब मनुष्य समाज का उदाहरण लेना चाहिए क्योंकि इस ग्रंथ की रचना मानव के लिये है, इसलिये उसका सजातीय उदाहरण भी चाहिए। कोई पुरुष किसी अयोग्य या अबोध कन्या से मैथुन-क्रीड़ा करता है या वह किसी अन्य पुरुष की विवाहित स्त्री से काम-क्रीडा करता है अथवा वह चोरी से छिपकर अन्य स्त्री से काम-क्रीडा करने का यत्न करता है, तो किसलिये ? आनन्द के लिये या कर्तव्यपालन के लिये ? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा जायगा कि वह आनन्द की प्राप्ति के लिये उक्त क्रीड़ा को करना चाहता है। तभी तो वह चोरी आदि दूषित तथा त्याज्य कर्मों को भी अपना लेता है। पीछे, अर्थात् काम-क्रीडा करने के पश्चात् या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये कर्तव्यपालन करना पड़ता है, तो यह दूसरी बात

है। पुरुष के समान स्त्री भी काम-क्रीड़ा अपने आनन्द की प्राप्ति के लिये ही करती है। क्योंकि ऐसा देखा, सुना और पढ़ा जाता है कि अनेक स्त्रियां धर्म, समाज और राजनियमों आदि का उल्लंघन करके अन्य पुरुष से काम-वासना की पूर्ति करती है। जिसको वे भी अनुचित समझती हैं। और भी देखिये—संसार में ऐसा प्रसिद्ध है कि जिस स्त्री की काम-वासना की पूर्ति अपने विवाहित पुरुष से नहीं होती तो वह अन्य पुरुष की ओर आकर्षित होजाती है।

इस प्रकार संसार के समस्त प्रकार के प्राणियों मे मैथुन-क्रीड़ा करने के भाव पाये जाते हैं और वह क्रीड़ा आनन्द की प्राप्ति के लिये की जाती है, कर्तव्यपालन के लिये नहीं। उस क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये या क्रीड़ा करने के पश्चात् किसी कारणवश कर्तव्यपालन करना पड़े, यह दूसरी बात है। वास्तव मे या मूलरूप में जीव काम-क्रीड़ा आनन्द की प्राप्ति के लिये ही करता है।

अव "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नाम के शास्त्र के दूसरे अध्याय को—इस ग्रंथ का उद्देश्य और प्राणीमात्र मे काम-क्रीड़ा करने के भाव विषय को वर्णन करने के पश्चात्—समाप्त किया जाता है।

दूसरा अध्याय समाप्त

॥ शुभम् ॥

तीसरा अध्याय

काम-क्रीडा के भाव की उत्पत्ति, विकास और मनुष्य की अवस्था तथा मार्ग-दर्शन—

संसार के समस्त प्राणी काम-क्रीड़ा करते हैं। जिससे आनन्द प्राप्त होने की संभावना की जाती है। यह काम-क्रीड़ा निरन्तर चलती रहती है। इसका अंत कभी नहीं होता। मनुष्य जब संसार में जन्म लेता है, तो उस समय उसे इस क्रीडा का कुछ ज्ञान नहीं होता। इसी का क्या ? किसी भी विषय का उसे कुछ ज्ञान नहीं होता। उस समय उसे कुछ भूख-प्यास आदि ही का ज्ञान होता है। तदनन्तर उसे अन्य विषयों के ज्ञान के साथ-साथ, उसमें काम-क्रीड़ा करने के भी संस्कार पड़ने लगते हैं। वह अपने बाल-साथियों से इस विषय में आनन्ददायक वचन सुनता है और उनकी इसी प्रकार की चेष्टाओं को देखता है, छोटे तथा बड़े व्यक्तियों से स्त्री-पुरुष के विवाह की कहानियाँ तथा चर्चा सुनता है। साथ ही उसे उस विषय को गुप्त रखने के लिये भी संकेत मिलता रहता है और वह पशु-पक्षियों आदि अनेक प्रकार के जन्तुओं को उस क्रीड़ा में रमण करता हुआ पाता है। इन सब घटनाओं का यह परिणाम होता है कि—

काम-क्रीडा के संस्कार उसमें धीरे-धीरे करके संग्रह होते चले जाते हैं। जब वे स्फुरण होने लगते हैं, तो बड़े प्रिय लगते हैं।

मनुष्य उनका बारम्बार चिन्तन करने लगता है और वह चाहने लगता है कि मुझे भी काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त हो। जब उसे वह नहीं प्राप्त होता या प्राप्त होने की संभावना नहीं रहती तो जब भी उसे अवसर मिलता है, तो पुरुष स्त्री की ओर आकर्षित होने लगता है और स्त्री पुरुष की ओर। जब पुरुष यह देखता है कि कोई व्यक्ति आपत्ति करनेवाला नहीं है तो वह स्त्री की ओर बारम्बार देखता है। वह उसके प्रत्येक अंगों को देखकर, उस सम्बन्धी क्रीड़ा का चिन्तन करने लगता है और चाहने लगता है कि क्या ही अच्छा हो कि वह मुझे किसी प्रकार प्राप्त होजाए तथा उसकी प्राप्ति में देर भी न हो। काम-क्रीड़ा की प्राप्ति मे स्त्री के भाव का होना अत्यन्त आवश्यक है। उस भाव का प्रकटीकरण नेत्र, वाणी और व्यवहार आदि से होता है। इसी कारण से वह स्त्री के भाव जानने के लिये उसके नेत्रों, शब्दों, चेष्टाओं और व्यवहार को देखता रहता है। पुरुष चाहता है कि स्त्री मुझे प्रसन्नता, मधुरता और स्नेहित नेत्रों से देखे—इसी प्रकार बोले और व्यवहार करे। जब स्त्री पुरुष को प्रसन्नता, मधुरता और स्नेहित नेत्रों से देखती है तो—पुरुष का हृदय-कमल खिल जाता है और पुरुष को एक अनोखे आनन्द की अनुभूति होने लगती है। यदि वह पुरुष को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती है तो पुरुष के दुःख का, व्याकुलता का कुछ ठिकाना नही रहता। वह अपनी वेदना को किसी से कह तो सकता नहीं क्योंकि ऐसा

करना अनुचित समझा जाता है। ऐसे भाव और व्यवहार करने वाले को हीन-वृत्ति तथा दोषी माना जाता है। इसी कारण वह भीतर ही भीतर निराशाग्नि से उत्पन्न एक प्रकार की भाफ से ऐसा छटपटाया करता है कि उसका अंतःकरण चीत्कार कर उठता है। इस चीत्कार तथा तिलमिलाहट के कारण उससे रुका नहीं जाता और उससे जिस प्रकार भी बनता है स्त्री को अपनी ओर आकर्षित करने का यत्न किया करता है। पुरुष इस प्रकार का व्यवहार करने लगता है कि स्त्री किसी प्रकार प्रसन्न होजाए। इस प्रकार का यत्न करते-करते उसका समय बीतने लगता है। यह अवस्था पुरुष के यौवन की होती है। इस अवस्था में काम-पिपासा तीव्र होजाती है। पुरुष का मन उसके अपने वश में नहीं रहता। वह उचित-अनुचित मार्ग से उस ओर प्रवृत्त होने लगता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि और मन का तीव्र संघर्ष चल पड़ता है। बुद्धि की प्रबलता हुई, तो मन को कुछ नियंत्रण में कर लिया जाता है। यदि मन या मनोवेग की प्रबलता हुई तो वह सद्विचारों की उपेक्षा कर, उन्हें उल्लंघन करके इन्द्रियों के द्वारा मनमाना कर्म करवा लेता है। जिसका परिणाम चाहे भी जो कुछ हो। उस समय उसे कुछ चिन्ता नहीं रहती। पीछे चाहे उसे फूट-फूटकर रोना पड़े, चाहे कितना भी पश्चात्ताप करना पड़े। मन अपने वेग में धर्म-[illegible], न्याय-अन्याय और उचित-अनुचित आदि बातों को भी [illegible] देखता। वह पुरुष या स्त्री को काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त

कर ही देता है। इस गंभीर परिस्थिति को जानकर पुरुष मन के अनियंत्रित होने पर उसको वश मे करने का यत्न करता है। उसमें बुद्धि और मन का संघर्ष चल पड़ता है। उस संघर्ष में जब मनुष्य को अपने यत्न की सफलता मे निराशा होती है, तो वह मूक रूप से कराह उठता है। जिस चीख को वह स्वयं ही अनुभव करता है। जिसको उसके अतिरिक्त अन्य कोई जान नहीं सकता। जब कभी वह-चीख उग्र रूप धारण कर लेती है या मनुष्य उसके कारण अपनी सुधबुध खो वैठता है, तो वह इन्द्रियों के द्वारा अन्य लोगों को भी प्रकट हो जाती है। अन्य लोगों मे से कोई असहानुभूतिशील होता है और कोई सहानुभूतिशील। असहानुभूतिशील-व्यक्ति उसकी हँसी उड़ाते हैं, अनेक प्रकार से उसे हानि पहुँचाने का यत्न करते हैं और सहानुभूतिशील व्यक्ति उसे अनेक प्रकार से सान्त्वना देते हैं, उसकी सद्बुद्धि जागृत करते है और सफलता का मार्ग बतलाते है। परन्तु उसे अपनी वास्तविक तथा स्थायी सफलता के लिये उसे ही स्वयं निरंतर और दृढ़ प्रयत्न करना पड़ेगा। उसे अपने को अपनी बुद्धि के द्वारा सद्विचार करने के लिये, शंकाओं या प्रश्नों का समाधान करने के लिये इतना दृढ़ करना पड़ेगा कि वारंवार मनोवेग से पछाड़ खा खाकर भी अपने कार्य को न छोडे। सद्विचार करने के लिये, शंका या प्रश्नों का सामाधान करने के लिये युक्त तथा सत्य-मार्ग की आवश्यकता है। इसके बिना मनुष्य कभी सफलता को प्राप्त नहीं हो सकता। वह अपने मन

को कभी वश में नहीं कर सकता। अपने को सफल बनाने के लिये अब युक्त या सत्यमार्ग या विधि का वर्णन किया जाएगा, जिस पर साधक चलकर या उनका पालन करके काम-क्रीड़ा के विषय में मन को नियंत्रण में कर सके।

---

१ अनुभव की दृष्टि से—

अब साधक को विचार करना चाहिए और साथ ही अनुभव भी करके देखना चाहिए कि मैथुन-क्रीड़ा में क्या सुख है···? क्या आनन्द है··?

(१. स्त्री या काम-क्रीड़ा में मन के स्फुरण के द्वारा ही आनन्दानुभव का होना)—

साधक को यह अनुभव करना चाहिए कि तू जो कहता है कि स्त्री सुखरूप है···आनन्दरूप है··, उसके साथ काम-क्रीड़ा करना सुखरूप है·· आनन्दरूप है तो बता—

मैथुन करने से क्या सुख है··? क्या आनन्द है ?

उत्तर—कुछ अनुभव नहीं।

चुम्बन करने में क्या सुख है·· ? क्या आनन्द है · ?

उत्तर—कुछ अनुभव नहीं।

स्त्री से लिपटकर सोने में क्या सुख है ? क्या आनन्द है···?

उत्तर—कुछ अनुभव नहीं।

जबकि तेरे को स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा के करने के

सुख का कुछ अनुभव नहीं, तो तू कैसे कहता है कि स्त्री सुखरूप है···? आनन्दरूप है···? तूने केवल काम क्रीड़ा करते हुओं को देखकर, उस सम्बन्धी बातें सुनकर अथवा पढ़कर जान लिया है कि स्त्री सुखरूप है, आनन्दरूप है और उसके साथ काम-क्रीड़ा करना सुखरूप है, आनन्दरूप है। देखने, सुनने और पढ़ने से तेरे मनमें स्त्री तथा काम-क्रीड़ा के विषय में सुख के··· आनन्द के···संस्कार होगये है। उनके होने ही से सुखका-आनन्द का स्फुरण होने लगा। ज्यों-ज्यों वह स्फुरण होने लगा, त्यों त्यों सुख-आनन्द होने लगा। उसके देनेवाला कौन हुआ···? केवल मन···या केवल संस्कार का स्फुरण···परन्तु प्रतीत होने लगा स्त्री और उसके साथ काम-क्रीड़ा करने में। उस समय मन ने यह मान लिया अथवा वह ऐसा चिन्तन करने लगा कि स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने में सुख है···आनन्द है···। बस, उसे सुख-आनन्द होने लगा।

मन का यह स्वभाव है कि जैसा उसे स्फुरण होता है, वैसा ही उसे (व्यक्ति को) भासने लगता है। जब पुरुष स्त्री में आनन्द की भावना करता है, तो वह उसे आनन्द देनेवाली बन जाती है। वह उसे आनन्द स्वरूप भासने लगती है। यदि पुरुष उसमें दुःख की भावना कर ले; तो वह दुःख रूप भासने लगे, दुःख रूप प्रतीत होने लगे और दुःख देनेवाली बन जाए। मेनका अप्सरा है पहले, तो विश्वामित्र को सुख की भावना होती है, तो वह उन्हें सुख रूप भासने लगती है, सुख देने

लगता है। पश्चात् उन्हें उसके प्रति (उसमें) दुःख की भावना होती है, तो वह विश्वामित्र को दुःख रूप प्रतीत होने लगती है और दुःख देनेवाली बन जाती है। यहाँ मेनका अप्सरा एक है। जब उसके प्रति विश्वामित्र को आनन्द का स्फुरण हुआ, तो आनन्द और जब दुःख का स्फुरण हुआ, तो दुःख होने लगा। देनेवाला कौन हुआ ? मन का स्फुरण। पर भासता है किसमें ? मेनका अप्सरा (स्त्री) में।

(२. भोगने पर ही आनन्द के अनुभव का होना)—

जब पुरुष स्त्री को भोगेगा, तभी उसे आनन्द की प्राप्ति और उसका अनुभव होगा—अन्यथा नहीं। जबकि किसी पुरुष ने किसी स्त्री को भोगा ही नहीं, तो उसे उसमें आनन्द होने का क्या मालूम ? स्त्री में सुख भी हो सकता है और दुःख भी आनन्द भी हो सकता है और व्याकुलता भी। स्त्री के मुख के चुम्बन में सुख भी हो सकता है और दुःख भी, आनन्द भी हो सकता है और व्याकुलता भी। उसके गोल-गोल सेव के समान ऊँचे उठे हुए स्तनों में अमृत भी भरा हो सकता है और विष भी। इसी प्रकार मैथुन में भी दोनों पदार्थ हो सकते हैं। पर पुरुष उसमें आनन्द की कल्पना कर लेता है। बस, उसे आनन्द होने लगता है। उस आनन्द का देनेवाला कौन है ? मन या कल्पना। पर, भासता है किसमें ? स्त्री और उसके अङ्गों में।

(३. मन के स्फुरण होने के द्वारा सुख-दुःख होने का अन्य उदाहरणों से समर्थन)—

स्त्री में सुख-आनन्द की प्रतीति मन के स्फुरण से होती है। इसको सिद्ध करने के पश्चात् अब आगे भूतादि के उदाहरण देकर इस बात को सिद्ध किया जाएगा कि स्त्री के अतिरिक्त अन्य विषयों मे भी सुख-दु.ख का देनेवाला मन का स्फुरण ही है। परन्तु भासने उसमें लगता है, जिसमें अभ्यास कर लिया जाता है। इन उदाहरणों से हमारे मुख्य विषय का भी समर्थन होता है। इसलिये अब भूतादि के उदाहरण देकर अपने विषय को और स्पष्ट कर लेते हैं।

—(उदाहरण स्वरूप, भूत-प्रेत और देवी-देवता आदि)—

अनेक मनुष्य यह समझते है कि भूत, प्रेत, सैयद, भूतनी और प्रेतनी आदि दु:ख देते है—भयानक कष्ट देते हैं। उनका आकार-प्रकार भी भयानक है। परन्तु जब हम ध्यान लगाकर विचार कर अनुभव करके देखते हैं, तो न-तो उनके आकार-प्रकार का ही कुछ ज्ञान होता है और न-हि उनके द्वारा उत्पन्न होनेवाले दु.ख का ही कुछ अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु किन्हीं व्यक्तियों से सुन और ग्रंथों में पढ़ लिया है कि भूत आदि हैं और वे भयानक कष्ट देते हैं। इस सुन तथा पढ़ लेने से हमारे मन में भूत आदि सम्बन्धी संस्कार हो गये और वे

स्फुरण हो-होकर दु ख देने लगे। जब भी कभी अंधेरे से युक्त सुनसान खंडहर स्थान होता है अथवा नगर या ग्राम से वाहर या भीतर कोई वृक्ष होता है नो भूतादि सम्बधी संस्कार फुरने लगते है। उस स्फुरण के साथ ही साथ उनकी प्रतीति और दु ख का अनुभव भी होने लगता है। इस भूतादि की प्रतीति और उनके द्वारा उत्पन्न होनेवाले दु ख को कौन देता है ? क्या भूत प्रेतादि ? नहीं । वे तो अभी मिले ही नहीं । जबकि वे अभी मिले ही नहीं, तो न तो उनके कुछ आकार प्रकार का ही कुछ ज्ञान हो सकता है और न-हि वे कुछ दु ख ही दे सकते हैं। तो फिर दु'ख का देनेवाला कौन हुआ ? इसके उत्तर में कहा जाएगा कि मन या उसका स्फुरण । क्योंकि उस समय भूत-प्रेत आदि तो होते नहीं, परन्तु मन या उसका स्फुरण अवश्य होता है। इसलिये कहा जा सकता है कि भूत आदि और उनसे उत्पन्न होनेवाले दु.ख की प्रतीति का कारण केवल मन या उसका स्फुरण ही है। यदि भूत-प्रेत आदि के सम्बन्ध मे सुख-आनन्द का भाव किया जाए, तो उनके सम्बन्ध मे वैसा ही मन का स्फुरण होने लगे और उनसे सुख-आनन्द होने लगे। परन्तु ऐसा नही होता है, इसका कारण यह है कि भूत-प्रेतादि के सम्बन्ध मे सुख-आनन्द का अभ्यास या स्फुरण नहीं किया गया है। अत. कहा जा सकता है कि जैसा-जैसा मन का स्फुरण होता है, उसी के अनुसार ही वस्तु की प्रतीति और सुख-दु ख होने लगता है—परन्तु

भासता है उसी वस्तु मे, जिसमें सम्बन्ध तथा अभ्यास कर लिया होता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि मे एक और उदाहरण देता हूँ —

मनुष्यों को देवी-देवताओं के आकार प्रकार और रूप-रंग बड़े प्रिय तथा सुन्दर लगते हैं और उनको अत्यन्त आनन्द भी होता है। अब विचार करके देखा जाए कि मनुष्यों को उनके आकार-प्रकार तथा रूप-रंग आदि का क्या मालूम, जबकि उन्होंने देखा ही नहीं ·· ? उनके द्वारा दिये जानेवाले सुख-आनन्द का भी क्या ज्ञान है—जबकि उन्होंने दिया ही नहीं · ? परन्तु मनुष्य उनके रूप को सौन्दर्य तथा आनन्द से पूर्ण जानते है और उनके अस्तित्व का विश्वास करके आनन्द से पूर्ण हो जाते है। इस अस्तित्व का विश्वास तथा आनन्द का देनेवाला कौन है·· ? क्या देवी-देवता··· ? नहीं ··। क्योंकि वे तो उस समय होते ही नही, फिर विश्वास और आनन्द कैसा·· ? उस समय तो केवल मन का स्फुरण ही होता है। बस, कहा जा सकता है कि उससे ही देवी-देवता का विश्वास और आनन्द होता है परन्तु देवी-देवताओं से सम्बन्ध तथा अभ्यास कर लेने से, उनमें भासने लगता है। अतः कहा जा सकता है कि देवी-देवताओं से जो सुख-आनन्द होता है, वह मन का स्फुरण ही देता है परन्तु भासने देवी-देवताओं मे लगता है। जबकि मन का स्फुरण ही आनन्द देता है, तो यदि देवी-देवताओं मे दुःख का सम्बन्ध-अभ्यास कर लिया जाएगा, तो उनसे दुःख

होने लगेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसका कारण यही है कि उनमें दुःख का सम्बन्ध तथा अभ्यास नहीं किया है।

उपरोक्त भूत-प्रेत और देवी-देवताओं आदि के सम्बन्ध से विवेचना से ज्ञात होता है कि जैसा-जैसा मन का स्फुरण होता है, वैसा-वैसा ही अस्तित्व भासने लगता है और दुःख-सुख होने लगता है। परन्तु भासता उसी वस्तु में है, जिसमें सम्बन्ध तथा अभ्यास कर लिया जाता है। किन्तु उसकी पृथक प्रतीति नहीं होती। इसका कारण यह है कि मन का स्फुरण इन्द्रियों के द्वारा अपने विषयों में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसका अस्तित्व पृथक प्रतीत नहीं होता।

जिस प्रकार देवी-देवताओं और भूत-प्रेतादि के विषय में उनके सुख दुख आदि का कुछ ज्ञान नहीं और न ही वे देते हैं परन्तु उनमें मन के स्फुरण से भासने लगता है। इसी प्रकार स्त्री के विषय में भी उसके द्वारा होनेवाले सुख-आनन्द का कुछ ज्ञान नहीं है, परन्तु मन के स्फुरण से उसमें भासने लगता है। यदि भूतादि के समान स्त्री में भी दुःख-व्याकुलता का स्फुरण कर लिया जाय, तो, वह भी भूत आदि के समान दुःख रूप भासने लगे और उसे प्राप्त करने की इच्छा कभी न हो। परन्तु स्त्री में दुःख के स्फुरण का अभ्यास किया नहीं है, इसलिये वह दुःख रूप नहीं भासती। किन्तु जब भी कभी किंचित भी उसके प्रति दुःख की भावना की गई है, तभी, वह दुःख रूप दीखने लगी है और त्यागी गई है। अतः मनुष्य चाहे जिस प्रकार

की भावना स्त्री के प्रति कर सकता है। यह उसकी इच्छा के आधीन है। पुरुष जिस प्रकार की भावना बनाएगा, उसी के अनुसार वह उसे दिखाई देगी और उसी के अनुसार ग्रहण-त्याग की जाएगी।

पुरुष को स्त्री मे जिस सुख आनन्द की प्रतीति होती है, वह उसको उसके मन का स्फुरण ही देता है। इस विषय की सिद्धि इन्द्रियों के द्वारा प्रतिबिम्ब पड़ने पर अनुभव से की है। अब आगे अपनी सिद्धि का समर्थन 'सकल्प रचना' की दृष्टि से करेंगे।

---

३. संकल्प-रचना की दृष्टि से—

स्त्री मे सुख-आनन्द का विषय ऐसा है कि जब तक उस पर विभिन्न प्रकार से स्पष्ट निर्णय नहीं कर लिया जाए, तब तक दृढ़ निश्चय नही होता। जबतक दृढ़ निश्चय नहीं होता, तबतक अपने उद्देश्य मे सफलता मिलनी भी सन्देह ग्रस्त रहती है। अत. अपने दृढ़ निश्चय के लिए दूसरी प्रकार से अपने निश्चय का समर्थन करना है कि पुरुष को स्त्री मे जो सुख-आनन्द होता है, वह उसके मन का स्फुरण ही देता है, स्त्री नहीं।

(१. संकल्परचना का अर्थ)—

संकल्प रचना का अर्थ यह है कि मनुष्य के एकान्त के समय में उसके द्वारा मन ही मन (अंत करण मे) जो कुछ चिन्तन किया जाए या सोचा जाए। इसको मानसिक जगत भी कहा जाता है।

(९. संकल्प रचना में आनन्द का देनेवाला मन का स्फुरण ही है)—

संकल्प रचना का अर्थ जानने के उपरांत साधक को यह विचार तथा अनुभव करना चाहिए कि संकल्प-रचना या मन में जब किसी स्त्री के विषय में चिंतन करता हूँ सोचता हूँ या उसके साथ काम-क्रीड़ा करता हूँ, तो उस समय मुझे जो सुख आनन्द होता है—वह कौन देता है···? क्या स्त्री और उसके भोग···? नहीं नहीं···। वे नहीं देते। वहाँ केवल मन की रचना होती है, मन के अतिरिक्त और-कुछ नहीं। वहाँ न स्त्री होती है और न उसके साथ काम-क्रीड़ा। जब वहाँ केवल संकल्प रचना या मन ही होता है तो वे ही सुख तथा आनन्द देते हैं, स्त्री और उसके भोग नहीं। परन्तु इस भेद को जाने बिना पुरुष को सुख तथा आनन्द की प्रतीति स्त्री और उसके साथ काम क्रीड़ा करने में ही होती है।

मानसिक रचना में जो संकल्प या मन के स्फुरण होते हैं, वे ही इन्द्रियों पर आकर वास्तविक जगत में भासने लगते हैं। मानसिक या संकल्प रचना में पुरुष ने स्त्री और उसके साथ काम-क्रीड़ा करने में सुख तथा आनन्द के स्फुरण का सम्बन्ध और अभ्यास कर लिया है या हो गया है। जब पुरुषकी इन्द्रियों के सन्मुख स्त्री आती है, तो वह उसे आनन्दरूप प्रतीत होने लगती है। पुरुष अपने अतृप्त नेत्रों के द्वारा उसे देख कर तृप्त

होने लगता है और कर्ण द्वारा उसके शब्द सुनकर मधुरता का अनुभव करने लगता है। पर इस तृप्ति तथा मधुरता का देने वाला कौन है···? मन ··उसकी स्फुरणा···संकल्प-रचना ··। क्योंकि उसने अपने मनमें—स्त्रीके रूप-रंग में और उसके शब्दो मे--अमृत की आनन्द की, कल्पना करली है। वस, वही कल्पना इन्द्रियों पर आकर स्त्री के रूप-रंग तथा शब्दों आदि मे भासती है और उस समय पुरुप को अमृत भोग के समान आनन्द होने लगता है। ज्यों-ज्यो स्त्री और उसके शब्दादि विपय उसके सन्मुख होते जाते है, त्यों-त्यों पुरुष को अधिकाधिक आनन्द होने लगता है क्योंकि उस पुरुप के आनन्द के मानसिक स्फुरण बढ़ते चले जाते हैं। किंतु इस भेद को जाने विना वह स्त्री ही मे सुख तथा आनन्द जानता है। इसका परिणाम यह होता है कि जब स्त्री नहीं मिलती, तो वह व्याकुल हो उठता है। उसके लिये संसार सूना हो जाता है। संसार में उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। वह-विरही उसे प्रत्येक उपाय से पाने का चिन्तन तथा यत्न करने लगता है। जब कभी वह अल्पकालके लिये भी मिल जाती है, तो उसे परम सन्तोप होता है। वास्तव में देखा जाए तो, उसे न स्त्री के मिलने में आनन्द होता है। और न उसके पृथक् रहने या विछुड़ने में व्याकुलता। पुरुप ने केवल स्त्री के मिलने मे आनन्द और विछुड़ने में व्याकुलताका मनमे अभ्यास कर लिया है। वस, जैसी-जैसी मिलने तथा विछुड़ने की अवस्था इन्द्रियों के सामने आती जाती है, वैसा वैसा ही उसे अभ्यास

के अनुसार स्फुरण होने लगता है और जैसा-जैसा मन का स्फुरण होने लगता है, उसी के अनुसार मनुष्य को सुख-दुख तथा आनन्द-व्याकुलता का अनुभव होने लगता है।

वास्तविक जगत और मानसिक जगत का स्फुरण एक है—

ऊपर वास्तविक जगत (अनुभव की दृष्टि में) और मानसिक जगत का वर्णन कर आया हूं। अब दोनों जगतों की एकता पर विचार कर लेते हैं।

वास्तविक जगत के मन का स्फुरण और मानसिक जगत के मन का स्फुरण एक है, भिन्न-भिन्न नहीं है। जब वास्तविक जगत इन्द्रियों के सम्मुख होता है तो उसका प्रतिबिम्ब मन पर पड़ता है और वह मानसिक जगत में स्फुरण होता है। जो मानसिक जगत में स्फुरण होता है, वह इन्द्रियों पर आकर बाह्य जगत में भासने लगता है। वह स्फुरण सन्देह, भ्रम और यथार्थ-निश्चय आदिरूप से अनेक प्रकार का होता है। उस मानसिक स्फुरण में किसी वस्तुकी आकृति, गुण, क्रिया और फल आदिका निश्चय करना भी होता है। उस स्फुरण में किसको ग्रहण, किसको त्याग और किस से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इत्यादि सब प्रकार के निश्चय होते हैं। वे स्फुरण रूप निश्चय, युक्त हो या अयुक्त, वास्तविक जगत में भासने लगते हैं। मनुष्य को ने निश्चय के अनुसार ही वास्तविक जगत में सुख-दुख का

भान होने लगता है। इससे सिद्ध होता है कि वास्तविक जगत और मानसिक जगत के मन का स्फुरण एक है।

जब कि मानसिक जगत और वास्तविक जगत के मन का स्फुरण एक है तो, जैसा भी मानसिक जगत मे स्फुरण कर लिया जायगा, उसी के अनुसार वास्तविक जगत में भासने लगेगा। मानसिक जगत या संकल्प रचना में स्त्री और उसके कामोपभोग के प्रति सुख-आनन्द का स्फुरण कर लिया गया है। बस, पुरुप के सामने जब स्त्री आती है, तो उसमे स्त्री के प्रति सुख-आनन्द का स्फुरण होने लगता है और उसे उसी के अनुसार अनुभूति होने लगती है, परन्तु पुरुपको आनन्द की प्रतीति स्त्री मे होती है। यदि पुरुप, संकल्प रचना मे स्त्री के प्रति दु ख ही दु ख होने लगे और उसे ऐसा प्रतीत होने लगे कि मुझे स्त्री दुःख दे रही है और वह कभी भी स्त्री की प्राप्ति की इच्छा न करे।

---

२. स्वप्न रचना की दृष्टि से—

अब तक हमने स्त्री मे सुख के भान होने का अनुभव की दृष्टि से और संकल्प-रचना की दृष्टि से विचार किया है। अब स्वप्न-रचना की दृष्टि से उस पर विचार करेगे कि स्वप्न में स्त्री से जो सुख-आनन्द होता है, उसे कौन देता है?

(१. स्वप्न जगत का अर्थ)

निन्द्रा के अंतर्गत या सोते हुये मनुष्यको जो जग

देता है, वह स्वप्न कहलाता है। इसको स्वप्न-जगत या स्वप्न-रचना भी कह सकते है।

(२. स्वप्न में भी मनका स्फुरण ही सुख-आनन्द देता है)—

जिस प्रकार हमे वास्तविक-जगत सत्य दिखाई देता है और उसके अस्तित्व मे विश्वास होता है, उसी प्रकार स्वप्न-जगत भी। जिस समय हम स्वप्न-जगत में किसी स्त्री को देखते हैं, तो वह बड़ी प्रिय लगती है। उससे बोलने तथा व्यवहार करने मे बड़ा आनन्द आता है और जब उससे काम-क्रीड़ा करते हैं, तो परमानन्द की प्रतीति होती है। अब यह देखना चाहिये कि उस समय जो सुख-आनन्द होता है, उसे कौन देता है ? स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा ? नहीं। उस समय न तो स्त्री होती है और न-हि काम-क्रीड़ा। फिर वे देती कहाँ से ? उस समय तो केवल मन का स्फुरण होता है। जब कि स्वप्न-जगत मे केवल मन का ही स्फुरण होता है, तो कहा जा सकता है कि वही सुख तथा आनन्द देता है। परन्तु वास्तविक ज्ञान न होने के कारण सोते हुये पुरुष को प्रतीत होता है, स्त्री और उसके साथ काम-क्रीडा करने मे।

वास्तविक जगत, मानसिक जगत और स्वप्न जगत के मन के स्फुरण में अभिन्नता—

स्वप्न जगत मे मन का जो स्फुरण होता है, वही जागृत अवस्था मे उस (मन) का चिन्तन हो जाता है। जब कोई पुरुष

वप्न से जागता है, तो वह सोचता कि मैंने अमुक स्वप्न रात मे देखा था जो वास्तविक जगतके प्रतिदिन के व्यवहार में पाया जाता है, अर्थात् मै अमुक व्यक्ति के साथ जो व्यवहार प्रतिदिन करता हूँ, उसी का मुझे रात में स्वप्न आया था। यही चिन्तन उसकी इन्द्रियों पर आकर स्थिर होता है। जब स्वप्न से सम्बन्धित या अपना कोई प्रिय व्यक्ति मिलता है, तो वह उसे स्वप्न की सारी गाथा सुना देता है। इन बातों से सिद्ध हो जाता है कि स्वप्न जगत, मानसिक जगत (संकल्प रचना) और वास्तविक जगत (भौतिक जगत) के मन के स्फुरण मे कोई भेद नहीं है।

उक्त तीनों जगत के स्फुरण में भिन्नता—

उपरोक्त तीनों जगतों के मनके स्फुरण में भेद केवल इतना ही है कि वास्तविक जगत के मन के स्फुरण का कुछ ज्ञान नहीं होता। मानसिक जगत मे उसका रूप धुंधला सा होता है किन्तु स्वप्न जगत में उसका रूप स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

वास्तविक जगत, मानसिक जगत और स्वप्न जगत के मन के स्फुरण पर विचार करने के उपरांत इस सत्यता पर पहुँचे कि—भासना धर्म मन का है, न-कि वास्तविक जगत का। जैसा-जैसा मन का स्फुरण होता है वैसा-वैसा ही वास्तविक जगत, मानसिक जगत और स्वप्न जगत मे भासता

है, दिखाई देता है। किसी भी कारण से स्त्री के प्रति सुख तथा आनन्द का स्फुरण मन में हो गया है। बस, मनुष्य को उसमें सुख तथा आनन्द भासने लगता है। वह उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। यदि पुरुष के मन में किसी भी प्रकार से स्त्री के प्रति दुःख का स्फुरण हो जाए, तो वह उसे दुःखरूप भासने लगेगी और पुरुष को उसकी प्राप्ति की इच्छा कभी भी न होगी। ऐसा अनेकबार देखा भी जाता है कि जब जब स्त्री में दुःख की भावना होती है, तब तब वह दुःखरूप भासने लगती है और उसे ग्रहण करने की इच्छा कभी नहीं होती। इसके उदाहरण में हम दुष्यंत-शकुन्तला, विश्वामित्र-मेनका अप्सरा और तुलसीदास-रत्नावली को ले सकते है। यदि हम इसका उदाहरण प्रतिदिन के व्यवहार में देखा चाहे तो वे भी बहुत मिल सकते हैं, थोड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है।

---

४. व्यवहार की दृष्टि से—

(व्यवहार में भी आनन्द का देनेवाला मन का स्फुरण ही है)—

अब तक हमने स्त्री में सुख आनन्द होने का निर्णय अनुभव की दृष्टि से, संकल्प रचना की दृष्टि से और स्वप्न जगत की दृष्टि से किया है। अब आगे उस पर व्यवहार की दृष्टि से

विचार करना है क्योंकि जबतक उक्त निर्णयों से व्यवहार जगत का निर्णय नहीं मिल जाता तब तक हमे कभी, किसी समय, किंचित या अधिक अपने निश्चय मे सन्देह हो सकता है। पर जब व्यावहारिक जगत का निर्णय उपरोक्त तीनों निर्णयों से मिल जाएगा तो सन्देह करने का कोई स्थान ही नही रहता। अत. अब व्यवहार दृष्टि से निर्णय करने की आवश्यकता है कि स्त्री मे जो सुख-आनन्द होता है, वह कौन देता है...?

व्यवहार मे भी देखा जाता है कि जैसा-जैसा मन का स्फुरण होता है, वैसा-वैसा ही सुख दुःख होने लगता है और भासता उस वस्तु मे है, जिसमे कि मनुष्य ने अभ्यास कर लिया है। बालकपन मे लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ खेलते हैं। उस समय लड़के के मन मे लड़की के साथ काम-क्रीडा करने की इच्छा नहीं होती। लड़का उस समय अनेक नवयौवन से प्रफुल्लित स्त्रियों में भी रहता है, परन्तु उसकी उनके साथ संभोग करने की कभी इच्छा नहीं होती और न हि वे उस समय काम-क्रीड़ा की दृष्टि से प्रिय लगती हैं या न-हि वे उस समय काम-क्रीड़ा की दृष्टि से आनन्ददायक ही होती हैं, जैसी कि वे उसे यौवनावस्था में प्रतीत होती इसका कारण क्या है...? विचार करने से ज्ञान होता बालपन में पुरुष में स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा उत्पन्नहोनेवाले सुख तथा आनन्दके भाव उत्पन्न पश्चात उसमें स्त्री और उसके साथ

उत्पन्न होने वाले सुख तथा आनन्द के भाव उत्पन्न हो कर परिपक्व होने लगे। ज्यों-ज्यों वे भाव बढ़ने लगे, त्यों-त्यों उसे स्त्री मे सुख-आनन्द भासने लगा। विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि यदि स्त्री और उसके अगों मे विशेष सुख-आनन्द होता, तो बालपन मे भी होता। परन्तु उस समय नही हुआ, इससे सिद्ध होता है कि स्त्री मे सुख-आनन्द नहीं है और न-हि वह देती है। वह केवल उसमे भाव दृढ़ होने ही मे भासने लगा है। एक उदाहरण और लीजिये। कोई नव-यौवन से सम्पन्न स्त्री है। जब पुरुष यह जानता है कि उसका मेरे प्रति प्रेम है, तब तो उसका भी स्त्री के प्रति प्रेम हो जाता है और वह उसे सुख-आनन्द रूप भासने लगती है। जब पुरुष यह जानने लगता है कि वह मेरे विरोध में है तो उसका पूर्व-प्रेम—विरोध, द्वेष और दुःख रूप में परिणत हो जाता है। उस समय उसे स्त्री दुःखरूप भासने लगती है। दोनो पक्षों को देख लेने पर अब विचार करना चाहिए कि क्या स्त्री पुरुष को सुख या दुःख देती है ? नही। जो स्त्री पहले थी वही पीछे भी होती है, तो सुख दुःख का देने वाला कौन हुआ ? केवल मन का स्फुरण क्योंकि उसी मे ही परिवर्तन आया है, स्त्री में नहीं। पहले पुरुष का मन सुख-आनन्द का चिन्तन करने लगा, तो उसे सुख-आनन्द होने लगा और पीछे दुःख का चिन्तन करने लगा, तो उसे दुःख होने लगा। उसे देनेवाला कौन

हुआ ?मन...पर भासता है किसमे ?स्त्री मे...। एक तीसरा उदाहरण और देकर इस क्रम को समाप्त करता हूँ। कोई पुरुष दूर से अपनी ओर आ रहा है। उसे जब स्त्री रूप जाना तो वह सुख आनन्द रूप भासने लगा। जब वह निकट आया तो भ्रम दूर हुआ और साथ ही सुख-आनन्द की प्रतीति या अनुभव होना भी जाता रहा अथवा सुख-आनन्द होने से रह गया। इस उदाहरण पर विचार करके देखा जाए कि पुरुष को जो सुख-आनन्द हुआ, उसका देने वाला कौन हुआ..?क्या वह स्त्री थी, जिससे पहले आनन्द हुआ..? नहीं..। वह पुरुष ही था, जिससे आनन्द की प्रतीति हुई परन्तु उसे भ्रम से स्त्री जान लिया था। स्त्री जानने से मन में सुख-आनन्द का स्फुरण होने लगा। जबतक वह स्फुरण रहा, तबतक सुख-आनंद रहा और जब स्त्री सम्बन्धी भ्रम दूर हो गया, तो स्त्री सम्बन्धी सुख-आनन्द का भी स्फुरण न रहा। और जब स्त्री सम्बन्धी आनन्द का स्फुरण न रहा, तो सुख-आनन्द होने से भी रह गया। अत: व्यवहार से भी सिद्ध होता है कि पुरुष को स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने की सभावना मे जो सुख-आनन्द होता है, वह मन का स्फुरण ही देता है, स्त्री नहीं। उसमें तो केवल सम्बन्ध और अभ्यास करने से भासने लगता है।

तीसरे अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस तीसरे अध्याय मे यह विचार किया गया है कि स्त्री या

उसके साथ काम-क्रीडा करने में जिस सुख-आनन्द का अनुभव होता है उसे कौन देता है ? इस विषय पर हमने अनेक प्रकार से विचार तथा अनुभव किया है। हमने अनुभव की दृष्टि से, मानसिक चिन्तन की दृष्टि से, स्वप्न जगत और व्यवहार की दृष्टि से विचार और अनुभव किया। इन विभिन्न प्रकार के विचारों और अनुभवों से सिद्ध होता है कि स्त्री मे जिस सुख-आनन्द की प्राप्ति का अनुभव होता है, वह केवल मन का स्फुरण होता है और वही सुख-आनन्द को देता है, स्त्री नहीं। उसमे केवल सुख-आनन्द का सम्बन्ध तथा अभ्यास करने से भासने लगता है। यदि पुरुष स्त्री मे से सुख-आनन्द का भाव हटा दे तो उसे स्त्री से सुख-आनन्द होने से रह जाएगा। यदि पुरुष स्त्री में दुःख के भाव का सम्बन्ध तथा अभ्यास करले तो वह उसे दुःखरूप प्रतीत होने लगेगी, दुःख देने वाली बन जाएगी। परन्तु हमने स्त्री में दुःख के भाव का सम्बन्ध-अभ्यास नहीं किया है इसलिये वह हमे दुःख रूप नहीं भासती। परन्तु हम दुःख का भाव कर सकते हैं क्योंकि मनुष्य जैसा भाव या मन का स्फुरण बनाना चाहे, बना सकता है। यह उसके आधीन है। यदि विधि से इसका परिवर्तन किया जाए तो कुछ भी कष्ट तथा समय नही लगता। तिनके के उठाने में भी समय तथा शक्ति की आवश्यकता होती है, परन्तु मन के परिवर्तन करने में नहीं, मन को वश में करने में नहीं। यदि अविधि से इसका परिवर्तन किया जाए या इसे वश मे किया जाए, तो यह कभी

भी नियंत्रण में नहीं आ सकता या परिवर्तित नहीं होता। अत. मनको नियंत्रण या वश में करने के लिये मनुष्य को विधि के अनुसार ही यत्न करना चाहिए।

(कर्मयोग)—

यह तीसरा अध्याय कर्मयोग से महत्वपूर्ण सम्बन्ध रखता है क्योंकि इसमें कर्मयोग का यह सिद्धान्त वर्णन किया गया है कि जैसा-जैसा मनका स्फुरण होता है वैसा-वैसा ही मनुष्य को. ससार में भासता है। मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार उस स्फुरण का परिवर्तन भी कर सकता है। इस अध्याय के अध्ययन से कर्मयोगी को यह विश्वास हो जाता है। साथ ही इस विषय का भी निश्चय किया गया है कि वास्तविक, मानसिक और स्वप्न जगत का स्फुरण एक है। और उसमे जो मिलता है. वह भी दिखला दी गई है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के तीसरे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

तीसरा अध्याय समाप्त

शुभम्

चौथा अध्याय

स्त्री में एकाकी दुःख या निरपेक्षता का भाव नहीं कर सकते—

तीसरे अध्याय में मैं यह वर्णन कर आया हूँ कि जैसा-जैसा मन का स्फुरण होता है, उसी के अनुसार मनुष्य को भासता है और उसी के अनुसार सुख-दु ख होता है। यह स्फुरण मनुष्य के आधीन है। वह जिस प्रकार का और जितने परिमाण में करना चाहे, कर सकता है। पुरुष को स्त्रीमें जिस सुख-आनन्द की प्रतीति होती है या उससे आनन्द होता है, वह उसे उसके मन का स्फुरण ही देता है। यदि पुरुष दु'ख के स्फुरण का अभ्यास करले, तो उसे स्त्री दु ख देनेवाली बन जाए और यदि वह निरपेक्षता का अभ्यास करले, तो उसे सुख-दु.ख कुछ भी न हो। यह सिद्धान्त सत्य है। परन्तु मानलिया जाए कि यदि हम स्त्री में दु'ख का या निरपेक्षता का भाव कर लेते हैं तो—एक तो वह दु ख देनेवाला बन जाएगी और दूसरे यदि उसमे सुख-आनन्द हुआ तो हम उससे वंचित हो जायगे, जो अवांछनीय है। अत हम स्त्री के प्रति एकाकी दु ख का या निरपेक्षता का भाव नहीं कर सकते।

ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी प्रेरणा से स्त्री की ओर आकर्षण—

हम देखते हैं कि समस्त ससार स्त्री और उसके साथ काम-

क्रीड़ा करने में सुखका, आनन्द का अनुभव करता है। उसको प्राप्त करने के लिये अनेक कष्ट झेलता है, अनाचार और अत्याचार करता है। वह सदाचारी, बलवान और विद्वान् बनता है कि किसी प्रकार स्त्री का सुख-आनन्द मिले। यदि कोई व्यक्ति आरंभ में इस उद्देश्य से यत्न करता दिखाई नहीं देता है, तो-भी, अंत में जाकर इसी उद्देश्य की ओर प्रवृत्त होता दिखाई देता है। प्रयोजन यह है कि मनुष्य ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी प्रकार की प्रेरणा से इस ओर आकर्षित हो ही जाता है। जबकि संसार का झुकाव इसी को प्राप्त करने से है, तो मैं भी क्यों न इसी को प्राप्त करने में यत्न करूँ···? ऐसी इच्छा प्रत्येक मनुष्य को होती है। इस इच्छा के होने ही से वह उस ओर, यह जानते हुये भी कि स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने में सुख-आनन्द का देनेवाला मन का स्फुरण ही है, प्रवृत्त होजाता है।

१. सुखरूप जानकर प्रवृत्त न होना—

पुरुष स्त्रीको सुखरूप जानकर उसकी ओर आकर्षित होजाता है। वह जहाँ भी उसे पाता है, वहाँ ही उसे पानेकी इच्छा करता है, यत्न करता है। वह चाहता है कि—चोरी से, अचोरी से, अनाचार से, सदाचार से या अत्याचार से—किसी भी प्रकार से हो, वह प्राप्त हो जाए। परन्तु जब वह नहीं प्राप्त होती, तो पुरुष मन मसोसकर रह जाता है। वह निस्तब्ध होकर अवाक् होजाता है और उसकी दयनीय अवस्था बन

जाती है। उसे स्त्री या उसके साथ काम क्रीडा करने का सुख आनन्द तो प्राप्त होता नहीं, हाँ, उसके शरीर का सत (वीर्य) का स्राव अवश्य होजाता है। उसका मन किसी भी काम मे नहीं लगता। वह दिन-रात उसी को प्राप्त करने की चिन्ता मे लगा रहता है। यदि वह किसी काम को करता भी है, तो उसका मन उखडा-पुखडा रहता है और भली प्रकार से अपने कार्य का सम्पादन नहीं कर पाता। इस प्रकार जब वह बारबार स्त्री को पाने का यत्न करता है और बारबार असफल होता है, तो वह विचार करता है कि मैं इस ओर प्रवृत्त न होऊ—फिर भी प्रवृत्त हो ही जाता हूँ क्योंकि मुझे आनन्द प्राप्त करने की इच्छा है। किन्तु वह केवल इच्छा करने ही से प्राप्त न होगी। उसकी प्राप्ति के लिये कर्म करना पड़ेगा। यह जानकर मैं कर्म भी करता हूँ। फिर सोचता हूँ कि वह क्यों-नहीं प्राप्त होती..? एकाग्र ध्यान करके देखता हूँ, तो ज्ञात होता है कि जबतक विधि मे सब प्रकार के कर्म न करूगा, तबतक वह प्राप्त न होगी। इसलिये जबतक कर्मों की पूर्ति न हो तब तक उसकी प्राप्ति और उसके साथ काम-क्रीड़ा करने की इच्छा करना व्यर्थ है, व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, इस सहित सब प्रकार के सुखों को व्यर्थ क्षीण-नष्ट करना है। अत कर्मों की पूर्ति हुये बिना, स्त्री को सुख आनन्द रूप जानकर, प्रवृत्त न होना।

२. समीप जानकर प्रवृत्त न होना—

साधक आगे विचार करता है कि मैं स्त्री को समीप जानकर

उसको प्राप्त करने के लिये लालायित होजाता हूँ और साथ ही संभव हुआ, तो उसे पाने का यत्न भी करता हूँ। परन्तु ऐसे करने से वह प्राप्त नहीं होती क्योंकि निकट होना भी एक प्रकार की पूर्ति ही है। इस एक प्रकार की पूर्ति होने से अन्य सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति नहीं हो जाती। जब तक अन्य सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति न हो, तबतक समीप होने ही से प्राप्ति जान चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है—व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, अन्य सब प्रकार के सुखों को भी व्यर्थ क्षीण और नष्ट करना है। सब प्रकार के सुखों को क्षीण-नष्ट होने से बचाने के लिये, जबतक सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति न हो जाए तबतक केवल समीप होने ही से काम-क्रीड़ा की प्राप्ति जान चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना।

२. एकान्त जानकर प्रवृत्त न होना—

साधक आगे बढ़ता हुआ विचार करता है कि मैं एकान्त जानकर स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ। मैं यह समझने लगता हूँ कि उसे पाने का यह सुवर्ण अवसर है। इसी कारण उसे अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कुछ-कुछ चेष्टा भी करने लगता हूँ और कोई-कोई इस प्रकार के शब्द बोलता हूँ, जो काम-क्रीड़ा की ओर आकर्षित करनेवाले होते हैं। यदि कभी मैं चेष्टा आदि नहीं भी करता हूँ, तो-भी,

उथल-पुथल मच जाती है कि मेरे हृदय-मानस में समतलता नहीं आने पाती। वरन् मैं अशांत कामाग्नि को स्पर्श करके व्याकुल हो उठता हूँ। क्योंकि यह जानता हूँ कि एकान्त ही में यह क्रीड़ा हुआ करती है, जिससे अत्यधिक आनन्द होता है। जिससे मैं वंचित होना नहीं चाहता। परन्तु एकान्त होने ही से यह क्रीड़ा प्राप्त न होगी क्योंकि यदि एकान्त होने ही से यह क्रीड़ा प्राप्त होनी होती, तो अवश्य प्राप्त होती। परन्तु अनेक बार ऐसा होता है कि एकान्त होता है किन्तु स्त्री से काम-क्रीड़ा प्राप्त नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि एकान्त होने ही से काम-क्रीड़ा का प्राप्त होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि एकान्त होना भी एक प्रकार के कर्म की पूर्ति ही है। अत इस एक प्रकार के कर्म की पूर्ति होनेही से अन्य सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति नही हो जाएगी। जबतक अन्य सब प्रकार के कर्मो का पूर्ति न होगी। तबतक एकात होने ही से प्राप्ति कभी न होगी। अत अन्य सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति हुए बिना, केवल एकान्त होने ही से, प्राप्ति जान चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, अन्य सब प्रकार के सुखो को भी व्यर्थ क्षीण और नष्ट करना है। सब प्रकार के सुखों को व्यर्थ क्षीण-नष्टता से बचाने के लिये, जबतक सब प्रकार के कर्मो की परिमाण में [illegible]ति न हो तबतक 'केवल एकांत' होने ही से काम-क्रीड़ा की [illegible]प्ति जान चिन्तन-चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना।

४. स्त्री के भाव या इच्छा होने से प्रवृत्त न होना—

पुरुष जब यह जानता है कि अमुक स्त्री का मेरी ओर झुकाव है या उसकी मुझ से मैथुन करने की इच्छा है, तो उस समय उसके मन की विचित्र अवस्था हो जाती है। चाहे उस स्त्री का झुकाव अन्य किसी ही कारण से हो। उस समय वह प्रेमाग्नि में ऐसा तप उठता है कि उसे उससे मिले, बोले और देखे विना चैन नही होता। वह उसे देखकर, उससे बोल तथा मिलकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। पर उसे उस परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती, जो उस अलौकिक आनन्द के मूल में छिपा हुआ है। अर्थात् जो मैथुन-क्रीड़ा मे छिपा हुआ है। वह समझता है कि स्त्री में इच्छा होने ही से मैथुनानन्द की प्राप्ति होगी। पर भाव या इच्छा का होना भी एक प्रकार के कर्म के पूर्ति ही है। इस एक प्रकार के कर्म की पूर्ति होने से सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति न हो जाएगी। जबतक अन्य सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति न हो, तबत[illegible] केवल भाव होने ही से प्राप्ति न होगी। अन्य सब प्रकार के [illegible] की पूर्तियों में भी जबतक परिमाण में पूर्ति न होगी, तब[illegible]क भी काम-क्रीड़ा की प्राप्ति न होगी। अतः भाव होने ही से प्राप्ति [illegible] चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। [illegible] अन्य सब प्रकार के सुखों और आनन्दों को भी [illegible] करना है। इसलिये अन्य विना सब प्रकार [illegible]

भाव होने ही से मैथुनादि के लिये इच्छा और यत्न न करना। वह भाव चाहे कितना भी अधिक क्यो न हो ?

५. जानकारी होने से प्रवृत्त न होना---

जानकारी का अर्थ है जान लेना, प्राप्ति होना नहीं। जबकि जानकारी का अर्थ जान लेना है, किसी वस्तु का प्राप्त होना नहीं है. तो जानकारी होने से किसी स्त्री को जाना ही जाएगा कि उसमे क्या गुण है? क्या क्रिया है और उससे क्या फल मिलेगा ? पर उसकी प्राप्ति न होगी। क्योंकि उसकी प्राप्ति तो अन्य सब प्रकार के कर्मो की पूर्ति होने ही से होगी, केवल जानकारी होने से नही। जानकारी का होना भी एक प्रकार के कर्म की पूर्ति ही है। अत. जानकारी होने ही से प्राप्ति ज्ञान चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, इस सहित अन्य सब प्रकार के सुखों को भी नष्ट और क्षीण करना है। अत. अन्य सब प्रकार के कर्मो की पूर्ति हुये बिना केवल जानकारी होने ही से काम-क्रीड़ा की प्राप्ति ज्ञान चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना।

ज्ञान वृद्धि के लिये जानकारी के विषय मे कुछ विस्तार के साथ उसे जान लिया जाए तो अच्छा है।

जानकारी क्या है ?

-(जानकारी का अर्थ—)

जानकारी का अर्थ है कि किसी वस्तु की आकृति, गुण,

क्रिया, योग और फल आदि को जान लेना—न-कि किसी वस्तु का प्राप्त होना या करना।

--(भाव का अर्थ)—जानकारी (ज्ञानकारी) में इन्द्रियों—आँख, कान और नाक आदि—के सामने जो-जो उनके विषय आते है, उन्हीं को जाना जाता है और उन्हीं का मन पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। और वह प्रतिबिम्ब वहां स्थिर होकर स्फुरणे पर भाव कहलाने लगता है। यही स्फुरण रूप भाव इन्द्रियों के द्वारा विषयों को पहचानता है। यह पहचानना ही जानकारी कहलाता है कि किस वस्तु का क्या आकार है? उसमे क्या गुण है? उसमे किस प्रकार की क्रिया है? उस गुण तथा क्रिया का अन्य गुणों और क्रियाओं से किस प्रकार से, किस प्रकार का योग होता है? और उससे किस प्रकार का फल निकलता है? एवं उसका क्या परिमाण है?

जानकारी मे इन्द्रियों के सामने उनके विषय आते है, जो प्रतिबिंबित होकर मन (अन्तःकरण) मे स्थिर हो जाते है। जो स्फुरण होकर उस व्यक्ति को भासते रहते है, जिसमें वे स्फुरण होते है। वह व्यक्ति उन स्फुरणों में से अनुकूल और आवश्यक स्फुरणों को छॉट लेता है। फिर छटे हुये वे स्फुरण इन्द्रियों पर आकर कर्म करने लगते हैं। इन्द्रियां क्रियाशील हो जाती है। अन्य व्यक्ति उन क्रियाशील इन्द्रियों से जान लेता है कि उस व्यक्ति के क्या भाव हैं और वह क्या प्राप्त करना

चाहता है ? यदि वह व्यक्ति धोखा-नहीं देना चाहता है, तो उसके उद्देश्य का ज्ञान कर लेना कठिन नहीं है।—

--(भावों के दो भेद)—ये भाव भी दो प्रकार के हैं (१) यत्नज और (२) अयत्नज। यत्नज भावों की चेष्टाओं पर व्यक्ति का अधिकार होता है और अयत्नज (स्वाभाविक) भावों की चेष्टाओं पर नहीं।

ज्ञानकारी में किसी विषय की आकृति, गुण और क्रिया आदि का जान लेना ही होता है—उनमें परिवर्तन करना नहीं। परिवर्तन, कोई मनुष्य कर भी नहीं सकता।—

--(मनुष्य की शक्ति)—मनुष्य केवल निश्चय करके केवल दो वस्तुओं, दो गुणों और दो क्रियाओं का योग ही कर सकता है। उस योग से जो फल निकलनेवाला होता है, वही निकलता है। उसमें मनुष्य कुछ परिवर्तन नहीं कर सकता। वह केवल निश्चय करके योग कर सकता है।—

--(वैज्ञानिक की शक्ति)—अनेक लोग कहते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि-क्रम में परिवर्तन कर सकते हैं। उनके कारण ईश्वर या अदृश्यशक्ति का अस्तित्व लोप होता जा रहा है या हो गया है। पर वास्तव में देखा जाए, तो न-तो आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि-क्रम में ही परिवर्तन कर सकते हैं और न वे ईश्वर या अदृश्यशक्ति का ही लोप कर सकते हैं। जितना उन्हें

अधिकार मिला हुआ है, उतना ही कर सकते है और वह अधिकार यह है कि—केवल निश्चय करके योग करना, परिवर्तन करना नहीं।—

–(निश्चय और कर्म का व्यापार)—यह अधिकार मनुष्यों को पहले भी था और आज भी है, कोई नई बात नहीं है। शरीर में पॉच ज्ञानेद्रियें है। (१) कर्ण, (२) त्वचा, (३) नेत्र, (४) रसना और (५) नासिका। इनके विषय भी पृथक्-पृथक है, परन्तु इनके पृथक्-पृथक् प्रतिबिंब या ज्ञान एक ही स्थान पर पड़ते हैं और अंतर्शक्ति उनका निश्चय करती है। फिर वह अंतर्शक्ति कर्म कराने के लिये निश्चित ज्ञानों (विषयों) को उनकी इन्द्रियों को सौप देती है। तत्पश्चात् इन्द्रियां अपना-अपना कर्म करने लगती है। बस, सृष्टि मे यही निश्चय और कर्म का व्यापार चलता है। इससे अधिक कुछ नही।

६. सुख रहित, दुःखी, व्याकुल, जीवित रहने या मरने आदि का चिन्तन करके प्रवृत्त न होना—

पुरुष चिन्तन करता है कि मैं स्त्री और उसके साथ काम-क्रीड़ा करने के सुख-आनन्द से रहित हूँ; उसके बिना दुःखी तथा व्याकुल हूँ। उसके बिना मेरा जीवन अशांत रहता है, किसी काम मे मन नहीं लगता। अतः मुझे स्त्री तथा उसके साथ काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द मिलना चाहिए। इस प्रकार चिन्तन करते-करते वह आगे विचार करता है कि मै

बारम्बार चिन्तन तथा यत्न करता हूँ, परन्तु प्रत्येक वार असफल होता हूँ। जब इस असफलता का कारण सोचता हूँ तो ज्ञात होता है कि तू चाहे जितना अधिक सुख रहित रहे, चाहे जितना अधिक दु:खी हो और चाहे जितना अधिक व्याकुल हो, परन्तु वह प्राप्त न होगी। उसकी प्राप्ति के लिये तो विधि से सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति करने की आवश्यकता है। जब तक वह न होगी, तब तक उसकी प्राप्ति न होगी।—

——इसके साथ ही मै यह भी चिन्तन करता हूँ कि अभी तो मैं जीवित हूँ, स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द भोग सकता हूँ। यदि मैं मर जाऊंगा तो इस आनन्द को कौन भोगेगा ? जो संसार का सबसे अधिक सुख-आनन्द है। मैं इसके विना ही संसार से विदा हो जाऊंगा, तो संसार में मेरा आना व्यर्थ होगा। यदि जीते-जी मुझे स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द मिल जाए, तो मेरा जीवन सार्थक हो जाए। परन्तु मेरा यह समस्त चिन्तन व्यर्थ है, क्योंकि कर्मों की पूर्ति के विना वह प्राप्त न होगी। यदि कर्मों की पूर्ति होती रहे, तो वह सदा प्राप्त होती रहेगी। यदि वह न हो तो स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द भी कभी प्राप्त न होगा। अत कर्मों की पूर्ति के विना चिन्तन, चेष्टा इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, इस सहित सम्पूर्ण सुखों को क्षीण और नष्ट करना है। अत समस्त प्रकार के

कर्मों की पूर्ति हुये बिना स्त्री या काम क्रीड़ा को प्राप्त करने का चिन्तन और यत्न न करना; चाहे तू कितना भी अधिक सुख रहित हो, दुःखी हो, व्याकुल हो, जी-चाहे मर।

७. दूसरों को भोग-भोगते देखकर प्रवृत्त न होना---

पुरुष किसी अन्य पुरुष को स्त्री-भोग भोगते देखकर स्वय भी भोगने की इच्छा करता है यत्न करता है। परन्तु सब अपने-अपने प्रारब्ध, पुरुषार्थ और पूर्ति ही से भोगते है। इस सिद्धान्तानुसार किसी दूसरे को काम-क्रीड़ा प्राप्त होने से, किसी अन्य को वह प्राप्त न हो जाएगी। दूसरे सब के कर्म और उनकी पूर्ति की विधियाँ पृथक् पृथक् हैं। अतः कोई भी पुरुष किसी की देखा-देखी न कर्म कर सकता है और न पूर्ति ही। यदि मैं दूसरे की देखा देखी कर्म करूंगा, तो परिणाम यह होगा कि मुझे वह स्त्री सुख तो प्राप्त होगा नहीं; हां, अन्य सब प्रकार के सुख-आनन्द अवश्य क्षीण तथा नष्ट कर लूंगा। इस क्षीण तथा नष्टता से बचने के लिये, मुझे चाहिए कि दूसरे की देखा-देखी कर्म न करूँ। अपने कर्म और उसकी विधियाँ ही देखता हुआ कर्मपूर्ति करूँ, क्योंकि मुझे इसी मार्ग से स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द प्राप्त हो सकता है।

८. पूर्वानुसार भोग (काम-क्रीड़ा) प्राप्त होना जानकर प्रवृत्त न होना—

पुरुष विचारता है कि मैं यह समझता हूँ कि अमुक स्त्री

या उसके भोग पहले प्राप्त थे, वे अब भी प्राप्त होंगे। पर ऐसा नहीं है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है जो वस्तु पहले प्राप्त हो वह पीछे भी प्राप्त हो जाए। जैसे हिटलर का जर्मनी पहले बहुत शक्तिशाली और विजयी था। पीछे जब समय ने पलटा खाया तो वह बहुत चाहता और प्रयत्न करता था कि मैं पूर्ववत् हो जाऊँ। पर वह न हो सका। इंगलैंड जब संकट में से निकल रहा था और जर्मनी उस पर भूत की भाँति छा रहा था, उस समय वह चाह रहा था कि हमारा देश पूर्ववत् स्वतन्त्र बना रहे और ऐसा ही हुआ। परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है कि जो वस्तु या अवस्था पहले प्राप्त थी, वह पीछे भी प्राप्त हो यदि कोई मनुष्य यह नियम ही समझले कि जो वस्तु मुझे पहले प्राप्त थी, वह अब भी प्राप्त हो जाएगी; भूल है। वह प्राप्त हो-हो, न-भी हो। जो वस्तु पहले प्राप्त हो और पीछे भी प्राप्त हो जाए तो इसका कारण यह नहीं है कि पहले प्राप्त थी इस कारण पीछे भी प्राप्त हुई। जैसे इंगलैंड का देश लड़ाई से पहले भी स्वतन्त्र था और पीछे स्वतन्त्र भी रहा। इनका कारण यही है कि उसने विधि में सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति की। हिटलर इस पूर्ति को न कर सका, इसी कारण वह जर्मनीको पूर्ववत न बना पाया। इसी प्रकार यदि मैं चिन्तन करने लगूँ कि मुझे जो स्त्री और उसके भोग पहले प्राप्त थे, वे अब भी अवश्य प्राप्त होंगे; भूल है। यदि उनके लिये विधि में सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति न हुई, तो वे पीछे कभी प्राप्त न होंगे—चाहे वे पहले

प्राप्त होते रहे हों। अत. पूर्वानुसार काम-क्रीड़ा प्राप्त होना जानकर बिना पूर्ति हुये स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा का चिन्तन करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, इस सहित सम्पूर्ण सुख व्यर्थ क्षीण और नष्ट करना है। अतः जब तक विधि में सब प्रकार के कर्मों की परिमाण मे पूर्ति न हो, तब तक पूर्वानुसार स्त्री और उसके साथ काम क्रीड़ा करने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न कभी न करना।

९. अपनेस जानकर प्रवृत्त न होना

पुरुष अनेक बार ऐसा समझा करता है कि अमुक स्त्री का मुझ से अपनेस या अपनापन है। ऐसा समझ कर वह उसकी ओर झुक जाता है। इसके विषय मे कुछ आगे कहे, उससे पहले 'अपनेस' के अर्थ को जान लेना चाहिए।

(अपनेस का अर्थ)—

अनुकूलता का नाम अपनेस या अपनापन है।

यह अनुकूलता अपने-अपने स्वार्थों के कारण होती है। जब तक स्वार्थ लाभ होता रहता है या संभावना रहती है, तब तक अनुकूलता रहती है और जब स्वार्थ-लाभ नहीं रहता या उसकी संभावना नहीं होती, तो अनुकूलता या अपनेस नहीं रहता। जब स्वार्थ में हानि होती है या उसकी संभावना होती है, तो प्रतिकूलता या विरुद्धता हो जाती है। इस कारण किसी व्यक्ति में अपनेस-भाव स्वाभाविकरूप में मानना भूल है। हाँ, जितनी-

जितनी सिद्धान्त की अनुकूलता होगी, उतना-उतना अपनेस स्थायी होगा पर स्वाभाविक नहीं।

अत किसी स्त्री से अपनेस स्वाभाविक मानकर प्रवृत्त होना निरी मूर्खता है क्योंकि अपनेस होना भी एक प्रकार की पूर्ति ही है। इस एक प्रकार के कर्मों की पूर्ति होने से अन्य सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति न हो जाएगी। जब तक अन्य सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति न होगी, तब तक स्त्री या उसके साथ काम क्रीडा करने का सुख भी प्राप्त न होगा। बिना पूर्ति हुये वह तो प्राप्त होगा नहीं, हाँ, अन्य सब प्रकार के सुख-आनन्द अवश्य क्षीण-नष्ट हो जाएगे। क्योंकि एक तो वीर्य का क्षय होगा, जिससे शारीरिक निर्बलता आजायेगी। इसके साथ-साथ मानसिक निर्बलता भी आ जाएगी। दूसरे अनावश्यक कर्म होंगे, जिससे आवश्यक कर्म करने में रुकावट होगी। तीसरे विपरीत कर्म होने पर अपनेसित स्त्री शत्रु बन जाएगी और वह हानि तथा दु:ख पहुँचाने लगेगी। अत: अन्य सब प्रकार के कर्मों को अपूर्ति होने और केवल एक प्रकार के कर्म 'अपनेस' की पूर्ति होने ही से कभी भी स्त्री और उसके कामोपभोग प्राप्त करने की इच्छा-यत्न न करना।

१०. कुटुम्बी जानकर प्रवृत्त न होना—

पुरुष को अनेक बार ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अमुक स्त्री मेरे कुटुम्ब की है, इसलिये मैं उसे प्राप्त कर सकूँगा अथवा

उसके साथ काम-क्रीड़ा करके सुख-आनन्दका लाभ उठा सकूँगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि कुटुम्ब एक प्रकार का बन्धन है। उसमें नियम का पालन किया जाता है। यदि उस नियम के अनुकूल कर्मों की पूर्ती की जाए तब तो पूर्ती होने पर काम-क्रीड़ा की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। यदि उन नियमों का उल्लंघन करके अर्थात् असत्कर्मोंमें पूर्ति की जाएगी, तो संभवतः किसी प्रकार पूर्ति होने पर स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख मिल जाए। परन्तु पुरुष को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अनेक प्रकार से हानियाँ उठानी पड़ेंगी। यदि इस प्रकार में पूर्ति करते समय वह अपूर्ण रही, तो स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द तो मिलेगा नहीं, वरन् अनेक प्रकार के दुःख अवश्य प्राप्त होंगे। साथ ही अपने कुकर्मों पर घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अतः विधि में सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति हुये बिना, केवल कुटुम्ब की स्त्री जानकर, उसे पाने या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने के आनन्द को प्राप्त करने का चिन्तन, चेष्टा इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, उस सहित सम्पूर्ण सुखों और आनन्दोंको भी व्यर्थ नष्ट करना है। इसलिये सब प्रकारके कर्मों की पूर्ति हुये बिना, केवल कुटुम्ब की स्त्री जानकर, उसकी प्राप्ति की और उसके साथ काम-क्रीड़ा करके सुख-आनन्द प्राप्त करने का कभी चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना।

ऊपर अभी कह आए हैं कि "कुटुम्ब एक प्रकारका बन्धन है।" यदि इसे कुछ विस्तारके साथ जान लिया जाए तो अच्छा है—

कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या और क्यों है ?

मनुष्य के सामने कुटुम्ब के सम्बन्ध का ऐसा रहस्य बना हुआ है कि वह उसे सरलतासे जान नहीं सकता। यदि वह किसी समय इसके भेद की वास्तविकता को कुछ जान लेता है, तो दूसरे समय ऐसा घटना-चक्र होता है कि, उसमे मनुष्य सन्देह और भ्रम में पड जाता है और उसके सामने कुटुम्ब का भेद (रहस्य) ज्यो का त्यों बन जाता है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, अर्थात् उसे सत्य कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। इस अज्ञानतामें ज्ञात नहीं कि वह क्या-क्या कर्म कर जाता है। जिसका दुष्परिणाम स्वयं उसको, कुटुम्बियों को और समाज को भोगना पडता है। अत कुटुम्ब के सम्बन्ध के विषय मे सत्य-ज्ञान की आवश्यकता है कि वास्तव में कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या है? और उसके होनेका कारण क्या है ? इसके ज्ञानके लिये इस विषय पर प्रकाश पडने की आवश्यकता है। इसलिये अब इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है।

"कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या और क्यों है ? " इस शीर्षक के अन्तर्गत दो अंश हैं। हम प्रथम अंश पर पहले प्रकाश पड़ना आवश्यक समझते हैं। इसलिये पहले "कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या है " इसी अंश को लेते हैं।

कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या है ? —

(मूल रूप से)—

—(१. जन्म से पहले सम्बन्ध की अनस्तित्वता)—

"कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या है" इसका अर्थ पहले मूलरूप जान लेते हैं, जहाँ से सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है। जब तक

संसार में शरीर की उत्पत्ति नहीं होती या जीव का संसार में जन्म नही होता, तबतक सम्बन्ध का अस्तित्व नहीं होता। जब ससार मे जीव या शरीर का अस्तित्व हो जाता है, तभी से उसका अन्य जीवों या शरीरों से सम्बन्ध स्थापित होने लगता है।

—(२. जन्म के पश्चात् कौटम्बिक सम्बन्ध का स्थापन)— मनुष्य भी एक प्रकार के शरीर का जीव है। जब वह संसार मे जन्म लेता है, तो उसका भी अन्य मनुष्यों से सम्बन्ध हो जाता है। वह जिसके गर्भसे उत्पन्न होता है, उसका पुत्र या पुत्री होता है और जिसके वीर्य से होता है, उसका भी पुत्र या पुत्री होता है। गर्भ धारण करनेवाली और उस गर्भ को उत्पन्न करने में सहायक वीर्यदान करने वाला, उस उत्पन्न होनेवाली सन्तान की माता और पिता होते हैं। इन माता और पिताके भी संबन्धी होते हैं। जो माता-पिता, भाई-बहिन, ताऊ-चाचा आदि नाम से प्रसिद्ध होते है। जो उत्पन्न होने वाली सन्तान के सम्बन्धी किसी-न-किसी नाम से हो जाते हैं। वे अपने-अपने सम्बन्ध के अनुसार उक्त सन्तान का लालन-पालन करते हैं और साथ ही जीवन भर उसकी सहायता करते है। इसी प्रकार सन्तान भी सामर्थ्यवान होकर जीवन भर उनकी सेवा या सहायता किया करती हैं।—

(कौटम्बिक सम्बन्ध का अर्थ), इस प्रकार जीवन भर सम्बन्ध के अनुसार परस्पर सहायता करने को कौटम्बिक सम्बन्ध कहा जाता है। जो जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत रहता

है। पुनर्जन्म या परलोक मानने वाले तो मृत्यु के उपरांत भी अनेक देहियों का सम्बन्ध मानते हैं।

—(३. कौटुम्बिक सम्बन्धियों की शरीर, भाव, सुख-दुख और कर्म आदि से पृथकता)—कुटुम्ब के सब सदस्यों के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। उनके जन्म-मृत्यु पृथक्-पृथक् होते हैं, ह्रास-वृद्धि पृथक्-पृथक् होती हैं और निरोग-रोगता भी पृथक्-पृथक् होता है। उनके भाव पृथक्-पृथक् होते हैं। उन भावों में जो सुख-दु:ख होता है, वे भी पृथक्-पृथक् होते हैं और वे पृथक्-पृथक् ही भासते हैं। अर्थात् अपने-अपने भाव होते हैं और उन भावों में जो-जो सुख-दु:ख होता है, वे भी अपने-अपने ही होते है। कुटुम्ब के सब सदस्य पृथक्-पृथक् कर्म करते हैं और उसके अनुसार ही वे अपने-अपने कर्म-फल के भोक्ता होते हैं।—

—(४. कौटुम्बिक सम्बन्ध मनुष्य कृत बांधनिक है)—अत: शारीरिक दृष्टि से, भाव या मानसिक दृष्टि से, कार्मिक दृष्टि से और उनके फल सुख-दु:ख भोक्ता की दृष्टि से कुटुम्ब के सब सदस्य पृथक्-पृथक् हैं। इन दृष्टियों से घर या कुटुम्ब के सदस्यों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। जैसे कुटुम्बी, वैसे ही अन्य लोग। उक्त चारों दृष्टियों से अन्य लोगों और घर के सदस्यों में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। इन चारों प्रकारों से अतिरिक्त संसार में और प्रकार है ही क्या?

अतः इस मूल रूप से विचार करने पर सिद्ध होता है कि कुटुम्बी लोगों में जो सम्बन्ध ज्ञात होता है वह स्वाभाविक, प्रकृतिकृत या ईश्वरकृत नहीं है—मनुष्यकृत है। जो सम्बन्ध मनुष्यकृत होता है, वह बांधनिक होता है। इसलिये मौलिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि कुटुम्ब के सदस्यों का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, मनुष्यकृत बांधनिक है।

(व्यवहार दृष्टि से)—

अभी हम घरके या कुटुम्ब के सदस्यों के सम्बन्ध का मौलिक-रूप से विचार करके आये हैं कि उनका सम्बन्ध प्रकृतिकृत नहीं, मनुष्यकृत बांधनिक है। अब अपने निश्चय की पुष्टि के लिये व्यवहार दृष्टि से भी विचार कर लेना आवश्यक है।

-(१. बन्धन में दुःख और मृत्यु में डालना होने पर डाल देंगे)—जब कि कौटम्बिक सम्बन्ध मनुष्यकृत बांधनिक है तो उसमें यदि दुःख तथा मृत्यु में डालना हुआ तो कुटुम्बके व्यक्ति कुटुम्बी सदस्य को उनमें डाल देंगे। भूतकाल में ऐसा हुआ भी है और वर्तमान काल में भी ऐसा होता है। पौराणिक बात है कि गौतम मुनि ने पर-पुरुष के साथ गमन करने पर अपनी पत्नी अहल्या को पत्थर बना दिया था। बंधन ही के कारण मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र जी ने अपनी सती-साध्वी धर्मपत्नी महाराणी सीता को—लंकेश रावण के यहाँ विवशता से रहने पर भी धोबी के कहने पर—बनवास दे दिया था।

अभी कुछ वर्ष पहले 'बन्धन' में शिशुओं का विवाह कर देना श्रेष्ठ, धार्मिक और आवश्यक समझा जाता था। इसी कारण धार्मिक अंध विश्वासी लोग अपनी सन्तानों का बालावस्था में ही विवाह कर देते थे। चाहे उनका शारीरिक और मानसिक या लौकिक विकास रुककर, उनका जीवन दुःखात्मक ही क्यों न बन जाए? इस बात को घरवालों को चिन्ता नहीं होती थी। उन्हें तो केवल एक ही चिन्ता रहती थी कि कौटम्बिक नियमका पालन किया जाए। इसका कारण समाज का बन्धन था। अब भी बन्धन के कारण विधवा-विवाह नहीं होने पाता। यदि वह किसी पुरुषके साथ गमन करती है, तो उसे त्याग दिया जाता है अथवा उसके साथ भयानक व्यवहार किया जाता है। यदि किसी विधवा या कन्या के कोई सन्तान उत्पन्न हो जाती है, तो उसे त्याग दिया जाता है अथवा सन्तान को मृत्यु के मुखमें फेंक दिया जाता है। अब देखा जाए कि सन्तान का विधवा और उसके प्रेमीसे माता-पिता तथा पुत्र-पुत्री का कौटम्बिक सम्बन्ध नहीं है...? है...। परन्तु कुटुम्ब, समाज या लोक के भय और दण्ड से बचने के लिये अपनी सन्तान को मृत्यु के मुख में डाल देते हैं। क्योंकि इस प्रकार का सम्बन्ध घृणित और त्याज्य समझा जाता है। अत: व्यवहार के इस रूप से ज्ञात होता है कि, कौटम्बिक सम्बन्ध मनुष्यकृत बांधनिक है, ईश्वरकृत नहीं, जिसे कि लोग स्वाभाविक या ईश्वरकृत समझ लेते हैं।

(२. बन्धन के परिवर्तन से सम्बन्ध का परिवर्तन)

व्यवहार के दूसरे रूपसे भी विचारकर लेना चाहिए। यदि

कौटम्बिक सम्बन्ध मनुष्यकृत बांधनिक होगा, तो मनुष्य द्वारा बन्धन के परिवर्तन से सम्बन्ध मे भी परिवर्तन आ जाएगा और आता रहा है। शास्त्रों मे वर्णन आता है कि पहले जहाँ उच्च वर्ण का पुरुष, अपने से निम्न वर्णों की स्त्रियों से भी विवाह कर सकता था किन्तु आज नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्यकृत बन्धन में परिवर्तन आ गया है। जहाँ पहले स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध स्वयंवर द्वारा हुआ करते थे, वहाँ आज अन्य प्रकार से हुआ करते है क्योंकि मनुष्यकृत बन्धनका वह रूप आज नहीं है। जहां पहले बन्धन में विधवा-विवाह का घोर विरोध किया जाता था, वहाँ उसमे परिवर्तन आने से विरोध जाता रहा है अथवा उसमे मंदता आगई है। और तो क्या, अब तो बन्धन मे परिवर्तन होने के कारण अंतर्प्रांतीय और अंतर्जातीय विवाह भी होने लगे है—जिसका समाज तीव्र विरोध किया करता था आज वह मंद पड़ गया है। अतः हमारे पूर्व निश्चय का समर्थन हो जाता है कि कौटम्बिक सम्बन्ध मनुष्यकृत बांधनिक है, स्वाभाविक नहीं।

—(२. कौटम्बिक व्यवहार से भी सम्बन्ध, बन्धन है)— कुटुम्ब के सम्बन्ध के नित्य तथा नैमित्तिक व्यवहारों को देखने मे भी ज्ञात होता है कि उसके सदस्यों का सम्बन्ध मनुष्यकृत बांधनिक है, स्वाभाविक नहीं। देखिये, अन्य स्त्रियाँ तो पर पुरुष से पड्दा करती ही है परन्तु विवाहित-स्त्री भी अपने पति से पड्दा करती है। यह प्रथा बांधनिक नहीं, तो क्या है···?

वर्तमान काल में इस अंश में परिवर्तन आ गया है और आरहा है। यह भी बन्धन का ही कारण है। इस बन्धन ही के कारण बहू के रोग ग्रसित होने या इसी प्रकार उस पर अन्य आपत्ति आने पर सुसर तथा जेठ आदि उसकी प्रत्यक्ष रूप से भली प्रकार सहायता नहीं कर सकते। इसी प्रकार बहू भी उन पर संकट आने पर उनकी समुचित रूप में सहायता या सेवा नहीं कर सकती। यदि कुमार या कुमारी अपनी मनोवाञ्छित युवती या युवक से सम्बन्ध करना चाहे और कुटुम्बी या समाज के बन्धन के अनुकूल न हो तो उन्हें—अपने मनोवाञ्छित सुख-आनन्द को लात मारकर—अपने को दुख और मृत्यु की नदी में बहा देना पड़ता है। इसका कारण यही है कि बन्धन इसी प्रकार का है। उसके आगे मनुष्य विवश है। इस बन्धन ही के कारण मनुष्य अनेक अनाचार, अत्याचार और अपना बलिदान करके भी अपने कुटुम्बी जन की सहायता, लालन-पालन और सेवा किया करता है। जिस अत्याचार और बलिदान आदि का फल दहेज आदि के रूप में प्रकट होता है। अत. बन्धन के नियम को मनुष्य नत-मस्तक होकर स्वीकार करता है और उसी के अनुसार सम्बन्ध रहता है। अतः कुटुम्ब के नित्य-नैमित्तिक व्यवहार से भी हमारे किये हुए निश्चय की पुष्टि हो जाती है कि "कुटुम्ब का सम्बन्ध मनुष्यकृत बांधनिक है—ईश्वर, प्रकृति कृत या स्वाभाविक नहीं।"

—(आंशिक विचार)—हमने कौटम्बिक सम्बन्ध पर मूल ..., शास्त्रीय तथा वर्तमान-व्यावहारिक उदाहरणों द्वारा और

युक्तियों से विचार लिया है-जान लिया है कि वह स्वाभाविक नहीं, मनुष्यकृत बांधनिक है। यदि बन्धन में कुटुम्बीजन को दुःख या मृत्यु मे डालना हुआ, तो कुटुम्बी लोग उसे उसमें डाल देंगे। यदि सुख-आनन्द देना हुआ, तो वे अपना बलिदान करके भी उसे सुख-आनन्द देंगे। यदि बन्धन के नियमों में किसी प्रकार का और किसी परिमाण में परिवर्तन हुआ, तो उसी के अनुसार सम्बन्ध का भी परिवर्तन हो जाएगा और हो जाता है। अतः कुटुम्ब के सम्बन्ध को स्थायी जानना अथवा उस सम्बन्ध से यह मानना कि उससे सदा सुख और वांछित-वस्तु अवश्य मिलेगी, भ्रम है। सम्बन्ध को स्थायी बनाने के लिये और उससे किसी वस्तु को प्राप्त करने या सुख-आनन्द प्राप्त करने के लिये विधि में सब प्रकार के कर्मों की परिमाण मे पूर्ति करने की आवश्यकता है।

(अपने कर्मों को अपने ही आधीन रखना चाहिए), पूर्ति करने के लिये अपने पास सब प्रकार के कर्मों के सग्रह करने की आवश्यकता है। उनके संग्रह होने पर उन्हे अपने अधिकार में रखना चाहिए। उन्हें दूसरे के अधिकार मे रखने से एक तो आवश्यक समय मे उनके उपयोग मे रुकावट आ सकती है। दूसरे उसीके द्वारा हरण होने या उसकी उस प्रकार की इच्छा होने से—हम स्वयं उस कर्म से वंचित हो जाएंगे और वांछित-फल प्राप्त करने के लिये कर्म-पूर्ति न कर सकेंगे। तीसरे मनुष्य अपने कर्म या वस्तु की रक्षा स्वयं ही कर सकता है क्योंकि वह उसके

परिश्रम या जीवन से उत्पन्न हुआ है। इन्हीं कारणों से अपने न्र्मों को अपने ही आधीन रखना चाहिए।

अभीतक हमने "कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या है" इसी अंशको जाना है। अब आगे दूसरे अंश "कुटुम्ब का सम्बन्ध क्यों है" इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है।

"कुटुम्ब का सम्बन्ध क्यों है ?"—

हमने यह जान लिया है कि कुटुम्ब का सम्बन्ध मनुष्यकृत बान्धनिक है—प्रकृतिकृत स्वाभाविक या ईश्वरकृत नहीं। अब यह जानने की आवश्यकता है कि वह 'वंधन'। किस लिये हुआ है ? या यों कहना चाहिये कि 'कुटुम्ब का सम्बन्ध क्यों हुआ है ?' इस विषय को 'बन्धन' पर विशेष प्रकाश डालते हुये वर्णन करते है।

(बन्धन के दो प्रकार)—

बन्धन दो प्रकार का होता है। प्रकृतिकृत या ईश्वरकृत और जीवकृत।

—(प्रकृतिकृत और जीवकृत बन्धन का अर्थ)—प्रकृतिकृत, स्वभावकृत या ईश्वर कृत बन्धन में कोई भेद नहीं है। यह एक ही प्रकार का बन्धन या नियम है जिसको जीव परिवर्तन नहीं कर सकता और जो सृष्टि के आदि मे नियत हो गया है तथा सृष्टि पर्यंत रहेगा।

दूसरा बन्धन है जीवकृत। यह जीव के द्वारा परिवर्तित होता रहता है। जीवों मे भी मनुष्य-जीव सबसे अधिक ज्ञानवान

है। और यही हमारा विषय भी है। इसलिये उसीकृत बन्धन का वर्णन किया जाएगा।

(आनन्द जानने पर सम्बन्ध करने की इच्छा होना)—

मनुष्य सुख और आनन्द चाहता है। वह जिस-जिस वस्तु या जीव, गुण और क्रिया में सुख-आनन्द देखता है; उस-उसको ग्रहण करने या सम्बन्ध करने की इच्छा करता है। जिस-जिस साधन से वह प्राप्त होता दिखाई देता है, वह उस-उस साधन का अपनाता है-बनाता है। जब मनुष्य अपनी आवश्यकता को अन्य मनुष्य से पूरा हुआ जानता है, तो वह उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा करता है और वस्तु, गुण तथा क्रिया का आदान प्रदान करने लगता है—

—(सम्बन्धका अर्थ और उसके दो भेद)—यह आदान-प्रदानका व्यवहार ही सम्बन्ध कहलाता है। जो मनुष्यकृत है। यह सम्बन्ध भी दो प्रकारका होता है तात्कालिक और स्थायी।—

—(तात्कालिक और स्थायी सम्बन्ध)—तात्कालिक सम्बन्ध मे तो हाथ की हाथ वस्तु या सुख का लेन-देन होता है और स्थायी सम्बन्ध मे कालांतर मे भी वस्तु या सुख-आनन्द का आदान-प्रदान रहता है।—

—(कुटुम्बका सम्बन्ध क्यों है ?)—स्थायीमे भी कालांतरके भेद से अनेक भेद होते हैं। जिनमें सबसे अधिक स्थायी कुटुम्ब का सम्बन्ध माना जाता है। अर्थात् यों कहना चाहिये कि

मनुष्य अपनी वस्तु, गुण और क्रिया या सुख-आनन्द सब से अधिक कालांतर से भी अपने कुटुम्ब के सदस्यों को देता और लेता है। जो कुटुम्बीजन दूसरे की वस्तु आदि का अपहरण करता है या अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता। उसके प्रति अन्य कुटुम्बीजन विरुद्ध हो जाते हैं। उनके विरोध होने पर अपहरण कर्त्ता अपहरणको छोड़ देता है या कर्तव्य-पालन करने लगता है। यदि उसका व्यवहार ठीक न हुआ, तो या-तो अन्य कुटुम्बीजन उससे सम्बन्ध विच्छेद करलेते हैं अथवा उसे हानि पहुँचाने लगते हैं और अपनी सहायता के लिये अन्य प्रकार के स्थायी तथा अस्थायी सम्बन्धवालों से भी सहायता लेते हैं। उस समय अपहरणकर्त्ता-कुटुम्बीजन शत्रु बन जाता है और अन्य व्यक्ति मित्र बन जाते हैं। क्योंकि कुटुम्ब का सम्बन्ध इसलिये स्थापित किया गया था कि—

(कौटुम्बिक सम्बन्ध के स्थापन का कारण), समय-असमय, तत्काल या कालांतर में अपनी वस्तु, गुण और क्रिया या सुख-आनन्द देकर दूसरे कुटुम्बीजन की आवश्यकता पूरी करे। किंतु वह ऐसा नहीं करता है या अपहरण करता है।

यह सिद्धान्त ही सिद्धान्त नहीं है, वरन् व्यवहार में भी ऐसा होता है। इसके उदाहरण ग्रन्थों और वर्तमान कालके व्यवहारों पाये जाते हैं। श्रीकृष्ण कंसका भानजा होने पर भी उसका बन गया था। सुग्रीव और बाली दोनों भाई थे। परन्तु उन

दोनों ने परस्पर घातक युद्ध किया, क्योंकि बाली ने कौटम्बिक सम्बन्ध का पालन नहीं किया था। वरन् बाली अपहरण-कर्त्ता बन गया था। इन्हीं कारणों से सुग्रीव ने पृथक् कुटुम्बीजन को अपना सहायक तथा मित्र बनाया। इसी प्रकार कौरवों और पाण्डवों मे संहारक युद्ध हुआ। इस युद्ध का कारण यही था कि कौरवों ने पाण्डवों का राज्य अपहरण कर लिया था, अर्थात् उनके सुख आनन्दों का अपहरण कर लिया था अथवा वे अपना कर्तव्य पालत नहीं करते थे। इसी प्रकार हम वर्तमान काल के व्यवहारों में भी प्रतिदिन देखते है कि जब कोई कुटुम्बीजन अन्य कुटुम्बीजन की वस्तु या अधिकार का अपहरण करता है अथवा उसके प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता है तो पति-पत्नी का परस्पर, माता-पिता और पुत्र मे परस्पर, भाई-भाई का आपस में और अन्य कुटुम्बीजनों में विरोध होने लगता है। क्योंकि उनसे उन के स्वार्थों को हानि पहुँचती है, सुख-आनन्द की प्राप्ति में क्षति होती है। यदि वे एक-दूसरे से किसी कारणवश सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर सकते है, तो उस कौटम्बिक सम्बन्ध पर पश्चात्ताप करते हैं और चाहते है कि किसी प्रकार हमारा सम्बन्ध टूट जाए। और हम उस व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करलें, जिससे सुख-आनन्द प्राप्त हो। वह व्यक्ति चाहे कोई भी क्यों न हो ?

(आंशिक विचार)—उपरोक्त विचार धारा से सिद्ध होता है कि कुटुम्ब का सम्बन्ध स्वार्थ को पूरा करने के लिये

या सुख-आनन्द की प्राप्ति के लिये है। यदि वह प्राप्त होता है, तब तो उस सम्बन्ध को चाहा जाता है। यदि उसमें हानि होती है या कुटुम्बीजन अपना कर्तव्य पालन नहीं करता तो उस सम्बन्ध को तोड़कर मनुष्य अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध करना चाहता है। दूसरे सम्बन्ध इसलिये भी स्थापित किया जाता है कि किसी वस्तु, गुण और क्रिया के आदान प्रदान का व्यवहार कालांतर में भी सरलता से हो। यदि उसमें कठिनाई उपस्थित होती है तो मनुष्य उस सम्बन्ध को रखना नहीं चाहता। अत सुख-आनन्द की प्राप्ति के लिये और व्यवहार की सरलता के लिये कौटम्बिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

उक्त दोनों अंगों पर संक्षिप्त विचार—

हमने "कुटुम्ब का सम्बन्ध क्या और क्यों है" दोनों अशों पर विचार कर लिया है। उससे सिद्ध होता है कि कुटुम्ब का सम्बन्ध बांधनिक है, प्रकृतिकृत नहीं। वह बन्धन मनुष्यकृत है और उसका निर्माण कालांतर में भी सुख-आनन्द की प्राप्ति होने तथा व्यवहार की सरलता के लिये है। उक्त दोनो बातो में से यदि एक भी बात नहीं होती है, तो मनुष्य वर्तमान कौटम्बिक सम्बन्ध को नहीं रखना चाहता और शक्त्यानुसार उसको तोड़ना चाहता है। और उन अन्य

व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़ना चाहता है, जिनसे सुख-आनन्द प्राप्त होने और सरलता से व्यवहार होने की सम्भावना हो। वह अपनी इच्छा या यत्न मे सफल न हो, तो दूसरी बात है। इस बांधनिक सम्बन्ध मे महान् दुःख या मृत्यु मे डालना हुआ, तो कुटुम्बीजन अपने सदस्य को उसमें डालने से भी नहीं हिचकते। इस कौटम्बिक सम्बन्ध का परिवर्तन भी होता रहता है, क्योंकि मनुष्यकृत है। मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन करता रहता है परन्तु इसका परिवर्तन करना सरल कार्य नहीं है, और न-हि प्रत्येक व्यक्ति को इसके परिवर्तन करने के लिये अग्रसर होना चाहिए क्योंकि उन्हें सत्य और सम्यक् ज्ञान नहीं होता। सत्य सम्यक्दर्शी मिलना अत्यन्त कठिन है। इस कारण स्वभावत ही या परिस्थितिवश कौटम्बिक सम्बन्ध मे परिवर्तन होता रहता है। अपनी आवश्यकता या मनोवेग से प्रभावित होकर सत्य का असम्यक्-दर्शी होने पर भी मनुष्य कौटम्बिक सम्बन्ध मे परिवर्तन करता रहता है। उसका परिणाम अच्छा या बुरा चाहे जैसा भी हो, यह दूसरी बात है। इस प्रकार के परिवर्तन को देखकर सम्यक्दर्शी को सत्य का अन्वेषण भली प्रकार से करके कौटम्बिक सम्बन्ध का स्थापन करना चाहिए।

चौथे अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

हमने इस चौथे अध्याय के अध्ययन से जान लिया है कि स्त्री के सुख-आनन्दरूप होने, उसके समीप होने, एकान्त होने,

स्त्री के भाव या इच्छा होने, उससे जानकारी होने, सुख रहित या दुःखी होने काम-क्रीडा के बिना व्याकुल होने, जीवित रहने या मरने, पूर्व प्राप्त होने, अपनेस होने, दूसरो के भोगने और कुटुम्ब की स्त्री होने आदि का चिन्तन से स्त्री या काम-क्रीड़ाकी प्राप्ति न होगी क्योंकि ये पूर्तियाँ एक-एक प्रकार की हैं। यदि अनेक या सब पूर्तियाँ भी एक साथ हो, तो-भी स्त्री या काम-क्रीड़ा की प्राप्ति न होगी क्योंकि जब तक कर्मों की परिमाण में एक साथ पूर्ति न होगी, तब तक स्त्री या उसके साथ काम क्रीड़ा करने की प्राप्ति न होगी। अतः एक या अनेक कर्मों की पूर्ति होने ही से प्राप्ति जान चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, काम-क्रीड़ा के सुख-आनन्द के सहित अन्य सब प्रकार के सुख-आनन्दों को व्यर्थ क्षीण तथा नष्ट करना है। सब प्रकार के सुख-आनन्दों को क्षीण तथा नष्टता से बचा कर, उनको भोगनेके लिये विधि मे सब प्रकार के कर्मों की परिमाण मे एक साथ पूर्ति करके ही स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना चाहिये।

(कर्मयोग)—

इस चौथे अध्याय मे 'जानकारी और कौटम्बिक सम्बन्ध क्या और क्यों है ?'' इन दो विषयों पर भी मुख्य विषय के अतिरिक्त विशेष और कुछ विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। जो लाभ वृद्धि के साथ-साथ अपने विषय स्त्री या काम-क्रीड़ा

के अतिरिक्त अन्य विषयों से भी सम्बन्ध रखता है। जिन पर विशेष प्रकाश पड़ना आवश्यक और उपयोगी था। इस अध्याय के मानसिक ब्रह्मचर्य के तत्व और उक्त दोनों विषय कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखते है ।

अतः अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ के चौथे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

चौथा अध्याय समाप्त

शुभम्

पांचवां अध्याय

बाँध तोडकर अंगड़ायित काम-देव का प्रकट होना और मनुष्य का दीन अवस्थाओं में परिणत होना—

चौथे अध्याय मे हम यह अध्ययन कर आए हैं कि जबतक विधि मे सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति न होगी, तबतक स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द प्राप्त न होगा। यदि हम बिना पूर्ति के ही यत्न करेंगे, तो इस सहित सब प्रकार के सुख-आनन्दो को व्यर्थ नष्ट करेंगे। इस ज्ञान के द्वारा हमने मन के आगे बाँध लगा दिया है और समझ लिया है कि अब मन का वेग स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत न होगा। परन्तु बाँध लगने के कुछ समय उपरांत या कालान्तर मे जब कोई वांछित स्त्री सन्मुख आती है या वह आकर्षण करती है अथवा हम किसी को काम-क्रीड़ा करते हुये देखते है, सुनते हैं, जानने लगते हैं, तो कामदेव—जो अन्त चेतना या अन्त करण मे लीन या छुपा रहता है, वह प्रारम्भ में बडा सुन्दर मधुर और मनोहर रूप धारण कर बाँध के पार उदय (प्रकट) होता हैं। जो कुछ ही क्षण में अगड़ाई लेता हुआ तेजस्वी बलशाली और भयानक रूप धारण करके वेग रूप से परिणत हो प्रवाहित हो जाता है। जो हमारे ज्ञान बाँध

को तोड़कर आगे निकल जाता है और हम नि:शक्त तथा निरुपाय होकर उसमें बह जाते हैं। पहले-पहले तो उस प्रवाह में से निकलने के लिये हाथ-पैर मारते है, जब उसमें असमर्थ हो जाते हैं, तो तटस्थ लोगों को पुकारते हैं या ईश्वर से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हैं। जब किसी प्रकार से किसी ओर से अपना उद्धार नहीं होने पाता, तो विवश हो कर उस प्रवाह मे बह निकलते है। उस समय हमें कुछ सुध-बुध नहीं रहती कि कब तक और कहाँ तक बहते चले जायेंगे और हमारी क्या दशा होगी? जब काम-क्रीड़ा के मनोवेग का प्रवाह किसी भी कारण से मन्द पड़ जाता है या रुक जाता है, तो उसमें पड़े हुए मनुष्यों की दो अवस्थाएं होती है। एक तो वह जिसमे सुध-बुध रहती है और दूसरी वह जिसमे मनुष्य अपनी सुध-बुध खो बैठता है। सुध-बुधिक मनुष्य तो, प्रवाह के मन्द पड़ने या रुकने से उससे निकलने का यत्न करता है और कभी न कभी ऐसा अवसर आ जाता है कि वह, अपने को प्रवाह में से निकाल कर शांत तथा सुखी बना लेता है और स्वतन्त्रता से विचरण करता है। और जो मनुष्य प्रवाह के थपेडों से अपनी सुध-बुध खो बैठता है, वह उसी स्थान पर पड़ा रहता है। जब मनोवेग फिर प्रवाहित होने लगता है तो वह भूला हुआ मनुष्य फिर से उसमें प्रवाहित होने लगता है। तदुपरांत उसकी दुरावस्था का कुछ परिमाण नहीं रहता कि कितनी बुरी हो··?

उसका उद्धार अन्य अनुभवी सज्जन, ईश्वर, प्रारब्ध या परिस्थिति करे-तो-करे—अन्यथा वह तो उस प्रवाह का ही हो रहता है।

मनुष्य के उद्धार का उपाय—

अब मैं उस मनुष्य के उद्धार का उपाय बतलाऊँगा, जो काम-क्रीडा के मनोवेग के प्रवाह में प्रवाहित है और जो न्यूनाधिक अपनी सुध-बुध बनाए हुए है। जिस मनुष्य ने उस प्रवाह मे पड़कर अपनी सुध-बुध खो दी है, उसके लिये मेरे पास इस समय कोई उपाय नहीं है।

जब मनुष्य यह चाहता है कि मैं स्त्री या काम-क्रीडा की ओर प्रवृत्त न होऊँ, फिर भी वह प्रवृत्त हो जाता है, तो उसे विचार करना चाहिये कि मैं उस ओर किस कारण से प्रवृत्त होता हूँ ? जो-जो भी प्रवृत्त होने के कारण या प्रकार प्रतीत हों, उनको दूर करने का यत्न करना चाहिए। इसे "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ में स्त्री या काम-क्रीडा की ओर प्रवृत्त होने के कुछ कारण या प्रकार और उनको दूर करने के कुछ उपाय बतलाए गये हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है।

वर्णित साधनो मे इस प्रकार उपाय का सहारा ले सकते हैं कि जब हमने जान लिया है कि बिना कर्मों की पूर्ति के । या काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त न होगा वरन् उसका

चिन्तन, चेष्टा इच्छा और यत्न करने से सर्वनाश और सर्वदुःख अवश्य प्राप्त होंगे। इस प्रकार स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त होने से अनिच्छा हो जाती है। अनिच्छा होने पर भी हम उस ओर प्रवृत्त हो जाते है। इसका मूल कारण है कि सुख-आनन्द प्राप्त करने की इच्छा। इसी से अनिच्छा होते हुए भी उस ओर प्रवृत्त हो जाते है। इस प्रवृत्त होने के बहुत प्रकार है। उनमें से केवल तीन प्रकार हां लेता हूँ क्योंकि इस समय इतने ही उपस्थित हैं।—

—वे तीन प्रकार ये है कि (१) स्त्री का सन्मुख आना, (२) उसके द्वारा आर्कषण होना और (३) विभिन्न प्रकार के जीवों या मनुष्यों को काम-क्रीड़ा करता हुआ जानकर उस ओर प्रवृत्त हो जाना। इन तीनों प्रकारों का वर्णन करते हुए साथ ही साथ प्रवृत्ति को निवृत्ति मे परिवर्तन करने के लिये यत्न करूँगा। इन तीनों प्रकारों मे से सबसे पहले स्त्री का सन्मुख आना, प्रकार लेता हूँ।

१. सन्मुख में स्त्री के आने पर प्रवृत्त होने से रुक सकना—

(१. स्त्री से घृणा उत्पन्न होने पर उसे देखने, सुनने की इच्छा न होना)—

साधक विचार करने लगता है कि मैने जान लिया है कि जबतक सब प्रकार के कर्मो की पूर्ति न होगी, तब तक स्त्री या

काम-क्रीड़ा की प्राप्ति न होगी। यदि मैं बिना पूर्ति किये उसका चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करूंगा तो—इस सहित सम्पूर्ण सुख-आनन्दों को नष्ट कर लूंगा। मेरे शरीर का सार तत्त्व वीर्य क्षीण होता रहेगा, इन्द्रियाँ निर्बल हो जाएंगी और शरीर रोग ग्रस्त बन जाएगा। अशक्तता आने से मैं आवश्यक कर्म करने से रहित हो जाऊँगा। मुझ में निस्तेजता तथा कायरता आ जाएगी और कर्तव्य-कर्म से च्युत हो जाऊँगा। इन कारणों से कुटुम्बीलोग मेरा अपमान करने लगेंगे और समाज घृणा करने लगेगा। इससे अधिक मुझे और क्या दुःख होगा? इसलिये मैं स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता। परन्तु जब नव-यौवन से प्रस्फुटित स्त्री मेरे सन्मुख आ जाती है, तो मुझ से नहीं रुका जाता और मन-ही मन उस ओर प्रवृत्त हो जाता हूँ। जो मेरे लिये घातक है। अतः दुःख और हानि आदि से बचने के लिये मैं चाहने लगता हूँ कि मेरी इन्द्रियों के सन्मुख स्त्री या काम क्रीडा का विषय न आए तो अच्छा है। मैं चाहता हूँ कि मैं स्त्री या काम-क्रीड़ा का विषय देखूं-नहीं, सुनूँ-नहीं—पर ऐसा नहीं हो सकता।

(२. संसार के सम्पर्क से स्त्री या काम-क्रीड़ा का दिखना अनिवार्य)—

साधक आगे विचार करता है कि जबतक मैं संसार मे रहूंगा, तबतक स्त्री और कामोपभोग सम्बन्धी विषय मेरी

इन्द्रियों के सन्मुख आते ही रहेंगे। क्या मैं कानों को बन्द कर लूँगा · ? क्या आँखों के आगे पट्टी बाँध लूँगा ··? नहीं ··। ऐसा नहीं हो सकता। यदि मैं ऐसा करूँगा तो शीघ्र ही संसार से बिदाई ले लूँगा। यदि मै कान और आँखों को खुला रखूँगा तो कहीं भी क्यों न चला जाऊँ?—बन मे, पहाड़ में और एकान्त आदि में—वहाँ ही स्त्री या उसके काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विषय मिल जाएंगे···। मान लिया जाए कि मैं ऐसे स्थान को ढूँढ भी लेता हूँ, जहाँ काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विषय नहीं होते, तो वहाँ अपनी सब प्रकार की आवश्यकताएं स्वयं पूरी नहीं कर सकता। उन आवश्यकताओं के अभाव मे मेरा जीवन बहुत दिन तक नहीं चल सकता। यदि कहा जाए कि योगी अपनी समाधि अवस्था में स्त्री और उसके कामोपभोग सम्बन्धी विषय से पृथक् रहता है। पर यह तो एक प्रकार से संसार से पृथक् रहना है। सांसारिक जीव उससे शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते। दूसरे वह-भी जब समाधि अवस्था से उतरता है, तो उसे भी अन्य मनुष्यों और जीवों आदि से अपनी आवश्यकताए पूरी करनी पड़ती है और उसे संसार के सम्पर्क मे आना पड़ता है। इसी प्रकार जब मै अपने जीवन की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएं पूरी करनी चाहूँगा तो मुझे संसार के सम्पर्क मे आना पड़ेगा, अर्थात् मै अपनी आँखों से संसार की समस्त वस्तुओं, गुणों और क्रियाओं को देखूँगा और कानों से उन सम्बन्धी शब्दों को सुनूँगा, तो·· यह कैसे हो सकता है कि

स्त्री या काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विषय को देखे-सुने बिना रह सकूँ ? अत. मुझे स्त्री या काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विषय अनिवार्य रूप से देखना-सुनना पडेगा।

जबकि मुझे विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएं पूरी करने के लिये ससार के प्रत्येक विषय को अवश्य देखना-सुनना पड़ेगा तो यह चाहना कि स्त्री या काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विषय मेरे सन्मुख न आएं, व्यर्थ है। वे तो आएँगे ही। उस ओर प्रवृत्त न होने के लिये अन्य उपाय ही करना पड़ेगा।

(३. सन्मुख मे स्त्री के आने पर प्रवृत्त होने से रुक सकता)—

मैं देखता हूँ कि जब मैं नागरिक-मार्ग मे चला जाता हूँ तो वहाँ मुझे सुख-आनन्द देनेवाले अनेक प्रकार के पदार्थ, गुण और क्रियाएं दिखाई देती हैं। यदि मै उनको ग्रहण करने और भोगने का अधिकार समझता हूँ, तब तो उधर प्रवृत होता हूँ और यदि उनको ग्रहण करने मे अनधिकारी तथा हानि-दु:ख जानता हूँ, तो उधर प्रवृत्ति नहीं होती, वरन् निवृत्ति की भी इच्छा हो जाती है। अनेक बार उनसे भय और घृणा आदि उत्पन्न होकर उत्कट निवृत्ति की इच्छा बन जाती है। इसी प्रकार स्त्री और उसके साथ काम क्रीड़ा करने के विषय में भी है। जब हम किसी भी नव-उत्फुल्ल-यौवना को देखते हैं और उसके प्रति अपने को अनधिकारी जानते हैं एवं यह समझने लगते हैं

कि यदि हम उसको प्राप्त करने की इच्छा, चेष्टा और यत्न करेंगे तो दु:ख-हानि उठानी पड़ेगी। लोग हमें नीच समझने लगेंगे और वे अपमान करते हुये अनेक प्रकार की हानि पहुँचाएंगे। इस प्रकार विचार करने से स्त्री या काम-क्रीड़ा से घृणा हो जाती है और हमारे अंत:करण मे उसके प्रति निवृत्ति की इच्छा बन जाती है। परिणाम स्वरूप हम यह चाहने लगते है कि किसी भी प्रकार से स्त्री या उससे काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विषय की इच्छा, चेष्टा और यत्न न करे। जब हम किसी स्त्री को अपने विरुद्ध पाते है तो उसके नव-यौवन से सज्जित होने पर भी उसकी और उसके साथ काम-क्रीड़ा करने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना छोड़ देते है। वरन् अनेक बार तो उसको ग्रहण करने और काम-क्रीड़ा करने को भूलकर, उसके विरुद्ध होकर, उसे हानि-दु:ख पहुँचाने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करने लगते है। इससे सिद्ध होता है कि हमारी इन्द्रियों के सामने आने पर भी हम स्त्री और काम-क्रीड़ा के विषय का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करने से रुक सकते हैं।

---

२. स्त्री के आकर्षण करने पर भी रुक सकना—

(१. स्त्री के आकर्षण करने पर मैं अपने को रोक न सका)—

साधक अपने कर्मयोग मे लगा हुआ है। संयोगवश

वह क्या देखता है कि कोई वाञ्छित नवयौवन सम्पन्न स्त्री आई और वह उसे अपने हाव-भाव तथा कटाक्षों से अपनी ओर आकर्षित करने लगी। साधक को भी अपना कृत-निश्चय का स्मरण हो आया और मनोवेग भी उसे (साधक को) स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर आकर्षित करने लगा। साधक सोचने लगता है कि मेरा उसे देखना अनुचित है, उद्देश्य विरुद्ध है, उसे नहीं देखना चाहिए। परन्तु उसी क्षण काम-मनोवेग उसे प्रेरणा करता है कि एक बार उसे देख लो, बोल लो और व्यवहार कर लो—फिर उससे ऐसा नहीं किया जायगा। एक बार ऐसा करने से क्या हानि है ? इस प्रकार साधक चिन्तन करके उस ओर प्रवृत्त हो जाता है। फिर क्या था कि मनोवेग उसे बारबार प्रवृत्त करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि साधक का मन मथा जाने लगा। वह व्याकुल हो उठा। कुछ देर उपरान्त वह काम-क्रीड़ा में तल्लीन हो गया। किसी कारणवश स्त्री उसके सम्पर्क से पृथक् हुई और वह भी अपने घर जा कर खा-पीकर अपनी शैया पर लेट रहा। पर उसे नींद नहीं आती है क्योंकि उसे कामिनी के नयन और चेष्टाएँ अपनी ओर खींच रहे हैं। वह विचार करने लगता है कि मुझ में इस व्याकुलता का कारण क्या है ? जबकि मैं सुख-शान्ति के साथ अपने कर्मयोग में लगा हुआ था, तो मेरे अन्तःकरण में इतना उद्वेग क्यों हुआ ? इस प्रकार चिन्तन करते-करते साधक

का मन एकाग्र हुआ, तो उसे ज्ञात हुआ कि मुझे सुख-आनन्द की आवश्यकता है और वह है स्त्री में। इसका यह प्रयोजन नहीं कि सम्पूर्ण पदार्थों के सुख-आनन्द स्त्री ही में है, परन्तु उसका सुख-आनन्द उसी में है। इसलिये उस सुख-आनन्द को प्राप्त करने के लिये स्त्री की आवश्यकता है। जिसके न मिलने से मैं अपने मन को किसी प्रकार दबाये रख सका हूँ। जब स्त्री स्वयं मुझे अपनी ओर आकर्षण करती है, तो मैं अपने को अनिच्छा होते हुए भी उधर आकर्षित होने से नहीं रोक सकता। यही आज भी हुआ। परन्तु अपने उद्देश्य की प्राप्ति या अधिक से अधिक सुख-आनन्द को प्राप्त करने के लिये अपने या अपने मन को रोकना अत्यावश्यक है, परन्तु कामदेव ने मुझे उत्पीड़न कर-करके क्षीण कर डाला। मेरे जीवन का सार तत्व वीर्य भी क्षीण हो गया। मैं अपने किये हुए निश्चय पर भी स्थिर नहीं रह सका कि "जबतक विधि से सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति न होगी, तबतक मैं उस ओर प्रवृत्त न होऊँगा।" और अपने निश्चय को भूलकर उस ओर झुक ही गया। मुझसे बड़ा अनर्थ हो गया। हाय! मैं बड़ा पापी हूँ ...! हाय मैं बड़ा अस्थिर बुद्धि हूँ ...! मेरा जीवन व्यर्थ है ...! परन्तु इस पश्चात्ताप से कुछ [illegible] बनेगा। मुझे अपने उद्देश्य या निश्चय में सफल हो[illegible] अपने पुरुषार्थ का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। [illegible]रिक्त मेरे पास अन्य कोई उपाय नहीं है।

(२. निश्चय कर-करके कर्म किये चले जाना)—

यदि पुरुषार्थ करते करते अपने उद्देश्य या निश्चय में सफलता न मिले तो मेरा इस में क्या दोष है ? मैं तो इतना ही कर सकता हूँ कि निश्चय कर करके कर्म किये चला जाऊँ। बस, जब कभी कर्मों की पूर्ति होगी, तो स्वयं ही स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द प्राप्त हो जाएगा। प्रतीत होता है कि इस कर्मयोग का ध्यान रखते हुये ही भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी ने अपनी श्री मद्भगवद्गीता में कहा है कि—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

और

"कर्मणैव हि संसिद्धि मास्थिता जनकादय ."

अर्थात् कर्म करने में ही मनुष्य को अधिकार है, फल प्राप्त करने में नहीं और कर्म के द्वारा ही राजा जनक आदि सिद्धि को प्राप्त हुये। अत मुझे भी अपने कर्मयोग में स्थिर होना चाहिए।

(३. अपने ही दोष निकालने चाहिए)—

जब कि मैंने निश्चय किया है कि "जबतक विधि से सब प्रकार के कर्मों की परिमाण में पूर्ति न होगी. तबतक स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त न होऊँगा।" तो प्रश्न यह उठता है कि स्त्री मुझे अपनी ओर आकर्षित करती है। ठीक है ‥। वह अपनी ओर आकर्षण करेगी ही, क्योंकि अपने-अपने सुख-

आनन्द को सभी चाहते है और वे उसे प्राप्त करने के लिये यत्न भी करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि स्त्री अपने सुख-आनन्द की प्राप्ति के लिये मुझे आकर्षण करती है, तो उसका क्या दोष है…? दोष तो मेरा ही है, जो मै उस ओर प्रवृत हो जाता हूँ। मुझे अपने ही दोष को निकालना है। जब मेरे दोष निकल जायेगे, तो स्त्री के आकर्षण करने से मै आकर्षित न होऊँगा। यदि मै अपने दोष को निकालने का यत्न न करूँगा और स्त्री द्वारा आकर्षित करने का दोष उसपर लगाकर, उसे हानि पहुँचाने का यत्न करूँगा और चाहूँगा कि वह मुझे आकर्षित न करे तो इसका परिणाम यह होगा कि एकतो मेरे में दोष ज्यों के त्यों बने रहेगे, जो मुझे उसी या अन्य स्त्री की ओर प्रवृत करते रहेगे। जिस प्रकारसे प्रवृत होता आया हूँ। दूसरे मै अपने निश्चय या उद्देश्य में सफल न हो सकूंगा, अर्थात् अपने मन को स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त होने से न रोक सकूँगा तीसरे न-ही सम्यक् रूपमे काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त कर सकूँगा। चौथे जब मै अपने दोष न निकालकर, स्त्री को दोषी बनाकर, उसे हानि पहुँचाने का यत्न करूँगा तो वह भी मुझे जिस प्रकार से भी बनेगा, उस प्रकार से हानि पहुँचाने का यत्न करेगी। पाँचवें मुझे विभिन्न प्रकार की अनेक हानियाँ उठानी पड़ेंगी। छठे लोक निन्दा का पात्र बनना पड़ेगा। जिससे मुझे जहाँ,तहाँ फटकार, ताने और प्रहार आदि सहन करने पड़ेगे। अत. मुझे इन सब कुपरिणामों से बचने के लिये अपने ही दोष निकालने चाहिए।

(९. स्त्री के आकर्षण करने पर भी रुक सकना)—

अब मुझे यह विचार करना है कि स्त्री के आकर्षण करने पर, मैं उस ओर आकर्षित होने से, किस प्रकार बच सकता हूं। मै बाजार में जाता हूँ तो देखता हूं कि लोग अपनी ओर दूसरों को आकर्षित करने के लिये किस-किस प्रकार से अपनी-अपनी वस्तुओं को सजाते हैं और अपने कुटु-मधुर वचनों, हाव-भाव और कटाक्षों के द्वारा अपने को सुख आनन्द देनेवाली दूसरों की वस्तु या लक्ष्मी को प्राप्त करने का किस प्रकार यत्न करते हैं? अबोधित मनुष्य तो उनके आकर्षण में आकर उन्हे अपनी वस्तु या लक्ष्मी दे डालते हैं, परन्तु बोधवान व्यक्ति अपने सुख दुःख और हानि-लाभ आदि को पहचानकर अपनी आवश्यकतानुसार उस ओर आकर्षित होते हैं और आनन्द को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार मेरी भी स्थिति है। यह कोई आवश्यक या स्वाभाविक नियम नहीं है कि दूसरों के आकर्षण से कोई व्यक्ति आकर्षित हो ही जाए। यदि कोई आकर्षित होता है तो अपनी इच्छा ही से, परेच्छा से नहीं। यदि मैंने अपना हानि-लाभ, सुख-दुःख और व्याकुलता-आनन्द का सन्तुलन करके निश्चय कर लिया है कि मैं उस ओर प्रवृत्त न होऊँ—तो उसके आकर्षण करने पर भी उस ओर आकर्षित न होऊँगा। वह चाहे जितना भी आकर्षित करने का प्रयत्न क्यों न कर ले ?

अब प्रश्न यह उठता है कि मान लिया जाए कि मेरी ऐसी अवस्था आजाए कि स्त्री के आकर्षण करने पर मैं उस ओर

प्रवृत्त न होऊँगा। फिर भी वह आकर्षित करती ही रहे, तो मेरी इसमें कुछ हानि नहीं। यदि मैं आकर्षित न होऊँगा, तो वह स्वय ही आकर्षण करने से रह जाएगी।

उपरोक्त प्रकार से मैं स्त्री के आकर्षण करने पर स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त (आकर्षित) होने से रुक सकता हूँ।

---

३. दूसरों की काम-क्रीड़ा को जानकर प्रवृत्त होने से रुक सकना—

(काम-क्रीड़ा का अर्थ)—

काम क्रीड़ा का अर्थ है कि कामदेव का खेल—अर्थात् विनोद, वियोग या क्षोभ आदि से युक्त ऐसा खेल—जिसमें ऐसे वचन बोले या लिखे जाएं, ऐसी चेष्टा, क्रिया और व्यवहार किये जाएं—जिनका अंत मैथुन मे हो।

साधक ने यह निश्चय कर लिया है कि "जब तक विधि में सब प्रकार के कर्मों की परिमाण मे पूर्ति न हो जाएगी, तबतक मैं स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त न होऊँगा।" इस निश्चय को दो-चार दिन भी न हो पाये थे कि वह किन्ही स्त्री-पुरुषों, पशु-पक्षियों या जीव-जन्तुओ को काम-क्रीड़ा करते देखता है। वह अनुभव करने लगता है कि मेरी भी उस ओर प्रवृत्ति हो गई। जबकि मैंने निश्चय किया था कि जबतक कर्मों की पूर्ति न होगी, तबतक उस ओर प्रवृत्त न हूंगा। वह अपने निश्चय पर दृढ़ न रह सका। इस समय

वह अपने निश्चय के बाँध को तोड़ कर काम-क्रीड़ा को देखने, सुनने और चिन्तन करने में बह गया। वह अपने आप को ठहरा न सका। जब किसी कारण से उसके मनोवेग का प्रवाह रुक गया, अर्थात् उसके संकल्प की सीमा आ गई या उसने अन्य व्यक्तियों के द्वारा प्रतिबन्ध जाना अथवा वह किसी कार्य की व्यग्रता से उसमे सलग्न होगया इत्यादि किसी भी प्रतिबन्धक कारण से उसके मनोवेग का प्रवाह रुक गया, तो वह विचार करने लगा कि मैं अपने निश्चय से पतित हो गया। क्या मै अपने निश्चय में स्थिर नहीं हो सकता ? इस प्रकार चिन्तन करते-करते उसका ध्यान एकाग्र हो जाता है और वह अनुभव करने लगता है कि मै अपने निश्चय में खड़ा हो सकता हूँ। जबकि मैं दैनिक व्यवहार से देखता हूँ कि अनेक पशु-पक्षी मधुर ध्वनि करते हैं एवं मनुष्य परस्पर मधुर भाषण, आकर्षक चेष्टा और आनन्ददायक क्रियाए या व्यवहार करते हैं—तो कभी-तो उनकी ओर आकर्षित होता हूँ और कभी नहीं। जब कभी मैं उनको सुख-आनन्दरूप जानता हूँ तब तो उधर प्रवृत्त हो जाता हूँ और मेरा मनोवेग भी उधर प्रवाहित हो जाता है। और जब कभी मैं उन्हें दुःख रूप जानता हूँ तो उधर प्रवृत नही होता और अनेक बार तो ऐसा भी हो जाता है कि उसके विरुद्ध मनोवेग प्रवाहित होने लगता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर मैं किसी की काम-क्रीडा को देख सुन और जानकर उधर अपने मनोवेग को प्रवाहित होने से रोक सकता हूँ।

पाँचवें अध्याय पर विहगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस पाँचवें अध्याय मे विचार करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि इन्द्रियों के सामने स्त्री के आने, उसके आकर्षण करने और दूसरों को काम-क्रीड़ा करते हुये जानकर उस-ओर प्रवृत्त होने से रुक सकते है। क्योंकि जबकि हमने अपना हानि-लाभ, सुख-दुःख और व्याकुलता-आनन्द आदि का भली प्रकार से सन्तुलन करके यह देख लिया है कि अपने निश्चय (जबतक विधि मे कर्मों की पूर्ति न हो आदि) के विरुद्ध चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना दुःख रूप है।

दूसरे जब हम संसार की सैकड़ो सुख-आनन्ददायक वस्तुओं का परित्याग कर सकते है, तो स्त्री या काम-क्रीड़ा का परित्याग क्यों-नहीं कर सकते ?

(कर्मयोग)—

इस अध्याय में कर्मयोग विषय पर भी प्रकाश डाला गया है। वास्तव मे देखा जाए तो यों कहना चाहिए कि यह विषय स्वयं ही कर्मयोग का बन गया है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के पाँचवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

पाँचवाँ अध्याय समाप्त

शुभम

छठा अध्याय

कर्तव्याकर्तव्य नियमों का वर्णन—

चौथे अध्याय मे हम यह वर्णन कर आये हैं कि जब तक विधि मे सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति न हो तब तक स्त्री या काम-क्रीड़ा को सुख-रूप, समीप, एकान्त, भाव और जानकारी आदि किसी एक के होने ही से प्राप्ति जान चिन्तन चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, इस सहित सम्पूर्ण सुखों को क्षीण तथा नष्ट करना है। यह जान कर हमे जब तक कर्मों की पूर्ति न हो तब तक के लिये स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर से अनिच्छा हो गई परन्तु अनिच्छा होने पर भी हम स्त्री या काम-क्रीडा करने की ओर प्रवृत्त होते रहते है। इसका कुछ दिग्दर्शन पॉचवें अध्याय में करा आये हैं। इस प्रवृत्ति को निवृत्ति में लाने का भी उपाय बतलाया गया है। इस उपाय का भी उपयोग तभी तक है कि जब तक कर्मों की पूर्ति न हो जाए। कर्मों की पूर्ति के लिये यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार के कर्मो में पूर्ति करनी चाहिए और किस प्रकार के कर्मों मे नहीं? इन उचित-अनुचित कर्मों के प्रकार तो बहुत है परन्तु मै कुछ मुख्य-मुख्य कर्मो के प्रकारों का ही इस छठे अध्याय मे वर्णन करूँगा। जिनके नियम और अनियम दो नाम रख सकते हैं। इन्हे हम निर्दोष और दोषी कर्म भी कह सकते हैं। हमे

नियम के प्रकारों मे ही पूर्ति करनी चाहिए और अनियम के प्रकारों से नही। नियम के प्रकारों के भीतर—(१) विधि में पूर्ति करना, (२) अचोरी मे पूर्ति करना, (३) अकृपा मे पूर्ति करना, (४) निश्चयात्मिक मे पूर्ति करना, (५) अपेक्षाकृत में पूर्ति करना, (६) अनबलात्कार अर्थात् सरलता में पूर्ति करना और (७) सदैव पूर्ति करना—ये सात प्रकार आ जाते हैं। अनियम के प्रकारों के अतर—अविधि, चोरी, कृपा, अनिश्चयात्मिक, अनपेक्षाकृत, बलात्कार और अकस्मात् मे पूर्ति करना —आ जाते है। हम पहले अनियम के प्रकारों का वर्णन करते हैं, पश्चात् नियम के प्रकारों का वर्णन किया जाएगा।

छठे अध्याय का पूर्व-भाग

अनियम के प्रकारों का वर्णन

वांछित की प्राप्ति के लिये क्रम विहीन और दूपित कर्मों का करना—

मनुष्य यह चाहता है कि हमें वांछित वस्तु, गुण और क्रिया मिलती रहे। जिससे हमारा जीवन सुख-आनन्द से सम्पन्न रहे। उन वस्तु आदि की प्राप्ति के लिये वह अनेक वार और चिरकाल तक भी क्रम विहीन और दूपित कर्म करता रहता है। जिसका परिणाम यह होता है कि वह मनोवांछित फल को तो प्राप्त होता नही: वरन् उसे अनावश्यक और दुःखद पदार्थ,

गुण तथा क्रिया अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। जो समय-असमय पर उसकी आवश्यकता पूरी करना तो दूर रहा, उल्टे वे शूल के समान चुभ कर अंतर और बाह्य वेदना को उत्पन्न करते रहते है। इसी प्रकार से स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के विषय से भी बात है। अतः ऐसे कर्मों से बचने के लिये कुछ अनियमित या दूषित कर्मों के प्रकारों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है। अब सबसे पहले 'दोषिता में कर्मों की पूर्ति न कराना' विषय को लिया जाता है।

दोषिता में कर्मों की पूर्ति न करना—

साधक विचार करता है कि मुझ में धैर्य कम है और सुख को प्राप्त करने की लालसा उत्कट होती है। मैं आनन्द को पाने के लिये उतावला हो जाता हूँ और स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये उस उतावलेपन के कारण अनुचितरूप में कर्मों की पूर्ति करने में संलग्न हो जाता हूँ। जिसका परिणाम यह होता है कि मेरा वीर्य क्षीण तो होता ही रहता है जिससे शारीरिक निर्बलता आ जाती है, इन्द्रियों और यन्त्रों की शक्तियाँ घट जाती हैं एवं जिसके फलस्वरूप चाहे जब रोग आक्रमण कर देता है। अन्य प्रकार के फल प्राप्त करने के लिये भी कर्म करने में शिथिलता आ जाती है, जिससे उनकी प्राप्ति होने में देर लग जाती है या ऐसा भी होता है कि वे फल प्राप्त ही नहीं होते। अथवा जो फल प्राप्त होते है उनमें भी विकार आ जाता है इन दोषों के अतिरिक्त एक दोष यह भी आ जाता

हैं कि मैं दूसरों में अधिक दोष देखने लगता हूँ। जिसका परिणाम यह होता है कि मैं उन्हें अपना विरोधी या शत्रु बना लेता हूँ। जो मेरे प्रत्येक काम में हानि या बाधा पहुँचाते रहते हैं। अतः इन हानियों से बचने के लिये मुझे दोषित में कर्मों की पूर्ति नहीं करनी चाहिए। दूषित कर्मों से बचने के लिये अब आगे उनका वर्णन करूँगा।

१. अविधि में कर्मों की पूर्ति न करना—

साधक विचार करता है कि मैं चाहता हूँ कि स्त्री या उसके साथ काम क्रीड़ा का करना सदा प्राप्त होता रहे और उसकी प्राप्ति के लिये सदा चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न भी करता रहता हूँ। परन्तु जब इनके परिणाम को देखता हूँ तो ज्ञात होता है कि वांछित वस्तु नहीं मिलती और जो मसोस कर रह जाता हूँ। जब मैं निराश होकर अपनी असफलता पर विचार करता हूँ तो ज्ञात होता है कि मेरे कर्मों में विधि नहीं है। अर्थात् जो कर्म जिस काल में, जिस प्रकार और जितने परिमाण में करना चाहिए, उस प्रकार नहीं करता हूँ। मैं अपनी और स्त्री की मनोवृत्ति का भली प्रकार से अध्ययन के बिना ही उसके मन को आकर्षण करने लगता हूँ। प्रत्येक प्रकार की मनोवृत्ति की पूर्ति की अपनी विधि होती है। उसको मैं उल्लंघन करके अविधि से ही स्त्री या काम-क्रीडा प्राप्त करना चाहता हूँ। इस लिये ही मैं असफल होता हूँ। मैं अपने और स्त्री के स्थान की भेदता को सम्यक् जाने बिना उससे सम्बन्ध करने

का यत्न करने लगता हूँ। वह किस सामाजिक या राजनियम में बँधी है और मै किस बधन मे बँधा हूँ, उस बन्धन मे हमारा सम्बन्ध हो सकता है या नहीं ? उसकी विधि को जाने बिना ही मैं सम्बन्ध करने लगता हूँ। इस कारण से ही मैं अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता। मैं अपनी और स्त्री की अवस्था या शारीरिक दशा का भी ध्यान नही रखता। उसके बिना ही स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यत्न करने लगता हूँ। इसी प्रकार से अनेक प्रकार के कर्म है और जिनके अतर्गत अनेक भेद- उपभेद हैं, जिनकी अपनी-अपनी विधि है। उस विधि के अनुसार कर्म करने ही से स्त्री या काम-क्रीड़ा के सुख की प्राप्ति हो सकती है। यदि उस विधि को जान से या अन-जान से पालन किये बिना ही अविधि या अक्रम से कर्म करने लगता हूँ, तो जिसका फल यह होता है कि स्त्री या काम-क्रीडा का सुख-आनन्द तो मिलता नहीं—वरन् अनेक बार तो अनेक प्रकार के दु:ख भी उठाने पडते हैं। अत अविधि में कर्मों की पूर्ति कभी न करनी चाहिए।

---

२. चोरी में कर्मों की पूर्ति न करना—

(१. न्यूनतम समय और श्रम में अधिकतम सुख प्राप्त करने की प्रवृत्ति का होना)—

साधक चोरी से अपनी प्रेमिका को पाने की संभावना जान कर उससे काम-क्रीड़ा करने का चिन्तन करता है और उस समय

विचार करता है कि मैं कम से कम समय तथा परिश्रम मे अधिक से अधिक सुख और आनन्द प्राप्त करूँ। इस उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुये वह उस मार्ग को ढूँढता रहता है। और उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि चोरी, अर्थात् दूसरे की अजानकारी या अज्ञानता, मे यत्न किया जाए तो किसी भी अधिक से अधिक सुन्दर और उपयोगी वस्तु को कम से कम समय और परिश्रम से प्राप्त किया जा सकता है। यदि उस वस्तु को अचोरी से प्राप्त करने का यत्न किया जाए, तो कदाचित् वैसी वस्तु प्राप्त न हो। और यह भी सभव है कि वह प्राप्त ही न हो या प्राप्त होकर बिगड़ जाए अथवा नष्ट हो जाए, परन्तु चोरी से उसे प्राप्त करने मे यह संभावना नहीं रहती। इस प्रकार का विचार चोरी करनेवाले मनुष्य के अत-करण मे रहता है। वह-विचार उसके ज्ञात रूप मे हो या अज्ञातरूप मे, वह ऐसा जानकर करता हो अथवा अनजान मे, यह दूसरी बात है। वह किसी भी रूप मे करता हो, उसके मूल रूप मे यही प्रेरणा रहती है कि कम से कम समय और कम से कम परिश्रम मे अधिक से अधिक सुख-आनन्द प्राप्त करना। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर पुरुष या स्त्री एक दूसरे को चोरी से पाने का यत्न करते है, परन्तु उन्होंने वास्तव मे विचार करके नहीं देखा कि इस मार्गसे तो अधिक से अधिक समय और अधिक से अधिक परिश्रम मे कम से कम सुख-आनन्द प्राप्त होगा। दूसरे उन्होंने यह नहीं देखा कि इस चोरी के

मार्ग से अमुक स्त्री के पाने से या उसके साथ काम-क्रीड़ा के भोग करने से कितना दुःख है ? कितनी कठिनाइयाँ है ? इस मे सफलता होगी या असफलता और उस कर्म का अन्य प्रकारके कर्मों और उनके फलो पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

(२. भय का संचार)—

जब पुरुप किसी स्त्री को चुरा कर उसके साथ काम-क्रीडा करने या भोगने की इच्छा या यत्न करेगा, तो सबसे पहले वह यह देखेगा कि कोई मुझे देखता तो नहीं है ? इस प्रकार के भाव होते ही उसके मन मे भय का संचार हो जाएगा। जहाँ भय का संचार होगा, वहाँ हाथ-पैर कॉपने तथा हृदय के धड-कने का होना बहुत संभव है और हो भी जाता है। ऐसी अवस्था में सुख-आनन्द कहाँ ?

(३. लोगो द्वारा हानि और दुःख)—

मनुष्य सोचा करता है कि सुख-आनन्द को प्राप्त करने के लिये अन्य स्त्री-पुरुषों की ऑख बचाकर वांछित स्त्री से प्रेम और काम-क्रीड़ा की जाए, परन्तु संसार में स्त्री और पुरुप कहाँ नहीं हैं ? दूसरे वे एक समय या एक स्थान पर न भी हों, तो दूसरे समय वे वहाँ पाए जाते हैं। जिनसे अपना कर्म-सूत्र छिपा नहीं सकता। इसलिये यदि मनुष्य चोरी करेगा तो उसके पकड़े जाने की अधिकतम संभावना रहती है। उसके अनुसार पुरुष करते हुये पकड़ लिया गया तो, जो बहुत सभव है, उसकी

सारी प्रतिष्ठा जाती रहेगी । लोग उसका अपमान करेंगे, बहिष्कार करेंगे, हानि पहुँचाएंगे और पहुँचाते हैं। उस समय उसके पास भयानक टीस, वेदना और पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ न रहेगा। घरवाले तथा मित्र उसके शत्रु बन जायेंगे, नौकर काटने को दौड़ेंगे और जनता उसे चबाने के लिये दौड़ी चली आएगी। एवं यहाँ तक भी हो सकता है कि समाज उसे संसार से सदा के लिये विदा कर दे। अतः स्त्री को पाने या काम-क्रीड़ा करने के लिये चोरी के मार्ग से कर्मों की पूर्ति कभी न करना।

(४ मन, वचन और कर्म में अनेकता)—

जब मनुष्य चोरी करना चाहेगा या करेगा तो वह उस कर्म को छिपाने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करेगा। उस समय उसके मन में कुछ होगा, दूसरों से कुछ कहेगा और कुछ करेगा। इस प्रकार यथार्थ भाव, चेष्टा तथा क्रिया को छिपाकर अन्य भाव, चेष्टा तथा यत्न करने पर उसके मन, वचन और कर्म में अनेकता आ जाएगी। अनेकता आने से वांछित स्त्री और उसके साथ काम-क्रीड़ा होने की सम्भावना दूर हो जाती है और मनुष्य उसके आनन्द से रहित होता है। इसी प्रकार चोरी से पूर्ति करने से मैं काम-क्रीड़ा के आनन्द से वंचित हो जाऊँगा। इसलिये मुझे चोरी से कर्मों की पूर्ति नहीं करनी चाहिये।

(५. चोरी का स्वभाव बन जाने से उसे त्यागनेमें कठिनता)—

जब मनुष्य चोरी करेगा तो उसके मन, वचन और कर्म मे अनेकता हो जाएगी। और जब वह वारवार चोरी करने लगेगा तो उसमें मन, वचन और कर्म की अनेकता का स्वभाव बन जाएगा। मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाला स्वभाव ही होता है। इस स्वभाव के वश मे देवता, राक्षस, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि सभी होते है। जिस स्वभाव का परिवर्तन करना अत्यंत कठिन होता है। जब मनुष्य चोरी के मार्ग से स्त्री या काम-क्रीडा को प्राप्त करने का वारबार यत्न करने लगेगा तो उसका वह स्वभाव बन जाएगा, जिसको त्यागना अत्यत दुष्कर होगा। अत चोरी का स्वभाव न बनने देने के लिये साधक को चाहिए कि आरम्भ ही से चोरी में स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये कर्मों की पूर्ति न करने का यत्न करे।

(६. विश्वासहीनता का उत्पन्न होना)—

जब मनुष्य के मन, वचन और कर्म में अनेकतिकता आ जाएगी तो वह स्वयं अपने-आप में विश्वास न कर सकेगा कि अमुक कर्म मेरे उद्देश्य या निश्चय के अनुसार ही होगा। [illegible] सम्भव है कि उसके किये हुये कार्य उसकी इच्छा के [illegible] हों। ऐसी अपनी विश्वासहीनता में सफलता, उसके

लिये भली प्रकार का यत्न, शांति, सुख और आनन्द कहाँ ··? इस विश्वासहीनता का कारण स्त्री या काम-क्रीड़ा की प्राप्ति के लिये चोरी से किये गये कर्म है। अत. चोरी मे स्त्री या काम-क्रीड़ा करने की प्राप्ति की इच्छा से कर्म पूर्ति न करना। उसका सुख आनन्द चाहे जितना भी अधिक क्यों न हो?

(७. अन्य विषयों के कर्मों में भी अनेकता और भ्रमरोग)—

जब मनुष्य मे चोरी के कारण मन, वचन और कार्य मे अनेकतिकता आ जाएगी तो अपनी अनेकतिकता के कारण वह स्त्री सम्बन्धी विषय मे तो अपने मन, वचन और कार्य मे अनेकतिकता रखेगा ही, साथ ही वह अन्य विषयों में भी कर्मों की अनेकतिकता ले आएगा या वह स्वयं आ जाएगी। जिसका परिणाम यह होगा कि उसके सब लक्ष्य विषय के कर्मों में अविश्वास की भावना जागृत हो जाएगी। जिसके कारण उसमे सन्देह और भ्रम उत्पन्न हो जाएगे। यदि मनुष्य को एक ही विषय मे अविश्वास, सन्देह, और भ्रम उत्पन्न हो जाए तो उसे कितनी मानसिक टीस और वेदना होती है? जिसको भुक्त-भोगी ही अनुभव कर सकता है। यदि वही अविश्वास और सन्देह आदि सब विषयों मे हो जाए तो उसकी वेदना का वर्णन करना, अनिर्वचनीय हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप उसे भ्रमरोग (पागलपन) हो सकता है। अतः स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये चोरी से कर्मों की पूर्ति न करना।

नहीं, हाँ, अन्य सब प्रकार के सुख-आनन्दों को अवश्य क्षीण और नष्ट कर लेगा। कृपा के आधार पर कर्मों की पूर्ति करने से स्त्री या काम-क्रीडा अकस्मात् मिल जाए तो दूसरी बात है, परन्तु सदा प्राप्त नहीं हो सकती।

(२. भौतिक और शारीरिक अवस्थाएं भी बाधक)—

पुरुष सोचा करता है कि स्त्री की कृपा होने पर वह और उसके साथ काम-क्रीड़ा का करना अवश्य मिलेगा, परन्तु ऐसी बात नहीं है। कुछ भौतिक रुकावटें और शारीरिक बाधाएं ऐसी हैं, जो स्त्री के प्रसन्न होने पर भी वह और काम-क्रीड़ा नहीं प्राप्त हो सकती। यदि स्त्री की प्रसन्नता है, परन्तु पुरुष और उसके बीच में नदी, पहाड़, खड्ड, बाजार, गली और भीत आदि भौतिक रुकावटें हों तो वह और काम-क्रीडा नहीं मिल सकतीं। इसी प्रकार पुरुष या स्त्री दोनों में से किसी एक का अंग भग हो या उनमें ऐसा विकार आ जाए कि स्त्री के प्रसन्न होने पर भी काम-क्रीड़ा नहीं हो सकती। अतः यह समझ लेना कि स्त्री की कृपा होने पर 'वह' या 'उसके साथ काम-क्रीडा का करना' अवश्य प्राप्त होगा, भूल है।

(३. स्त्री की आवश्यकता-पूर्ति के अभाव में भी अप्राप्ति)—

स्त्री की कृपा होने पर भी वह और काम-क्रीड़ा प्राप्त न होने का एक कारण यह भी है कि यदि इसकी शारीरिक या भौतिक अथवा मानसिक आवश्यकताएं पूरी न हों तो वह

प्रसन्न होने पर भी, अप्रसन्न हो जाएगी। जिससे कृपा प्राप्त पात्र (पुरुष) स्त्री और उसके साथ काम-क्रीड़ा से विहीन रहकर सुख-आनन्द से वंचित हो जाएगा। अतः स्त्री या काम-क्रीड़ा की प्राप्ति के लिये स्त्री की ही कृपा को महत्व देना, भूल है।

(४. कृपा आधारित पुरुष भय, चिन्ता और मोहांधकार से पूर्ण एवं सूना संसार)—

जब पुरुष स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये उसकी कृपा पर आधारित हो जाएगा और उसकी सन्तुष्टि न होने पर वह रुष्ट हो जायगी या होने की सम्भावना होगी, तो उस समय पुरुष की क्या अवस्था होगी···? यह उस समय भुक्त-भोगी ही अनुभव करेगा, फिर भी यहां कुछ वर्णन किया जाता है। वह स्त्री के रुष्ट होने पर भय-भीत और चिन्ताशील हो जाएगा। इस प्रकार बारंबार उसके साथ ऐसा व्यवहार होगा तो वह सदैव भय-भीत तथा चिन्ताशील बना रहेगा और मोह उत्पन्न हो जाने से किंकर्तव्य विमूढ बन जाएगा। उसे उस समय यह न सूझेगा कि मैं क्या करूँ···? वह चिन्ता से ग्रसित होकर सदा उदास बना रहेगा। उस अन्धकार में यदि कभी-कभी ज्ञान-प्रकाश मिलेगा भी तो-भी वह न-तो अपने कर्तव्य का सम्यक् ज्ञान कर सकेगा और न-हि उसका, जो कुछ भी ज्ञान हो चुका है, पालन कर सकेगा। दूसरे वह अन्य विषयों के कर्मों को करके उनके फलों को प्राप्त करने का यत्न

करेगा, तो-भी, बहुत संभव है कि फिर से भय तथा चिन्ता का अन्धकार न्यूनाधिक रूप में आकर उस पर छा जाए और वह अन्य प्रकार के फलो के कर्मों को भी पूर्ण रूप से सिद्ध न कर सके। या वे सिद्ध भी हो जाए तो भय, चिन्ता और मोहांधकार के घेर लेने पर उनको ग्रहण न कर सके। जब वह किसी फल को प्राप्त न कर सकेगा या विकृत रूप मे प्राप्त करेगा तो उसकी प्रेयसी कभी प्रसन्न न होगी। उस समय उसकी क्या दशा होगी ...? हम और आप उसका कुछ अनुभव नहीं कर सकते। जिस पर बीतती है, वही जानता है। हम और आप तो, साधारण व्यवहार में ही किसी प्रेयसी के कुछ रुष्ट होने पर हमारे मन की जो दशा होती है उसके आधार पर ही, अनुमान कर सकते है। या साधारण प्रत्येक प्रकार के व्यवहार में दूसरे की कृपा के आधार पर सुखोपभोग करने से जीवन पर क्या बीतती है... मन की क्या दशा होती है...? उसी के आधार पर अपनी कल्पना कर सकते है कि प्रेयसी की कृपा के आधार पर जीने वाले प्रेमी की क्या दशा हो सकती है और होती है...? जब प्रेयसी की आवश्यकता बारबार पूरी न होगी, तो वह बराबर रुष्ट बनी रहेगी और उसकी कृपा के आधार पर जीवित रहने वाला काम क्रीडा के आनन्द-भोग का इच्छुक प्रेमी के लिये संसार सूना हो जाएगा। उसके लिये ससार में कोई वस्तु भी आनन्द देने वाली न होगी। वह न अपनी प्रेमिका को प्राप्त कर सकेगा, न उसके साथ काम क्रीडा के आनन्द का अनुभव

कर सकेगा-और भय, चिन्ता तथा मोह ग्रसित होने के कारण न-हि अन्य कर्म करके उनके फलों के सुख-आनन्दों को भोग सकेगा। उसका जीवन असफल, व्याकुल, चिंतित, शोकाकुल और मोहांधकार से युक्त हो सदा के लिये अनंत में छिप जाएगा।

(५. उपेक्षित, कृपा-आधारित का हृदय चीत्कार पूर्ण)—

स्त्री की कृपा पर सुखोपभोग करने वाले पुरुष की क्या दशा होती है ? इस पर फिर एक बार दृष्टि डालिये—

यदि प्रेमिका अन्य पुरुष से प्रेम करती है और वह पुरुष उसके पास बैठा हुआ है और पूर्व-प्रेमी—जिसने अपना तन, मन और धन उस पर न्योछावर कर दिया है—उसे अन्य पुरुष के समीप बैठना पसन्द नहीं करता। परन्तु वह पूर्व-प्रेमी की उपेक्षा करके नव-प्रेमी के साथ घुलमिलकर बातें करती है। यह देखकर पूर्व-प्रेमी अपने मन में बहुत कुढ़ता है। उस समय-उसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उसकी छाती पर सांप बैठा हुआ हो। परन्तु प्रेमिका अपने पूर्व-प्रेमी की कुछ चिन्ता नहीं करती। क्योंकि सबको अपने-अपने सुख और आनन्द ही से प्रयोजन है। दूसरे उसका पूर्व-प्रेमी उसकी कृपा पर ही तो निर्भरित है। वह उसकी चिन्ता करने भी क्यों लगी···? उस समय पूर्व-प्रेमी चिन्तन करने लगता है कि मैं क्या करूँ···? क्या धरती में समा जाऊँ···? कुए-बावड़ी में डूबकर मर जाऊँ···? अथवा विष खाकर प्राणांत करलूँ···? मैं इस दृश्य को क्यों देख रहा

हूँ···? हाय! मैंने इसी दृश्य को देखने के लिये अपना तन, मन और धन अर्पण किया था···? क्या इसका मुझ से यही प्रेम है···? इस प्रकार चिन्तन करते-करते उसके मन में मर्मांत टीस उत्पन्न होती है और जब तक वह उसकी कृपा पर निर्भरित रहेगा तब तक चीत्कार उसके हृदय में मार्मिक पीड़ा उत्पन्न करता ही रहेगा। अत: कृपा पर जीवित रहने वाला मनुष्य संसार में कभी सुखी और आनन्दित नहीं हो सकता। इसलिये साधक स्त्री की कृपा के आधार पर उसे या उसके साथ काम-क्रीड़ा को पाने के लिये स्त्री की कृपा में कर्मों की पूर्ति कभी न करे।

---

४. अनिश्चयात्मिक कर्मों में पूर्ति न करना—

मनुष्य मे प्राय: एक यह दोष पाया जाता है कि वह किसी फल की प्राप्ति के लिये उसके साधन रूप कर्मों का भली प्रकार से निश्चय नहीं करता या विना निश्चय किये ही कर्म करने लगता है। जिसका परिणाम यह होता है कि उसको वांछित फल तो प्राप्त होता नहीं; हां असंगत या विरुद्ध कर्म होने पर उसे अनेक प्रकार से अनिवार्य रूप में दु:ख अवश्य झेलने पड़ेंगे और पड़ते हैं। इसी प्रकार स्त्री विषय में भी अनिश्चयात्मिक करने से प्राय: असफलता, कठिनाई, अनेक प्रकार के दु:ख कष्ट झेलने पड़ेंगे और पड़ते हैं। यदि कभी अनिश्चया-

त्मिक कर्मों की पूर्ति से स्त्री या उसके भोग प्राप्त भी हो जाएं तो यह कुपथ त्यागना दुष्कर हो जाएगा और हो सकता है कि मनुष्य स्त्री विषय में अनिश्चयात्मिक कर्म करता-करता अन्य विषयों में भी अनिश्चयात्मिक कर्म करने लगे। उस समय शीघ्र से शीघ्र इस सहित सम्पूर्ण सुख आनन्द के नष्ट हो जाने की अत्यधिक संभावना है। अतः स्त्री या काम-क्रीड़ा की प्राप्ति के विषय में अनिश्चयात्मिक कर्मों से पूर्ति कभी न करना।

(परस्पर विरोधी कर्म से वांछित फल नष्ट और शान्ति का अभाव होना)—

साधक विचार करता-करता विषय की कुछ गहराई में पहुँच जाता है और वह देखने लगता है कि अनिश्चयात्मिक बुद्धि वाले को कभी सुख और शांति नहीं हो सकती। उसमें सदा सन्देह बना रहता है और जहां सन्देह होता है, वहाँ मन दो कोटि में झूलता रहता है। पुरुष कभी एक कर्म करने लगता है तो कभी दूसरा। ये दोनों कर्म परस्पर विरोधी होते हैं। जो एक कर्म के फल को दूसरा नष्ट करने वाला होता है। ऐसे परस्पर विरोधी कर्म करने वाले व्यक्ति को न तो वांछित-फल ही प्राप्त हो सकता है और न उसके मन में शाँति ही हो सकती है। जब मनुष्य अपने मन में दो विरोधी भावनाओं का प्रसार देखता है और वह, प्रयत्न करने पर भी, किसी एक भावना के प्रसार

में नहीं पहुंच पाता तो उसकी चेतना शक्ति य अंत:करण में चीत्कार भर जाता है। जिसका शब्द वही सुन सकता है। दूसरे लोग तो उस शब्द की रूप-रेखा ही जान सकते हैं कि उसे वेदना है। उन्हे केवल इतना ही प्रतीत होता है। वास्तविक अनुभव-कर्ता तो उसका भोक्ता ही होता है।

कदाचित उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुये भगवान श्रीकृष्ण अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं—

"नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः"

अर्थात् संशयात्मिक मनुष्य के लिये इसलोक और परलोक कहीं भी सुख नहीं है। या न यह लोक है, न परलोक और न सुख।

अत: स्त्री और उसके साथ काम क्रीड़ा करने के आनन्द को पाने के लिये अनिश्चयात्मिक कर्मों से पूर्ति कभी न करना।

---

५. अनपेक्षाकृत कर्मों में पूर्ति न करना—

(१ अनपेक्षित कर्मों से असफलता)—

मनुष्य मे एक दोष यह भी पाया जाता है कि वह कर्मों की परस्पर अपेक्षा या तुलना नहीं करता। वह यह नही देखता या कम देखता है कि अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये हमें दो कर्मों में से कौनसा कर्म ग्रहण करना चाहिए और कौनसा त्याग? दोनों कर्मों मे क्या-क्या गुण तथा क्रियाएं किस किस परिमाण

और रूप में हैं और कौन हमारे अनुकूल है ? जो हमें वांछित फल की प्राप्ति में सहायक हो सके। इन अनपेक्षाओं से ही मनुष्य अपने वांछित फल की प्राप्ति में सफल नहीं होता—

(२ अनपेक्षाकृत कर्मों में पूर्ति न करना)—

—इसी प्रकार पुरुष स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये कर्मों की अपेक्षा या तुलना किये बिना ही पूर्ति करने लग जाता है। जिसका परिणाम यह होता है कि उसे वांछित-फल तो प्राप्त होता नहीं, वरन् वह अपने अन्य सब प्रकार के सुख-आनन्दों को क्षति पहुँचा लेता है। अतः साधक को चाहिए कि स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये अनपेक्षित कर्मों में पूर्ति न करे।

———

६. बलात्कार में कर्मों की पूर्ति न करना—

(१ बलात्कार से जीवन-सामग्री का नष्ट होना)—

मनुष्य मे एक प्रवृत्ति यह भी है कि वह दूसरे की वस्तु को या उसके भोग को बलपूर्वक अपहरण कर लेता है। यदि सभी मनुष्य बलपूर्वक दूसरे की वस्तु का अपहरण करने लगें, तो जीवन की कोई भी वस्तु या सामग्री उत्पन्न होकर उन्नत न हो सके। जिनके बिना समस्त मनुष्यों का जीवन नीरस और निरानन्द बनकर सदा के लिये नष्ट हो जाए। इसलिये संसार में बलात्कार करना बड़ा बुरा माना जाता है। बलात्कार करने

वाले पर प्रायः मनुष्य रुष्ट होकर विरुद्ध हो जाते है और उस बलात्कार को रोकने का यत्न करते हैं। यदि वह नहीं मानता दिखाई देता है, तो उसको बलात्कार या अन्य प्रकार से हानि या दु.ख आदि पहुँचाकर नष्ट करने का यत्न किया जाता है।

(२ बलात्कार में कर्मों की पर्ति न करना)—

यदि कोई मनुष्य किसी स्त्रीका बलात्कार से अपहरण करता है या उसके साथ बलपूर्वक (उसकी इच्छा के बिना) काम-क्रीड़ा करता है तो एक तो उसे उतना आनन्द नहीं आ सकता, जितना उसे उस (स्त्री) की प्रसन्नता में आना चाहिए। दूसरे वह स्त्री चाहे भी जितनी उसके विरुद्ध हो सकती है। जिससे ज्ञात नहीं कि बलात्कारी को कितना भयंकर परिणाम भोगना पड़े ? तीसरे अन्य लोगों को ज्ञात होने पर वे कितनी हानि पहुँचाएंगे…? कुछ कहा नहीं जा सकता। वे चाहे भी जितनी उसे हानि पहुँचा सकते हैं। चौथे जब लोगों को ज्ञात हो जाएगा कि उसने अमुक स्त्री पर बलात्कार किया है, तो वे उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे। पाँचवें जब वह किसी स्त्री पर बलात्कार करके उसका आनन्द-भोग करना चाहता है, तो वह अन्य प्रकार की वस्तु और व्यक्ति पर भी बलात्कार करके उसका भोग करना चाहेगा। परिणाम यह होगा कि वह शीघ्र से शीघ्र नष्ट कर दिया जाएगा। छठे बलात्कार करने से उसकी बुद्धि जड़ होकर कुण्ठित हो जाएगी और यह भी हो सकता है कि उसमे क्षोभ उत्पन्न हो

जाने से वह सदा दुःखी बना रहे। अतः इन सब कुपरिणामों से बचने के लिये साधक को चाहिए कि वह स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये बलात्कार में कर्मों की पूर्ति न करे।

---

७. अकस्मातिक कर्मों में पूर्ति न करना—

(१ अकस्मातिक कर्मों की पूर्ति से फल की अप्राप्ति)

प्रायः ऐसा होता है कि लोग, स्त्री के सन्मुख आने पर, उसे प्राप्त करने के लिये अचानक आंतरिक या बाह्य कुछ न-कुछ कर्म करने लग जाते हैं। पर अचानक कर्म की पूर्ति करने से पूर्ति नहीं हुआ करती। वास्तव में पूर्ति तो भली प्रकार से विचार करके कर्म करने से हुआ करती है या किसी के द्वारा भली प्रकार से निश्चित कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होने से हो सकती है, अकस्मातिक कर्मों में नहीं। जबतक पूर्ति नही होती, तबतक फल की प्राप्ति नहीं होती और अकस्मात् में कर्मों की पूर्ति होना संभव नहीं। इसलिये अकस्मात् में कर्मों की पूर्ति करने से फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(२ अकस्मातिक कर्मों में पूर्ति न करना)—

अतः अकस्मातिक कर्मों में पूर्ति करने से न तो स्त्री ही प्राप्त होगी और न हि उसके आनन्द भोग। अकस्मातिक कर्मों में पूर्ति का यत्न करने से स्त्री-सुख तो प्राप्त होगा नहीं; हाँ, उसके इस सहित सम्पूर्ण सुख-आनन्द अवश्य क्षीण नष्ट हो

जाएंगे। यदि उसे कदाचित अकस्मातिक कर्मों में पूर्ति होकर स्त्री और उसके कामोपभोग प्राप्त भी होजाएं, तो यह कुपथ त्यागना अत्यधिक कठिन हो जाएगा और बहुत संभव है कि वह अन्य वस्तु की प्राप्ति में भी इसी कुपथ को ग्रहण करले। जब वह अन्य विषयों की प्राप्ति में भी इसी कुपथ को ग्रहण कर लेगा, तो उसके सम्पूर्ण सुख-आनन्द शीघ्र से शीघ्र बिदा हो जाएगे। अत साधक को चाहिए कि स्त्री या काम क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये अकस्मातिक कर्मों मे पूर्ति न करे।

अनियम के प्रकारों या दूषित-कर्मों पर विहंगम दृष्टि—
(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस छठे अध्याय के पूर्व-भाग में कर्मों के अनियम या दूषित कर्मों के प्रकारों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है कि पुरुष स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये किस-किस प्रकार के दूषित कर्मों में पूर्ति करने लग जाता है और उसका क्या दुष्परिणाम होता है ? अब इस पूर्व-भाग के विषय पर विहंगम दृष्टि से विचार कर लेते हैं।

उपरोक्त अविधि, चोरी, कृपा, अनिश्चयात्मिक आदि दूषित कर्मों में स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये पूर्ति नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के कर्मों में पूर्ति करने से वाञ्छित फल की प्राप्ति कदाचित् ही हो, परन्तु उसका दुष्परि- तो निश्चित ही है। पहले तो दूषित कर्म करने वाले का

वीर्य क्षीण होकर उसमें निर्बलता आ जाएगी। जिससे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन कारणों से—कर्मों की पूर्ति करने में—असमर्थता या शिथिलता आ जाती है और मनुष्य को आलस्य आने लगता है। दूसरे दूषित कर्म-कर्ता को—अन्य प्रकार के कर्मों के फलों की प्राप्ति मे देर होने या विकृत फल के प्राप्त होने या असफल होने पर—स्वयं पर क्षोभ, ग्लानि आदि होती है। तीसरे उससे सामाजिक व्यक्ति भी रुष्ट हो जाते हैं। जब उनकी उससे आवश्यकता पूरी नहीं होती या विकृत रूप में पूरी होती है, तो या तो वे उसे अपना सहयोग (वस्तु, क्रिया और सम्मति आदि) न देंगे अथवा उसे हानि पहुंचाएंगे। चौथे उसे अपने कर्मों में स्वयं विश्वास न रहेगा और उसके न होने से दूषित (असत्) कर्म-कर्ता अपने-आप ही दग्ध होता रहेगा अथवा वह ज्ञान हीन होकर नष्ट हो जाएगा। अतः साधक को चाहिए कि उपरोक्त चोरी आदि दूषित कर्मों में स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये पूर्ति न करे।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के छठे अध्याय के पूर्व-भाग को समाप्त किया जाता है। इससे आगे उत्तर भाग का आरंभ किया जाएगा।

छठे अध्याय का पूर्व-भाग समाप्त

शुभम्

छठे अध्याय का उत्तर भाग

भूमिका

इस छठे अध्याय के पूर्व भाग में उन अनियम या दूषित प्रकारों का वर्णन कर आया हूँ, जिन में कर्मों की पूर्ति न करनी चाहिए। अब इस उत्तर-भाग में उन नियमों या निर्दोष प्रकारों का वर्णन किया जाएगा, जिनमें साधक को कर्मों की पूर्ति करनी चाहिए। इन कर्मों की साधना से साधक को निर्दोष-फल की अवश्य प्राप्ति होगी। नियम या निर्दोष कर्मों के प्रकार तो बहुत हैं, परन्तु यहां सात प्रकार के निर्दोष कर्म वर्णन किये जाने पर्याप्त समझे जाएगे। जिन मे सब से पहला प्रकार विधि में कर्मों की पूर्ति करना है। इसलिये पहले इसी का वर्णन किया जाता है।

१. विधि में कर्मों की पूर्ति करना—

इस निर्दोष प्रकार का पहले भी कई बार वर्णन हो चुका है, पर प्रसंगवश यहा भी वर्णन कर देना आवश्यक हो जाता है। इस परिच्छेद के शीर्षक का पूरा अर्थ यह है कि विधि मे सब प्रकार के कर्मों की परिणाम में पूर्ति करने से फल की प्राप्ति होती है। यदि इन कर्मों में से एक प्रकार के कर्म की भी विधि से परिमाण में पूर्ति न होगी, तो-भी किसी प्रकार की वस्तु या फल प्राप्त न होगा।

स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है कि विधि से परिणाम में ही कर्मों की पूर्ति करनी चाहिए। विधि में कर्मों की पूर्ति न करने से अभीष्ट फल की तो प्राप्ति होगी नहीं; हां, इस सहित सम्पूर्ण सुख और आनन्द क्षीण तथा नष्ट अवश्य हो जाएंगे।

---

२. अचोरी में कर्मों की पूर्ति करना—

(१. अचोरी में कर्मों की पूर्ति करने से घबराना)—

किसी भी प्रकार के फल की प्राप्ति के लिये उसकी कर्म-विधि की साधना करनी पड़ती है। यह कर्म-विधि दूषित और निर्दोष दो प्रकार की होती है। हमे दूषित कर्म-विधि को छोड़ कर निर्दोष कर्म-विधि को अपनाना है। इस निर्दोष कर्म-विधि में दूसरा प्रकार अचोरी में कर्मों की पूर्ति करना आता है। अब इस प्रसंग में इसी का वर्णन किया जाएगा। अचोरी में कर्मों की पूर्ति करने से मनुष्य घबराता है क्योंकि वह यह समझता है कि इस प्रकार की पूर्ति में वांछित-फल प्राप्त न होगा। दूसरे यदि वह होगा तो देर में या कम परिमाण में होगा, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। इस मार्ग को अपनाने से अधिक से अधिक और शीघ्र से शीघ्र वांछित-फल प्राप्त होगा, अकस्मात् की बात दूसरी है।

दूसरों को सुख-आनन्द प्राप्त करने का मार्ग बतलाएगा। अतः साधक को चाहिए कि स्त्री को पाने या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने के लिये अचोरी में कर्मों की पूर्ति करे।

---

३. अकृपा में कर्मों की पूर्ति करना—

निर्दोष कर्मों में पूर्ति करने का एक प्रकार 'अकृपा में कर्मों की पूर्ति करना' भी है, जो तीसरी प्रकार का नियम कहलाएगा। अब इसी प्रकार का वर्णन किया जाता है।

साधक जब स्त्री की कृपा पर निर्भर न रहेगा—उसकी कृपा में उसको पाने या भोगने की इच्छा से कर्मों की पूर्ति न करेगा—तो अभी ऊपर वर्णित "अचोरी में कर्मों की पूर्ति करना" शीर्षक विषय के गुण उसमें निर्भयता, कर्मशीलता, आत्म-विश्वास, शांति और वांछित-फल आदि स्वयमेव आ जाएगे। परन्तु साधक आरम्भ में इस (अकृपा) प्रकार को अपनाते हुये घबराता है, क्योंकि उसे स्त्री के रुष्ट होजाने का भय है। किन्तु जबकि उसमें उक्त गुण आ जाएंगे तो घबराने की कोई बात नहीं रह जाती। दूसरे जो दोष स्त्री की कृपा के अंतर्गत कर्मों की पूर्ति करने से आजानेवाले थे, उनसे भी वह दूर रहेगा। अर्थात स्त्री के डर से कॉपना अकर्मण्यता और चिन्ता आदि दोष दूर भाग जाएंगे। वह शात होकर कर्मठ बनेगा। तीसरे

 वह स्त्री विषय में अकृपा मे—कर्मों की पर्ति करेगा तो उसे

उसमे पूर्ति करने का अभ्यास होजाएगा और अभ्यास होजाने से साधक मे तीसरा गुण यह आजाएगा कि वह अन्य प्रकार के फलों की प्राप्ति मे भी अकृपा से ही कर्मों की पूर्ति करने लगेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि उसे उसके जीवन को सुख और आनन्द रूप बनानेवाली समस्त सामग्री प्राप्त हो सकेगी। जिससे साधक का जीवन प्रशांत बन जायगा। अतः उसे चाहिए कि स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने के लिये स्त्री की अकृपा में ही कर्मों को पूर्ति करे।

---

४. निश्चयात्मिक कर्मों में पूर्ति करना—

निर्दोष कर्मों के प्रकारों मे चौथा प्रकार 'निश्चयात्मिक कर्मों मे पूर्ति करने' का है। अब इसी प्रकार का वर्णन किया जाता है।

(१. निश्चयात्मिक कर्मों का अर्थ)—

कौन स्त्री प्राप्त होगी और कौन नही? किससे कामोपभोग किया जा सकता है और किससे नहीं? अभीष्ट सिद्धि के लिये किस प्रकार का कर्म मार्ग अपनाना चाहिए और किस प्रकार का नहीं? उस कर्म मार्ग मे किस-किस प्रकार का कर्म कितने-कितने परिमाण मे होना चाहिए और किस-किस काल तथा किस-किस परिस्थिति मे होना चाहिए? जब इस प्रकार से निर्णय करके साधक किसी एक परिणाम पर पहुँच जाता है, तो वह निश्चयात्मिक कर्म कहलाता है।

(२ निश्चयात्मिक कर्मों में पूर्ति करना)—

जब पुरुष किसी स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने के सम्बन्ध में निश्चय किये हुये या निश्चय करके कर्म करेगा, तो उसे अवश्य वांछित फल की प्राप्ति होगी। निश्चयात्मिक कर्मों में पूर्ति करने से साधक को वांछित फल की तो प्राप्ति होगी ही, साथ ही उसमें शान्ति आ विराजेगी। दूसरे निश्चयात्मिक कर्मों में पूर्ति करने से वह अनिश्चित कर्मों और उनके दोषों से दूर रहेगा। इस प्रकार निश्चयात्मिक कर्मों को करते-करते उसे उस प्रकार के कर्मों का अभ्यास हो जाएगा। जो उसे अन्य विषयों में भी निश्चयात्मिक कर्म करने के लिये प्रवृत्त करता रहेगा। जब साधक के सब विषयों (आवश्यकताओं) के कर्म निश्चयात्मिक होंगे, तो उसे सब प्रकार के वांछित फल भी निश्चित रूप से मिलेंगे। यदि किसी कारण से कोई फल न-भी मिले, तो-भी, उसका अंतःकरण शांत रहेगा। अतः साधक को चाहिए कि वह स्त्री और अन्य विषयों के सुख-आनन्द प्राप्त करने के लिये निश्चयात्मिक कर्मों में ही पूर्ति करे।

---

५. अपेक्षाकृत कर्मों में पूर्ति करना—

अब निर्दोष कर्मों के प्रकारों का पाँचवे प्रकार 'अपेक्षाकृत कर्मों में पूर्ति करना' का वर्णन किया जाता है।

(१. अपेक्षाकृत कर्मों की परिभाषा)—

जब मनुष्य दो कर्मों की—कौन कर्म हमें सफल बनाएगा

तथा कौन असफल ? कौन सुविधाजनक है तथा कौन असुविधाजनक ? कौन हमारे उद्देश्य के अनुसार है और कौन पृथक् ? इत्यादि तुलना करके कर्म करे तो अपेक्षाकृत कर्म कहलाता है।

(२ अपेक्षाकृत कर्मों से पूर्ति करना)—

—इस प्रकार से मनुष्य जब तुलना करके कर्म करेगा, तो उसे क्यों न सफलता मिलेगी ? अर्थात् मिलेगी और शीघ्र मिलेगी। स्त्री और उसके साथ काम-क्रीड़ा के सम्बन्ध में भी जब पुरुष इसी प्रकार से कर्मों की अपेक्षा करेगा, तो उसे इस विषय में भी अवश्य सफलता मिलेगी। दूसरे जब वह स्त्री-विषय में कर्मों की अपेक्षा करेगा, तो अन्य प्रकार के फलों की प्राप्ति में भी कर्मों की अपेक्षा करने लगेगा। क्योंकि उसे इस प्रकार के कर्म करने का स्वभाव तथा अनुभव हो जाएगा और उसे अपेक्षा करने का आनन्द आ जाएगा। जब मनुष्य सब प्रकार के विषयों में कर्मों की अपेक्षा करके पूर्ति करने लगेगा, तो उसे शीघ्र से शीघ्र सब प्रकार के सुख और आनन्द मिलने लगेंगे। इसलिये साधक को चाहिए कि वह स्त्री और काम-क्रीड़ा की प्राप्ति के लिये अपेक्षाकृत कर्मों से पूर्ति करे।

— ——

६. अबलात्कार या सरलता से कर्मों की पूर्ति करना—

निर्दोष नियमों में एक नियम 'अबलात्कार या सरलता से कर्मों की पूर्ति करना' है, जो छठा नियम कहलाएगा। अब इसी का वर्णन किया जाता है।

(अबलात्कार या सरलता की परिभाषा)—

जब किसी पर बल का प्रयोग न हो—अर्थात् किसी के प्रति विद्या, बुद्धि शरीर, समाज, जन समूह तथा राज आदि की शक्ति का लोभ से व्यवहार न किया जाए और उस प्रकार का भाव भी न रहे--तो वह अबलात्कार या सरलभाव कहलाता है। सरल भाव से किये हुये निश्चय को अहिंसक-निश्चय भी कह सकते हैं। इस अबलात्कार या सरलता को अपनाने से साधक सत्य को सरलता से पा सकता है।

जब इस निश्चय के अनुसार पुरुष स्त्री और उसके साथ काम-क्रीडा पाने के लिये अबलात्कार या सरलता में कर्मों की पूर्ति करेगा, तो उसे सरल सुख-आनन्द मिलेगा। इस प्रकार करते-करते जब साधक को अभ्यास हो जाएगा, तो वह अन्य प्रकार के फलों की प्राप्ति में भी सरलता से कर्मों की पूर्ति करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि उसका मन और बुद्धि सरलतम हो जाएंगे और वह सरलतम आनन्द का अनुभव करता हुआ प्रशांत बन जाएगा। वह दूसरों को प्रिय लगने लगेगा। वह संसार का हो जाएगा और संसार उसका हो जाएगा। अतः साधक को चाहिए कि स्त्री या उसके कामोपभोग को पाने के लिये अबलात्कार या सरलता में कर्मों की पूति करे।

———

७. अनकस्मातिक या सदैव कर्मों में पूर्ति करना—

मनुष्य सुन्दर पदार्थ को देखकर और उससे लुभाकर अचानक उसकी प्राप्ति के लिये कर्मों की पूर्ति करने लगता है या अकस्मातिक कर्मों की पूर्ति मे फल की प्राप्ति की इच्छा करता है अथवा वह चाहता है कि अचानक वांछित-फल की प्राप्ति हो जाए। परन्तु इस प्रकार के कर्मों मे पूर्ति करने से या इस प्रकार चाहने से किसी फल की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार से तो वांछित-फल अचानक कभी ही प्राप्त हो। ऐसे फल से तो सदा के लिये आवश्यकता पूरी नही हो जाती। सदैव आवश्यकता पूरी होने के लिये सदा ही कर्म-पूर्ति करने की आवश्यकता है। अतः सदैव ही कर्मों मे पूर्ति करके फल की प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए। निर्दोप सात प्रकारों मे से यह अन्तिम सातवाँ प्रकार है।

उपरोक्त नियम के अनुसार ही स्त्री या उसकी काम क्रीड़ा पाने के लिये सदैव कर्मों मे पूर्ति करनी चाहिए जब साधक स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये सदा कर्म-पूर्ति करेगा, तो उसे सदा ही स्त्री या काम-क्रीडा प्राप्त होती रहेगी। उसके लिये यह न होगा कि वह अकस्मात् ही प्राप्त हो। इस प्रकार साधक स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द सदा भोगता रहेगा। दूसरे स्त्री विपय मे सदैव कर्म पूर्ति करने का अभ्यास हो जाने से अन्य विपयों मे भी सदा कर्म-पूर्ति करने लग जाएगा।

जिसका परिणाम होगा कि उसे स्त्री-सुख के साथ-साथ अन्य सब प्रकार के सुख आनन्द भी सदा प्राप्त होते रहेंगे। अत साधक को चाहिए कि स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये अनकस्मातिक या सदैव कर्मों में पूर्ति करे।

नियम या निर्दोष कर्मों के प्रकारों पर विहगम दृष्टि—

इस छठे अध्याय के उत्तर-भाग मे नियमों या निर्दोष कर्मो के प्रकारों का वर्णन किया गया है। जो विधि, अचोरी अकृपा, निश्चयात्मिक, अपेक्षाकृत, अबलात्कार और सदैव कर्मों में पूर्ति करना नामों से उल्लिखित है। जिनको साधक सिद्ध करने से वांछित-फल को अवश्य प्राप्त होगा। उसे स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द अधिक से अधिक और शीघ्र से शीघ्र अवश्य मिलता रहेगा, अकस्मात् या प्रारब्धवश न मिले तो बात दूसरी है। दूसरे इन नियमों या निर्दोष साधनों को सिद्ध करने से साधक अनेक गुण सम्पन्न भी होगा। उसमें निर्भयता, कर्मशीलता, आत्म-विश्वास और शांति आ जाएगी। साथ ही वह निरोगता, शक्ति और किसी गुणनिधि से विभूषित भी होगा। उसके सरलभाव हो जाएंगे। उसका किया हुआ निश्चय अहिंसक होगा। वह सरलतम आनन्द का अनुभव करता हुआ प्रशांत बन जाएगा। यदि उसे किसी कारणवश वांछित-फल -भी प्राप्त हो, तो-भी उसका अंत करण शांत रहेगा। अत.

साधक को इन नियमों या निर्दोष कर्मो के प्रकारों का प्रयत्न से अवश्य साधन करना चाहिए।

छठे अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस छठे अध्याय के दो भाग किये गये है, पूर्व-भाग और उत्तर-भाग। पूर्व-भाग मे उन दोषी कर्मो के प्रकारों का वर्णन किया गया है, जिनको अनियम कहा गया है। अनियमों से स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये कर्मो मे पूर्ति करने से उसकी अप्राप्ति और अनेक प्रकार से हानि तथा दुःख उठाने पड़ते हैं। एवं ऐसा भी हो सकता है कि मनुष्य नष्ट भी हो जाए।

उत्तर-भाग मे उन निर्दोष कर्मो के प्रकारो का वर्णन किया गया है, जिनको हमने 'नियम' नाम से बतलाया है। उन नियमों मे कर्मो की पूर्ति करने से वांछित-फल की अधिक से अधिक और शीघ्र से शीघ्र प्राप्ति होगी। साथ ही अनेक प्रकार के सुख प्राप्त होते हुये जीवन आनन्द का धाम बन जाएगा। इसलिये साधक को स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये नियमों में कर्मो की पूर्ति करनी चाहिए।

(कर्मयोग)—

इस छठे अध्याय मे कर्मयोग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। इस अध्याय मे दोषी और निर्दोष कर्मों के दो भाग करके उनके

प्रकार छांटे गये हैं। प्रत्येक प्रकार में दोष और गुण बतलाये गये है कि किस प्रकार को अपनाने से साधक में क्या दोष और क्या गुण हो जाते है? इसके साथ जहाँ तहाँ प्रसंगवश कर्मयोग की अन्य अनेक आवश्यक बातें भी बतलाई गई है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के छठे अध्याय को मांगलिक रूप में समाप्त किया जाता है।

छठा अध्याय समाप्त

शुभम्

सातवां अध्याय

भूमिका

इससे पूर्व अध्याय में स्त्री को या उसके साथ कामोपभोग प्राप्त करने के लिये अनियम तथा नियम या दोषी और निर्दोष कर्मो के प्रकारों का वर्णन किया गया है, जो कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखता है। अब इस सातवें अध्याय में इस विषय पर कुछ विशेष प्रकाश डाला जाएगा। इसका यह प्रयोजन नहीं है कि अन्य अध्यायों में कर्म-विषय पर पर्याप्त प्रकाश नहीं मिलेगा। मिलेगा, परन्तु प्रसगवश यहा कुछ विशेष पाया जाएगा या अनुभव होगा।

कर्म की परिभाषा—

किसी वस्तु, गुण, क्रिया, इनके योग और योग से उत्पन्न फल एव उनके संस्कार को कर्म कहते है।—

कर्माधीन जगत्—

—इन कर्मों के आधीन ही समस्त जगत है। इनके अनुसार वह सुख-दुख फल का भोक्ता होता है, उन्नत-अवनत दशा को प्राप्त होता है और इन्हीं कर्मों के अनुसार बंध और मोक्ष को प्राप्त होता है। अतः मनुष्य के लिये इस कर्म के रहस्य का जानना आवश्यक हो जाता है। परन्तु इसको यथार्थ रूप से समझने और इसका कर्तव्याकर्तव्य जानने में बड़े बड़े विद्वान्, महात्मा और कर्मयोगी भी मोहित होजाते हैं। कर्मयोग के रहस्य को समझने में इतनी कठिनाई होने पर भी, मनुष्य यदि वास्तव में उसे जानने के लिये निरंतर प्रयत्न करे तो उसके लिये जानना कठिन भी नहीं रहता।

———

कर्मानुसार फल और उसकी महत्ता—

हमारे शास्त्रों में वर्णन आता है कि पुण्य-कर्म करने से मनुष्य को स्वर्ग मिलता है और जब तक उसके शुभ-कर्म क्षीण नहीं होते, तब तक पुण्यात्मा स्वर्गीय सुखों को भोगता रहता है। यदि कोई उसे उन सुखों से वंचित करना चाहे तो कर नहीं सकता। जब उसके श्रेष्ठ कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वह स्वर्ग से

नहीं रहने दिया जाता। यदि वह वहां रहने की इच्छा या प्रयत्न करे, तो उसे वहां से बलात् गिरा दिया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य नरक मे भी तभी तक रहता है, जबतक कि उसके नीच कर्म रहते हैं। जब भोगते भोगते मनुष्य के पाप-कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो उसके नरक में रहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती और उसे फिर से कर्म करने के लिये संसार मे भेज दिया जाता है। यदि कोई जीव चाहे कि मैं सदा नरक लोक मे ही रहूँ, तो-भी, पाप-कर्म (अशुभ कर्म) के क्षीण होने पर वह उस लोक मे नहीं रहने दिया जाता। पर ऐसा चाहेगा ही कौन…? क्योकि समस्त जीव ही तो सुख-आनन्द की प्राप्ति का इच्छा करते हैं और दुःख, सन्ताप तथा व्याकुलता आदि की निवृत्ति की। इतना कहने का प्रयोजन यह है कि यह सब कर्म ही की विशेषता है, न-कि मनुष्य की। इस प्रकार हम कर्म की विशेषता, महत्ता, शक्ति एव प्रभुता का दर्शन करते हैं।

आज जब हम ससार की ओर आँख फैलाकर देखते है तो ज्ञात होता है कि पहले कभी जो पश्चिमीय देश जंगली-से, अनपढ़-से थे और जिन के जीवन-निर्वाह की सामग्री भी अल्प सख्या में, अपरिमार्जित तथा अपूर्ण थी। आज वे-ही उन्नति-शील कर्म या पुरुषार्थ का आश्रय लेकर उन्नत तथा शिक्षित हो रहे है और अपने जीवन की सामग्री भी पर्याप्त सख्या तथा पर्याप्त मात्रा मे परिमार्जित करके वे अपनी आवश्यकता पूरी कर रहे हैं और दूसरों को भी करा रहे हैं। या वे अपने कर्मों के

बल से इतने शक्तिशाली हो गये हैं कि दूसरों को उन्नति करने का अवसर ही नहीं मिलने देते। जब हम इन पश्चिमीय देशों के सामने पूर्वीय देशों के भारत को रखते हैं तो ज्ञात होता है कि आज भारत कितनी पतनावस्था में चला गया है और चला जा रहा है। जो कभी पहले शिक्षा, ज्ञान और जीवन की सामग्री प्रस्तुत करने में शिरोमणि समझा जाता था; आज वह परमुखापेक्षी हो रहा है। इस पतन का कारण क्या है···? उत्तर मे कहा जाएगा कि उसके कर्म। पहले; भारत ने उत्पादक, उच्च और उन्नतिशील कर्मों को अपनाया था। जिससे जीवन की अनेक प्रकार की सामग्री उत्पन्न होकर सुन्दर और परिमार्जित बन गई थी। पश्चात् उसने उन्नतिशील कर्मों को छोड़ दिया और पूर्वजों की सम्पन्न सामग्री को तो भोगना चालू रखा ही। पूर्वजो ने जीवन व्यवस्था की जो मर्यादाए बाँधी थी वे रूढिवद्ध हो गई। उनमे विकास होने से रह गया। परिस्थितियों से परिवर्तन आता गया। अत: वे रूढ़िवद्ध मर्यादाएं विकारित हो चली। परन्तु भारत ने अपनी रूढ़ियों मे परिवर्तित-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन नही किया। परिणाम यह हुआ कि वह परिवर्तित-परिस्थिति के साथ-साथ न चल सका और उसका जीवन चीत्कार कर उठा। फिर भी उसके दृढ़ उपासक अपनी रूढ़ियों के प्रति दृढ़-भक्ति का परिचय देते ही रहे। पर संसार परिवर्तन शील है। वह किस से बँधा हुआ नहीं चलता। अंत में रूढ़ि के उपासकों की सन्ताने दीन, हीन और नत-मस्तक होकर

और लक्ष्य का वर्णन किया गया है। अगले आठवे अध्याय में अपने मुख्य विषय को हस्तगत करते हुये कर्मयोग के किन-किन तत्वों के सम्पादन की आवश्यकता होगी, उनमें से कुछ का वर्णन किया जाएगा। इस अध्याय के विषय के वर्णन का यह प्रयोजन नहीं है कि यह विषय अपने मुख्य विषय से सम्बन्ध नहीं रखता। रखता है, परन्तु अपने मुख्य विषय का स्मरण नहीं किया गया है। पाठक या साधक अपने मुख्य विषय को सिद्ध करने के लिये जब भी आवश्यकता हो, तभी इन तत्वों का उपयोग कर सकता है।

यह अध्याय कर्मयोग से सीधा तथा स्पष्ट सम्बन्ध रखता है जिसका शीर्षकों और उनके विवरणों से ज्ञान हो जाता है।

अब 'मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के सातवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

सातवाँ अध्याय समाप्त

शुभम्

आठवाँ अध्याय

इस आठवे अध्याय मे हम अपने मुख्य विषय को स्मरण करते हुये उसको सिद्ध करनेवाले अन्य तत्वो का वर्णन करते है।

कर्म संग्रह की आवश्यकता—

हमे किसी स्त्री को प्राप्त करने या उसके साथ काम क्रीड़ा करने के लिये कर्मो की पूर्ति की आवश्यकता होती है। कर्मो की पूर्ति तब होती है, जब विभिन्न प्रकार के आवश्यक कर्म संग्रह हों। यदि कर्म संग्रह ही न होंगे, तो उनके बिना पूर्ति ही किस प्रकार से होगी ?

अत. साधक को चाहिए कि वह वांछित-फल भोगने की इच्छा से कर्मो की पूर्ति करने के लिये विविध प्रकार के उपयोगी कर्म संग्रह करे।

स्त्री और उसके प्रियजनों को हानि न हो—

छठे अध्याय मे जहाँ सात नियमों या निर्दोप कर्मों के सात प्रकारों का वर्णन किया गया है, वहाँ इस अध्याय मे एक यह भी नियम या निर्दोप कर्मो का प्रकार है कि स्त्री से कर्मों की अनुकूलता देखते हुये या पूर्ति करते समय किसी स्त्री की हानि या उसे किसी प्रकार का दुःख न हो।

पुरुष जब अनेक स्त्रियों में से किसी अनुकूल स्त्री को अपने सम्बन्ध के लिये छाँटता है, तो उसे अनेक स्त्रियों के सम्पर्क में आना पड़ता है। या स्त्री पुरुष किसी परंपरा में बद्ध हों, तो उस परंपरा के अनुसार उनका सम्बन्ध होता है। जब ऐसी परंपरा जो हितैपियों तथा कुटुम्बियों से सम्बन्ध रखती हो, तो स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध उनके हितैषी और कुटुम्बी ही करेंगे। ऐसी परम्परा में कुटुम्बियों और हितैपियों को अनेक लड़कियों तथा लडकों और अनेक स्त्रियों तथा पुरुषों के सम्पर्क में आना पड़ता है। उस समय किसी को भी मानसिक, शारीरिक, सामाजिक या वैयक्तिक किसी भी प्रकार की हानि नहीं होनी चाहिए। कोई स्त्री या कन्या (कुमारी) किसी भी पुरुष के सम्पर्क में आती है, तो उसे विश्वास होता है कि मुझे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचेगी। यदि उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचती है, तो उसके विश्वास पर आघात पहुँचता है। ऐसा होने पर कोई भी लड़की या स्त्री उस (पुरुष) के पास न आएगी। जिससे वह किसी को अपने अनुकूल न चुन सकेगा। दूसरे वह विश्वास-घाती बन जाएगा। जब उसे इस प्रकार का अभ्यास हो जाएगा, तो वह अन्य प्रकार के विषयों में भी सम्पर्क रखनेवाले व्यक्तियों के साथ इसी प्रकार का विश्वासघाती व्यवहार करने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि उसका साथ देना सब लोग छोड़ देंगे। और वह अन्य मनुष्यों की सहायता के बिना नितांत दुःखी होकर घुट-घुटकर मरेगा।

अतः किसी स्त्री को अपने अनुकूल चुनते समय उसे या उसके प्रियजनों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचनी चाहिए। यदि उसने इस प्रकार का अभ्यास कर लिया, तो उसे वांछित-स्त्री चुनने का सुन्दर अवसर मिलेगा। दूसरे वह सभ्य कहलाएगा। तीसरे उसे मानसिक सन्तुष्टि भी होगी कि मेरे द्वारा किसी को हानि नहीं पहुँची। अतः साधक को चाहिए कि किसी स्त्री को अपने अनुकूल छाँटते हुये उसे या उसके सहयोगियों को किसी प्रकार की हानि न हो।

———

पूर्ति के समय कामवेग को सहन करना—

जब तक विधि में सब प्रकार के कर्मों की परिणाम में पूर्ति नहीं हो जाती, तबतक स्त्री और उसकी काम-क्रीड़ा प्राप्त न होगी। और पूर्ति अपने आदर्श के अनुसार होनी चाहिए। अतः जबतक कर्मों की अपने आदर्श के अनुसार विधि में पूर्ति न हो, तबतक काम-वेग को सहन करना चाहिए। यह सहन दो प्रकार का होता है, असमर्थ होकर और समर्थ होकर।

(१. असामर्थिक सहन त्याज्य)—

असमर्थ होकर काम-वेग को सहन करने में स्त्री या काम-क्रीड़ा के सुख सहित अन्य सब प्रकार के सुख क्षीण होते रहते हैं और हो सकता है कि वे सदा के लिये ही क्षीण तथा नष्ट हो जाएं।

असमर्थ होकर सहन करने मे वीर्य क्षय होता है। जिससे अशक्तता रोग, कायरता, आलस्य, उदासीनता, खिन्नता और क्षुब्धता आदि दोष आ जाते हैं। इन दोषों के आने से स्त्री और उसके कामोपभोग के प्राप्त होने में देर लगती है। दूसरे असमर्थ होकर काम-वेग सहन करने में स्त्री और उसके कामोपभोग भी अधिक रमणीय तथा अधिक आनन्द देने वाले प्राप्त नहीं होते। तीसरे जब पुरुष इस विषय में असमर्थ होकर सहन करेगा तो संभव है कि वह अन्य विषयों मे भी असमर्थ होकर सहन करने लगे। जब वह सब प्रकार के विषयों में ही असमर्थ होकर सहन करने लगेगा तो उसमे अशक्तता आदि दुर्गुण अपना घर कर लेंगे। और वह निस्तेज तथा अपमानित होकर एव वांछित-फल से रहित होता हुआ, सदा दुःखी बना रहेगा। और वह शीघ्र ही सदा के लिये परलोक गमन कर लेगा। इसके साथ ही वह संसार मे अपने कर्मों की कालस छोड़ जाएगा। अतः साधक को चाहिए कि असमर्थ होकर काम-वेग को सहन न करे।

(२. सामर्थिक सहन ग्राह्य)—

मनुष्य जानता है कि जब तक कर्मों की पूर्ति न होगी, तब तक फल की प्राप्ति न होगी। इस लिये जब तक फल की प्राप्ति न हो, तब तक उसके भोगने के भाव के वेग को सहन करना चाहिए। असमर्थ—सहन में तो मनुष्य यह जानते हुये भी कि

सहन करना चाहिए पर कर नहीं सकता। वह प्रवृत्त हो ही जाता है, अर्थात् वह भोगने का यत्न प्रयत्न करने लगता है। चाहे वह किसी भी कारण से स्त्री को न भोग सकता हो और वह कारण राजकीय, सामाजिक, शारीरिक, आर्थिक, भौतिक मानसिक दूरता और सिद्धान्तिक आदि मे से कोई भी हो सकता है। पुरुप को असमर्थ-सहन मे किसी-न-किसी विवशता से काम-वेग का सहन करना पड़ता है। इसी प्रकार सामर्थिक सहन में भी काम-वेग को सहन करने के उक्त कारण ही होते है, पर उस में जब मनुष्य विचार कर लेता है कि अमुक समय तक काम-वेग को सहन करना चाहिए; भोगने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना चाहिए तो वह उस समय तक उस ओर (विषयों के भोगने) का चिन्तन नहीं करता, निर्लिप्त रहता है। और निर्लिप्त रहता हुआ साधक अपने कर्म की साधना करता हुआ चला जाता है अर्थात् अपने कर्मों को विधि में पूर्ति करता हुआ और अपने आदर्श को दृष्टि में रखता हुआ आगे बढ़ा चला जाता है। जब उसे फल प्राप्त हो जाता है, तब वह उसे आनन्द के साथ आवश्यकतानुसार भोग लेता है। यदि उसे वह-फल नहीं प्राप्त होता, तो वह उसकी सिद्धि में जो कमी रहती है, उसके दूर करने के लिये संलग्न हो जाता है। समर्थ होकर कामवेग को सहन करनेवाला पुरुष किसी के आगे दीन नहीं होता। उसे तो एक ही धुन रहती है कि कर्म उत्पन्न तथा संग्रह करना और उनकी साधना करके यथोचित रूप में पूर्ति करना।

इस प्रकार समर्थ-सहनी स्वयं सतेज, सशक्त, बुद्धिमान, पुरुषार्थी और कर्तव्यशील बनता है। और दूसरों को यह मार्ग दिखलाता है। अब समर्थ सहन के विषय को समाप्त किया जाता है। पर आगे आने वाले अनेक अध्यायों में इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला जाएगा। अब इस प्रसंग को यह कहकर समाप्त किया जाता है कि साधक को चाहिए कि वह जबतक विधि से और अपने आदर्श के अनुसार कर्मों की पूर्ति न हो जाए तबतक समर्थ होकर कामवेग को सहन करे। जब उसे कामविषय में सफलता मिल जाएगी तो वह अन्य विषयों में भी अपने भाववेगों को समर्थ होकर सहन करने लगेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि वह सब विषयों में सशक्त, बुद्धिमान, सतेज, पुरुषार्थी और कर्तव्य शील बन जाएगा। और उसका समस्त जीवन सानन्द व्यतीत होने लगेगा।

आठवें अध्याय पर विहगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग)—

इस आठवे अध्याय में स्त्री या काम क्रीड़ा के प्राप्त करने के लिये किन-किन कर्मों के प्रकारों की आवश्यकता है, उन में से कुछेक का वर्णन किया गया है। वे प्रकार साधक को अपने वांछित-फल की ओर अग्रसर करते हैं। उन प्रकारों या तत्वों के नाम ये हैं—(१) 'कर्म संग्रह की आवश्यकता' (२) 'स्त्री और

उसके प्रियजनों को हानि न हो' और 'पूर्ति के समय कामवेग को सहन करना'। वह-सहन किस प्रकार का हो? यह भी वर्णन किया गया है।

इस अध्याय में जो तत्व स्त्री या काम-क्रीड़ा को प्राप्त करने के लिये वर्णन किये गये हैं, वही तत्व कर्मयोग के भी हैं।

अब 'मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के आठवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

आठवाँ अध्याय समाप्त

शुभम्

नवां अध्याय

भूमिका

अबतक यह वर्णन किया गया है कि स्त्री या काम-क्रीड़ा में जिस सुख-आनन्द की प्रतीति होती है उसे मन का स्फुरण ही देता है न-कि स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा, किसी एक प्रकार के कर्मों की पूर्ति होने ही से स्त्री या उसके साथ काम क्रीड़ा या वांछित-फल प्राप्त नहीं होता, हम स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त होने से रुक सकते हैं, विधि में सब प्रकार के कर्मों की परिणाम में पूर्ति करनी चाहिए, किस प्रकार के कर्मों में पूर्ति करनी चाहिए और किस प्रकार के कर्मों में नहीं। यह भी वर्णन

किया जा चुका है कि कर्म करते हुये अपना लक्ष्य उद्देश्य में स्थापित रहना चाहिए। वह स्पष्ट हो और मान भी होता रहे। कर्म की सिद्धि के लिये अन्य अनेक तत्वों का भी वर्णन किया जा चुका है। जैसे कर्म का संग्रह करना, स्त्री या उसके प्रियजनों को हानि न पहुँचाना और कामवेग या भाववेग को सहन करना। इस प्रकार से स्त्री, या उसका कामोपभोग या वांछित-फल को प्राप्त करने के लिये इनके अतिरिक्त अन्य अनेक जहाँ-तहाँ कर्म के तत्व वर्णन किये गये हैं और उनकी व्याख्या भी की गई है। जब इस प्रकार से पुरुष स्त्री और उसके कामोपभोग पाने के लिये प्रयत्न करता है तो उसे आशंका हो जाती है कि इस मार्ग से स्त्री तथा उसकी भावना की अवलेहना होती है, उसका तिरस्कार होता है। और कर्मयोग की प्रधानता हो जाती है। उसकी प्रधानता होने से स्त्री के रुष्ट हो जाने की संभावना है। यदि वह रुष्ट हो जाएगी, तो मुझे वांछित-फल प्राप्त न होगा। परन्तु वास्तव में देखा जाए तो ऐसी कोई बात नहीं है। क्योंकि कर्मयोग ही से फल की प्राप्ति होती है। इसलिये उससे साधक को स्त्री और उसके कामोपभोग अवश्य प्राप्त होंगे। अत. साधक को चाहिए कि वह अपने कर्मयोग में ही लगा रहे।

१. शक्ति-गुण होने से स्त्री या काम-क्रीड़ा का प्राप्त होना—

यदि किसी को सन्देह हो कि स्त्री की उपेक्षा करके शक्ति-

गुण के उपार्जन में लगे रहने से स्त्री मुझ से रुष्ट हो जाएगी और उससे काम-क्रीड़ा का आनन्द नहीं मिलेगा। परन्तु वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है क्योंकि उसे भी सुख-आनन्द की आवश्यकता है और वह सब प्रकार का सुख-आनन्द अपने-आप में न पाकर दूसरों से ग्रहण करती है। जब दूसरों के पास शक्ति-गुण होगा, तो उसे दूसरों से अवश्य प्रसन्न होना पड़ेगा। यदि वह दूसरों के पास नहीं है, तो लाख चिन्तन, चेष्टा और अनुनय-विनय से भी प्रसन्न न होगी। अतः उसकी रुष्टता और प्रसन्नता का ध्यान न करके साधक को शक्ति-गुण का सम्पादन करना चाहिए। दूसरे वह रुष्ट भी हो जाएगी तो क्या है···? यदि अपने पास शक्ति-गुण है तो पहले-तो वही प्रसन्न हो जाएगी, यदि वह प्रसन्न न भी होगी तो अन्य स्त्री प्रसन्न होगी—कोई न कोई होगी अवश्य। यदि अपने पास शक्ति-गुण नहीं है, तो जो प्रसन्न है वह-भी रुष्ट हो जाएगी। इसलिये दूसरे की प्रसन्नता-रुष्टता का चिन्तन नहीं करना चाहिए। तीसरे अपने को प्रयोजन गुण से है न-कि विशेष स्त्री से; अर्थात् स्त्री और काम-क्रीड़ा से है, न कि अमुक स्त्री से, जब हमारे पास शक्ति-गुण होगा, तो कोई न-कोई स्त्री या किसी न किसी के साथ काम-क्रीड़ा की प्राप्ति अवश्य होगी। इसलिये साधक को चाहिए कि वह शक्ति तथा गुण का संग्रह करे और स्त्री के रुष्ट तथा प्रसन्न होने का चिन्तन न करे।

(व्यभिचार-प्रसार की शङ्का का निवारण)—

यदि कोई महानुभाव काम-क्रीड़ा ही काम क्रीड़ा की बातें पढ़कर व्यभिचार फैलने या सामाजिक अव्यवस्था होने की आशंका करे तो युक्त न होगा। इस ग्रंथ के सम्यक् प्रकार से अध्ययन और मनन करने के उपराँत ज्ञात होगा कि यह ग्रंथ ब्रह्मचर्य को स्थापित करने वाला और सामाजिक व्यवस्था को सुधारु रूप से संचालन करने वाला है।

कर्म-रहस्य

२. कर्म में होने से स्त्री या काम-क्रीडा की अवश्य प्राप्ति—

(१ संसार में कर्म ही से प्राप्ति)—

पुरुष यह जानता है कि शक्ति और गुण प्राप्त करना चाहिए। इन्हीं से स्त्री और काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त होगा। पर जब वह शक्ति तथा गुण के संग्रह में लग जाता है तो फिर उसके मन मे आशंका उत्पन्न होजाती है कि इस विधि से तो मैं स्त्री से पृथक् हो जाऊँगा। वह मुझे परित्याग कर देगी और मुझसे रुष्ट हो जाएगी। परन्तु उसे ऐसी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संसार में किसी को कुछ मिलता है, वह [illegible]ि-गुण या कर्म ही से मिलता है।

(२ तीन प्रकार के कर्म और उनकी व्याख्या)—

उक्त वाक्य को [illegible] दिया जाता है कि "संसार में किसी

को कुछ मिलता है, वह कर्म ही से मिलता है।" वह कर्म चाहे प्रारब्ध रूप मे हो और चाहे वर्तमान रूप में। शास्त्रों में ऐसा माना गया है कि संचित कर्मों मे से एक कर्म-वेग उठता है और वह जीव को अपना उत्थान-पत्तन और सुख-दुःखादि का फल भुगतवाता है। भोगने के उपरांत वह-कर्मवेग नष्ट होजाता है। जिसे प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। फिर संचित-कर्म में से दूसरा एक-कर्मवेग उठता है और उसे जीव को भुगतना पड़ता है। इस प्रकार जीव प्रारब्ध कर्म के अनुसार सुख-दुःख आदि भोगता रहता है। वर्तमान-कर्म को भी जीव भुगतता है। जो वर्तमान कर्म भुगतने से रह जाता है, वह संचित-कर्मों में आकर एकत्रित होजाता है। यह संचित-कर्म अनेक जन्मों का संग्रहित कर्म होता है। इस प्रकार शास्त्रों के अनुसार जीव कर्म-चक्र मे घूमता हुआ अनेक सुख-दुःख तथा उत्थान-पतन आदि फलों को अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु यदि पुनर्जन्म पर विश्वास न भी किया जाए, तो-भी जीव को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार पदार्थों और क्रियाओं का संग्रह होता रहता है। वे पदार्थ और क्रियाएं समय असमय मे अपना गुण प्रकट करते रहते हैं। जिनसे कर्म-कर्ता मनुष्य सुखी-दुःखी, सफल-असफल और उन्नत-अवनत होता रहता है। उन्हीं गुणों के प्रकट होने से मनुष्य बंध और मोक्ष को प्राप्त होता रहता है। यह बंध-मोक्ष आध्यात्मिक, शारीरिक, सामाजिक और राजकीय आदि अनेक प्रकारों का

होता है। इस प्रकार से मनुष्य (जीव) संचित, प्रारब्ध और वर्तमान तीनों प्रकार के कर्मों के फलों को भोगता रहता है और इन तीनों प्रकार के कर्म-चक्रों में घूमता रहता है।—

(३, संस्कार का अर्थ)—

—इन्हीं कर्मों के प्रतिबिंब चेतना या अंत.करण में पड़ते रहते हैं, जो स्थिर होकर 'संस्कार' कहलाने लगते हैं।

(४. मन की परिभाषा)—

जब संस्कार फुरने लगते है, तब चेतना को 'मन' संज्ञा होजाती है।

(५. बुद्धि की परिभाषा)—

जब चेतना किसी स्फुरण के द्वारा किसी विषय (वस्तु आदि) का निश्चय करने लगती है, तो वह बुद्धि कहलाती है।

जब चेतना में संस्कार फुरते हैं, तो उनमे कोई व्यवस्थितता नहीं होती। उनमें कोई क्रम नहीं होता। उनमें व्यवस्थिता और क्रम बुद्धि लाती है।

(६. चित्त की परिभाषा)—

जब चेतना में जान-बूझकर किसी विषय का वारंबार स्फुरण किया जाता है, तो वह स्फुरण (चिन्तन) चित्त कहलाने लगता है।

(७. अहंकार या जीव की परिभाषा)—

जब चेतना में कर्ता-भोक्ता भाव होता है, तो वह चेतना 'अहंकार' या 'जीव' कहलाने लगती है।

इस प्रकार मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार या जीव मिलकर चतुष्टय अंतःकरण कहलाएगा। यदि जीव को अहंकार से पृथक् संज्ञा दी जाए तो मूल-चेतना ही 'जीव' कहलाएगी।—

(८ कर्म की प्रक्रिया या गतिशीलता)—

—इस प्रकार जो जो क्रियाएं चेतना में होती रहती हैं, वे-वे इन्द्रियों पर आती रहती हैं और वे उन से कर्म करवाती रहती है। जैसा इन्द्रियों के द्वारा कर्म होता है, उसी के अनुसार वस्तु की उत्पत्ति संग्रह, योग और उस योग से फल निकलता रहता है। जिसे कर्ता या जीव को भोगना पड़ता है। कोई भी वस्तु या क्रिया हो, वे अपना कुछ न कुछ गुण तो रखती ही हैं। जिस मनुष्य ने जो कुछ संग्रह किया है, वह अपना गुण प्रकट करेगा ही। उन गुणों का प्रकट होना ही उसके कर्ता या संग्रहकर्ता को सुख-दुःखदायी बनेंगे और उसके कार्य में साधक या बाधक होंगे। वे उसको अपने कर्म-मार्ग में सुलझाएंगे या उलझाएंगे। जिससे उसे सफलता या असफलता मिलेगी। जिनका प्रतिबिंब चेतना पर पड़ेगा। जब वह प्रतिबिंब चेतना पर पड़ेगा तो वह प्रेम हर्ष शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा और निर्वेद आदि भावों में परिणत हो जाएगा। मनुष्य उक्त जिन भावों से प्रभावित होगा, वे भाव उसके शारीरिक अंगोंसे विशेषकर मुख से प्रकट होने लगेंगे। साथ ही वह उन भावों से सुखी-दुःखी और व्याकुलता-आनन्द में लहराने लगेगा। इस प्रकार मनुष्य को आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार से अपने कर्मों का भोग

भोगना पड़ेगा। उससे वह बच नहीं सकता। वह बचकर जा भी कहाँ सकता है? क्योंकि उसके कर्म उसके शरीर और चेतना या अंतःकरण के परमाणु-परमाणु मे व्याप्त है।

(६. स्वभाव की परिभाषा)—

जो कर्म स्थायी रूप धारण कर लेता है, वह 'स्वभाव' कहलाता है।

—(संसार स्वभावाधीन)—स्वभाव का परिवर्तन करना सरल कार्य नहीं है, अत्यन्त कठिन है। इस स्वभाव के वश क्या देवता क्या ऋषि-मुनि, क्या मनुष्य, क्या विद्वान्, क्या महात्मा, क्या नेता, क्या जनता, क्या पशु और क्या पक्षी आदि समस्त ससार है। पर निरन्तर वास्तविक प्रयत्न किया जाए तो स्वभाव का भी परिवर्तन हो सकता है। इस स्वभाव के अनुसार ही कर्म होता रहता है।

जैसा कर्म होता है, उसका दूसरों पर भी प्रभाव पड़ता है। दूसरो पर जैसा प्रभाव होता है, उसी के अनुसार वह (दूसरा) कर्म करने लगता है। वह कर्म पहले व्यक्ति के अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी एवं वह सम अवस्था में भी रह सकता है अर्थात् न वह अनुकूल रहे, न प्रतिकूल। अतः इतने [illegible]न से सिद्ध हो जाता है कि कर्म का फल कर्म-कर्ता को अवश्य [illegible]ोगना पड़ता है।

(१०. कर्म-रहस्य का सार)—

अतः कर्म के रहस्य को जानने के उपरांत स्पष्ट हो जाता है कि कर्म का फल कर्म-कर्ता मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। इसलिये बड़ी सावधानता के साथ कर्म का साधन करना चाहिए।

(११. कर्म में होने से स्त्री या काम-क्रीड़ा की अवश्य प्राप्ति)—

कर्म का रहस्य जानने के उपरांत साधक को चाहिए कि वह अपने कर्म का चिन्तन करे, न-कि किसी स्त्री के रुष्ट होने या प्रसन्न होने का। यदि कर्म में स्त्री और उसके कामोपभोग पाना है तो अवश्य पाएगा। जिससे और जितने परिमाण में पाना है, उससे तथा उतने ही परिमाण में पाएगा। यदि कर्म में स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख आनन्द पाना नहीं है या वांछित स्त्री को और वांछित परिमाण में पाना नहीं है, तो वह लाख चिन्तन-चेष्टा-इच्छा-यत्न से भी उससे प्रेम-सम्बन्ध और भोग न कर सकेगा। ऐसी परिस्थिति में स्त्री या काम-क्रीड़ा की प्राप्ति का चिन्तन चेष्टा, इच्छा और यत्न करना सब व्यर्थ होगा। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, उसे जो स्त्री सुख-आनन्द प्राप्त होने वाला है, उस सहित सम्पूर्ण सुख-आनन्द भी नष्ट हो जाएंगे। अतः साधक को चाहिए कि वह स्त्री और उससे सुख की प्राप्ति का

चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करके अपने कर्म के साधन का चिन्तन चेष्टा इच्छा और यत्न करे।

—(संचित कर्म और उसका उपयोग)—संचित कर्म के विषय में कुछ ऊपर लिख आए हैं और यहाँ भी कुछ लिख देना आवश्यक समझते हैं। जो महानुभाव परलोक या पुनर्जन्म को नहीं मानते, उनके लिये संचित-कर्म उस प्रकार का एकत्रित कर्म मानना चाहिए जो उसके द्वारा और अन्य के द्वारा किया जाए। जो शारीरिक-मानसिक, कौटम्बिक, पारिवारिक साम्प्रदायिक राजकीय, स्वदेशिक, परदेशिक, गृहीत और अगृहीत आदि सभी प्रकार के कर्म हो सकते है। जिनसे मनुष्य घिरा हुआ रहता है। शारीरिक और मानसिक कर्म के अतिरिक्त इस प्रकार के संचित कर्म को वातावरण या परिस्थिति कर्म भी कह सकते हैं। इस सचित-कर्म के आधीन भी मनुष्य रहता है। अतः कर्मकर्ता को यह भी ध्यान रखना होगा कि मुझे किस प्रकार की परिस्थिति में रहना है। साधक जब तक अपनी परिस्थिति कर्म को अनुकूल नहीं बना लेता है, तब तक उसे अपनी कर्म-सिद्धि में देर लगेगी और हो सकता है कि वह अपने पथ से भ्रष्ट भी हो जाए। अत अपने कर्म-सिद्धि की सफलता के लिये साधक को अपने अनुकूल परिस्थिति या वातावरण बनाना होगा अथवा उस परिस्थिति या वातावरण को ढूंढकर उसमें रहना होगा।

३. प्रकृति में स्त्री और उसका कामोपभोग पाना होने से अवश्य प्राप्ति—

यदि प्रकृति में स्त्री और उसका कामोपभोग पाना हुआ, तो अवश्य प्राप्त होकर रहेगा। यदि प्राप्त होना नहीं है तो लाख चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न से भी प्राप्त न होगा। इसलिये दोनों ही दृष्टि से चिन्तन चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। प्रकृति में जिस स्त्री से प्रेम सम्बन्ध होने वाला है, उससे स्वयं ही हो जाएगा और जिससे होने वाला नहीं है; उससे लाख चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करने पर भी न होगा। दोनों दृष्टि से किस स्त्री से प्रेम-सम्बन्ध होगा और किससे नहीं? इत्यादि बातों का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना। जैसा भी होना होगा, स्वयं ही हो जाएगा। प्रकृति में जिस परिमाण से काम-क्रीड़ा प्राप्त होनी होगी, उस परिमाण से अवश्य प्राप्त हो जाएगा और जिस परिमाण से प्राप्त होती न होगी, उस परिमाण से तेरे लाख चिन्तन, चेष्टा इच्छा और यत्न करने पर भी प्राप्त न होगी। इस कारण दोनों दृष्टियों से चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है।

अत. स्त्री या काम-क्रीड़ा प्राप्त होगी या नहीं, किससे होगी और किससे नहीं, कितने परिमाण में होगी और कितने परिमाण में नहीं? इन दोनों पक्षों के लिये चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है क्योंकि प्रकृति में जैसा होना होगा, वैसा

अवश्य होकर रहेगा। यदि प्रकृति को अनहोनी बात चाहेगा तो परिणाम यह होगा कि जो-भो स्त्री या काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द होने वाला है, उस सहित सब प्रकार के सुख-आनन्द क्षीण और नष्ट अवश्य कर लेगा। अपने सब प्रकार के अधिक से अधिक तथा शीघ्र से शीघ्र सुख-आनन्दों को प्राप्त करने के लिये प्रकृति की दृष्टि से स्त्री के प्राप्त होने-न होने किससे काम क्रीड़ा करने-किससे नहीं और कितने परिमाण में होने-कितने मे नहीं का चिन्तन चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना।

(शंका निवारण)—

"शक्ति-गुण होने से स्त्री या काम-क्रीड़ा का प्राप्त होना" शीर्षक के अंतर्गत वर्णन किया गया है कि—

(१) 'शक्ति-गुण का संचय करना"

और 'कर्म से होने से स्त्री या काम-क्रीड़ा की अवश्य प्राप्ति" शीर्षक के अंतर्गत कर्म-रहस्य में वर्णन किया गया है कि--

(२) 'ससार में किसी को कुछ मिलता है, वह कर्म ही से मिलता है" और कर्म का फल कर्म-कर्ता मनुष्य को अवश्य भोगना पड़ता है। अत बडी सावधानता के साथ कर्म का साधन करना चाहिए"

परन्तु "प्रकृति मे स्त्री और उसका कामोपभोग पाना होने से अवश्य प्राप्ति" शीर्षक के अन्तर्गत यह वर्णित किया गया है कि—"

(३) "स्त्री या काम क्रीड़ा प्राप्त होगी या नहीं" "इन दोनों पक्षों के लिये चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है क्योंकि प्रकृति में जैसा होना होगा, वैसा अवश्य होकर रहेगा"

इस अध्याय मे उक्त पूर्व की दोनों बातों और उत्तर की तीसरी बात में परस्पर विरोध आता है, परन्तु ध्यान से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि उनमें कोई विरोध नहीं है। प्रकृति (ईश्वर) ने मनुष्य को अंत.करण और इन्द्रियाँ देकर संसार में भेजा है। जिससे वह शक्ति-गुण प्राप्त करे और कर्म का साधन करे। यदि मनुष्य प्रकृति या ईश्वर को ध्यान में रखकर शक्ति-गुण प्राप्त करता है और कर्म का साधन करता है तो 'नहीं करने' के समान ही है। क्योंकि वह अपनी ओर से तो कुछ करता ही नहीं है जो कुछ करता है प्रकृति की ही ओर से। जब वह प्रकृति ही की ओर से करता है तो कहा जा सकता है कि वह अपनी ओर से चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न कुछ नहीं करता और वह कुछ-नहीं करता हुआ भी सब-कुछ करता है, अर्थात् वह शक्ति-गुण भी प्राप्त करता है और कर्म-साधन भी। इस प्रकार पूर्व की दोनों बातों और उत्तर की बात में परस्पर कोई विरोध नहीं रहता। जो कुछ विरोध दिखाई देता है, उसका कारण यही है कि मनुष्य प्रकृति या ईश्वर को भूल-कर शक्ति गुण का सचय करने लगता है या कर्म-साधन में लग जाता है। ऐसी अवस्था में जब यह कहा जाएगा कि जो कुछ

प्रकृति में होना होगा, हो जाएगा, तो विरोध प्रतीत होने लगेगा। वास्तव में देखा जाए तो प्रकृति से बाहर कुछ नहीं हो रहा है। इस प्रकार पूर्व के दोनों पक्षों और उत्तर के प्रश्न में परस्पर कोई विरोध न रहकर, साम्यता आ जाती है। क्योंकि "शक्ति-गुण प्राप्त करना" और 'कर्म-साधन" तो, मनुष्य को अवश्य करना पड़ेगा, चाहे वह प्रकृति को भूले और चाहे स्मरण रखे। क्योंकि यह प्रकृति ही का स्वभाव है। यदि वह प्रकृति को स्मरण रखकर कर्म-साधन करेगा, तो उसे शांति-सन्तोष के साथ अधिक से अधिक और शीघ्र से शीघ्र वाञ्छित-फल मिलने की संभावना रहेगी। यदि वह प्रकृति या ईश्वर को भूलकर स्वयं कर्ता-भोक्ता बन जाता है, तो उसे अशांति-असंतोष के साथ कम से कम और देर से देर में वांछित-फल प्राप्त होगा। उक्त कर्म के साधन के दोनों प्रकारों में से कोई भी साधन अपनाया जाए, उन में परस्पर कोई विरोध नहीं है। केवल भेद इतना ही है कि प्रकृति को स्मरण रखना या उसे भूलकर स्वयं को तथा दूसरों को कर्ता-धर्ता मान लेना।

हमें तो प्रकृति को स्मरण रखकर ही कर्म की साधना करनी चाहिए कि—

'स्त्री या काम-क्रीडा प्राप्त होगी या नहीं" "इन दोनों बातों के लिये चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है क्योंकि प्रकृति में जैसा होना होगा, वैसा अवश्य होकर रहेगा।" और

"प्रकृति (ईश्वर) ने मनुष्य को अंतःकरण और इन्द्रियाँ देकर संसार में भेजा है। जिससे वह शक्ति-गुण प्राप्त करे और कर्म का साधन करे।"

नवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस नवे अध्याय मे यह वर्णन किया गया है कि स्त्री की रुष्टता तथा प्रसन्नता पर ध्यान न देकर शक्ति-गुण का संग्रह और कर्म-साधन करना चाहिए। एवं प्रकृति पर विश्वास रखना चाहिए। यदि पुरुष के पास शक्ति-गुण है, उसके कर्म और प्रकृति मे स्त्री या काम-क्रीड़ा का प्राप्त होना है तो उसे वह अवश्य प्राप्त होगा। साथ ही स्त्री को प्रसन्न भी होना पड़ेगा। यदि पुरुष के पास शक्ति-गुण नहीं है, उसके कर्म और प्रकृति में भी प्राप्त होना नहीं है तो न-तो उसे स्त्री की प्रसन्नता मिलेगी और न-हि काम-क्रीड़ा। अत. साधक को चाहिए कि वह स्त्री की रुष्टता-प्रसन्नता का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करे। और निरंतर शक्ति-गुण का संग्रह तथा कर्म-साधन करता हुआ प्रकृति पर विश्वास रखे।

(कर्मयोग)—

इस अध्याय मे कर्मयोग विषय पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। इस अध्याय में एक प्रकार से कर्म के रहस्य का भेद खुल

गया है। इस अध्याय में यह भी वर्णन किया गया है कि जब साधक--कर्म का साधन करते करते-करते क्षोभ, अशांति और सन्ताप आदि क्लेश से डगमगाने लगे तो वह किस प्रकार से उद्वेगों को शांत करके अपने कर्तव्य-मंच पर स्थिर हो सकता है। दूसरे इस अध्याय में शक्ति-गुण प्राप्त करने का सन्देश भी दिया गया है, जो कर्म-साधन का प्राण है। तीसरे इस अध्याय मे यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में जो-कुछ प्राप्त है, वह कर्म ही से। इस अध्याय मे सचित, प्रारब्ध और वर्तमान कर्म पर प्रकाश डालते हुये संस्कार और अंतःकरण की परिभाषाएं भी दी गई है। साथ ही कर्म की प्रक्रिया या गतिशीलता पर प्रकाश डालते हुये 'स्वभाव' विषय को भी समझाया गया है। इस प्रकार इस नवे अध्याय मे कर्म का रहस्य खोला गया है। कर्म-रहस्य के अतिरिक्त इस अध्याय में ऐसी अदृष्ट शक्ति की ओर भी सकेत किया गया है, जो समस्त ससार को अपने एक इंगित से नाच नचा रही है। इस रहस्यमयी शक्ति पर अगले दशवें अध्याय में प्रकाश डाला जाएगा। उक्त कारणों से यह नवाँ अध्याय कर्मयोग-विषय में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के नवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

नवाँ अध्याय समाप्त

शुभम

——

दशवां अध्याय

भूमिका

नवें अध्याय में प्रकृति का जो वर्णन आया है सो पाठक या साधक के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जबतक उसका अर्थ स्पष्ट न हो जाए, तबतक वह एक रहस्य ही रह जाता है। जो पाठक या साधक को उलझन में डाले रख सकता है। जिससे उसके पुरुपार्थ या कर्म-साधन करने में सदा बाधा ही बनी रह सकती है। अत बाधा रहित होने के लिये प्रकृति' को समझ लेना आवश्यक है।

प्रकृति या ईश्वर की परिभापा—

अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व मे जो उदय-लीन करने की शक्ति है अथवा संसार मे जो नानात्व दृष्ट आता है, उसके उदय-लीन करने की शक्ति या कारण को प्रकृति समझना चाहिए। अब इस बात के जानने की आवश्यकता है कि वह शक्ति या कारण क्या है...? जिसको 'प्रकृति' कहा जा सकता है। वह शक्ति या कारण अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व से भिन्न नहीं है। फिर भी विपय को समझने के लिये मूलरूप की कल्पना करली गई है। जो सांसारिक या हमारी दृष्टि से सत्य है। इस 'प्रकृति' को 'ईश्वर' संज्ञा भी दे सकते हैं।

प्रकृति या ईश्वर की परिभापा करते हुये अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व को एक संज्ञा ठहराई गई है। अब इन

संज्ञा का अर्थ समझ लेना चाहिए, नहीं-तो यह भी रहस्य बनी रहेगी और 'प्रकृति' का अर्थ भी भली-प्रकार से समझ में न आएगा। इन दोनों बातों का सम्यक् ज्ञान करने केलिये विस्तार मे जाना पड़ेगा। इससे दो लाभ होंगे; एक तो प्रकृति और तत्व के अर्थ का ज्ञान हो जाएगा, दूसरे ज्ञान का विस्तार होगा। जिसकी जहाँ-तहाँ आवश्यकता पड़ेगी।

अ० अ० अ०-व्या० तत्व पर प्रकाश—

अब प्रकृति और अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व का ज्ञान कराने के लिये अनेक उदाहरण देकर प्रकाश डाला जाता है।

दीपक—

दीपक में प्रकाश का गुण किसने रचा है ?

यदि यह कहो कि दीपक-में 'प्रकाश' का गुण रचने वाला स्वय वही है, तो एक-तो वह जड़ है, इसलिये वह किसी में गुण रचना नहीं कर सकता। क्योंकि गुण-रचना तभी हो सकती है, जबकि उसमें ज्ञान हो। ज्ञान उसमें है नहीं, तो वह गुण-रचना ही कैसे कर सकता है ? दूसरे उसे उस गुण का रचयिता मान भी लिया जाए तो वह अपने में अंधकार का, जलका और वायु आदि का गुण क्यों-नहीं रच लेता ? परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकता। इन कारणों से दीपक में जो 'प्रकाश-गुण' है, वह दीपक कृत नहीं है।

यदि यह कहो कि उस गुण को मनुष्य ने रचा है, तो

३३५

वह जल की कटोरी में क्यों-नहीं रच लेता ? पर वह ऐसा नहीं कर सकता। इसलिये दीपक में प्रकाश का गुण रचनेवाला मनुष्य भी नहीं है।

अतः सिद्ध होजाता है कि दीपक में 'जो प्रकाश-गुण' है, वह न दीपक कृत है और न मनुष्यकृत। वह-तो अपने स्वभाव ही से स्थिर है या प्रकृति कृत है।

२. भवन—

भवन में शीत, धूप, वर्षा और चोर आदि से रक्षा करने का गुण है। उन्हें किसने रचा ?

यदि कहो कि वे स्वयं-भवन के रचे हुये हैं, तो प्रथम-तो वह जड़ है क्योंकि उसमें किसी गुण के रचने का ज्ञान नहीं है। जबकि उसे ज्ञान ही नहीं है, तो वह अपने मे किसी गुण का निर्माण ही कैसे कर सकता है. ? दूसरे उसे उन गुणों का रचयिता मान भी लिया जाए तो वह अपने मे भोजन वस्त्र, जल और वायु आदि का गुण क्यों-नहीं रचे लेता ? परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकता। इसलिये कहा जा सकता है कि भवन में उक्त-गुणों का रचयिता वह-स्वयं नहीं है।

यदि यह कहो कि भवन में उक्त गुणों का रचयिता मनुष्य है क्योंकि वह चैतन्य है, उसमें ज्ञान है। परन्तु . वास्तव में देखा जाए, तो भवन में उक्त गुणों का रचयिता मनुष्य भी नहीं है। क्योंकि उसमें यह शक्ति होती तो वह भवन में भोजन,

वस्त्र और औषधियों आदि का गुण भी रच देता। पर वह ऐसा नहीं कर सकता है, इसलिये कहा जा सकता है कि भवन में उक्त गुणों का स्थापन करनेवाला मनुष्य भी नहीं है।

अतः सिद्ध होजाता है कि भवन में शीत, धूप, वर्षा और चोर आदि से रक्षा करने का गुण न-तो स्वयं भवन ने ही रचा है और न-ही मनुष्य ने। वे गुण तो स्वभाव से ही हैं या प्रकृति कृत हैं।

३. मनुष्य—

(१. मनुष्य में शक्ति, स्वयं उस कृत नहीं, प्रकृति कृत है)—

मनुष्य मे 'निर्माण' करने का गुण और 'उसकी उत्पत्ति' करने की ?

मनुष्य ने असख्य वस्तुए बनाईं और बना रहा है। वैज्ञानिक ढंग से तो वह ऐसी वस्तुएं बना रहा है कि दाँतों तले अंगुली दबाकर रहना पड़ता है। जिनके गुणों का वर्णन, पहले जहाँ कपोल-कल्पना माना जाता था; आज वे चरितार्थ हो रहे हैं। और-तो-क्या आज विज्ञान के द्वारा जो-भी संसार में हो जाए, थोड़ा माना जाता है। जहाँ पहले वायुयान, दिव्यास्त्र और दिव्यौषध शास्त्रीय शब्द-क्रीड़ा मानी जाती थी, आज उनमें पूर्ण यथार्थता प्रतीत होती है। इस प्रकार मनुष्य आज आश्चर्यजनक कार्य कर रहा है। उसमें इस प्रकार के निर्माण

करने का गुण या आश्चर्यजनक कार्य करने की कुशलता कहाँ से आई...?

हम ऊपर पढ़ आए है कि दीपक और भवन का निर्माण मनुष्य ने किया, परन्तु उनमें उनके गुणों का स्थापन उसके द्वारा नहीं हुआ। वे-तो उनमें अपने-आप ही से स्थिर हैं। उनके स्थिर होने का समय निश्चित रूप से कुछ नहीं बतलाया जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि सृष्टि-रचना के आदि मे किसी ने उनमें जो गुण स्थिर कर दिये; बस, वही आजतक चले आए है और जबतक सृष्टि चलती रहेगी तबतक वे गुण पदार्थों में बराबर बने रहेंगे! मनुष्य केवल उनका निश्चय करके पदार्थों और क्रियाओं का योग भर कर देता है और वे गुण प्रकट होने लगते है। यदि मनुष्य किसी गुण का रचने वाला होता, तो वह अपने ही में इच्छा और आवश्यकतानुसार गुण रच लेता । परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकता है क्योंकि उसमें अत्यल्प शक्ति है, अत्यल्प गुण है और अत्यल्प क्रिया है।—

(हाथी आदि का उदाहरण)—मनुष्य अपने को हाथी के समान शक्तिवाला नहीं बना सकता। वह अपने मे घोड़े के समान तेज और दूरतक दौड़ने की क्रिया नहीं ला सकता। वह अपने में पक्षी के उड़ने का गुण उत्पन्न नहीं कर सकता। उसमे सृष्टि के आदि मे जो गुण स्थापन कर दिये है या प्रकृति में उसके लिये स्थिर है; बस, वही गुण

उसमें रहते हैं। अतः कहा जा सकता है कि मनुष्य में जो गुण हैं वे अपने आप ही से हैं, अपने स्वभाव में स्थिर हैं; प्रकृति द्वारा रचे हुये हैं परन्तु; स्वयं उस कृत नहीं हैं। यदि उसमें कुछ परिवर्तन दिखाई भी देता है, तो-भी वह उसमें कुछ-नहीं करता। प्रकृति मे ऐसा परिवर्तन होना ही था। इस कथन की पुष्टि अन्य उदाहरणों से भी करते हैं।

(२. मनुष्य एक इन्द्रिय के कार्य को अन्य से नहीं कर सकता)—

मनुष्य एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर उसका कर्म अन्य इन्द्रिय से नही कर सकता। जैसे कर्ण इन्द्रिय का स्वभाव शब्द सुनना है। यदि कर्णेन्द्रिय नष्ट हो जाए, तो वह नेत्रेन्द्रिय से शब्द सुनने का कार्य नहीं कर सकता। यदि मनुष्य की वाणी-इन्द्रिय नष्ट हो जाए, तो उसके बोलने का कार्य हस्त-इन्द्रिय नहीं कर सकती और हस्त-इन्द्रिय नष्ट हो जाए, तो उसके पकड़ने का कार्य वाणी-इन्द्रिय नहीं कर सकती। अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो कर्म है उसको वही कर सकती है, अन्य नहीं। अत. मनुष्य एक इन्द्रिय के कार्य को अन्य इन्द्रिय से नहीं करा सकता और जिस इन्द्रिय का जो कार्य है, वह-कार्य भी मनुष्य कृत नहीं है। यदि मनुष्य कृत होता तो वह एक इन्द्रिय का अन्य इन्द्रिय से भी करा सकता। परन्तु मनुष्य कृत तो है ।, इसलिये वह एक इन्द्रिय का कार्य दूसरी इन्द्रिय से नहीं सकता। जबकि किसी भी इन्द्रिय का कार्य मनुष्य कृत नहीं

है तो कहा जा सकता है कि इन्द्रियें और उसका कार्य अपने-आप ही हुआ है, स्वभाव कृत है या प्रकृति कृत है।

इस अपने मत की पुष्टि के लिए हम और भी समझाते है।

(३. इन्द्रियाँ, अंतःकरण, स्वभाव और उनकी क्रियाएं भी प्रकृति कृत हैं)—

रज और वीर्य के मिश्रण से पिण्ड बना; कर्मेंद्रियाँ बनीं, ज्ञानेंद्रियाँ बनीं और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार या सुख-दुःख को भोगने वाला 'जीव' या 'मैं' बना। इसके अनन्तर इन तत्वों से युक्त पिण्ड गर्भ से बाहर निकला और सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कर्म करने लगीं। तदनन्तर मानसिक कर्म संग्रह हो जाने के उपरांत 'स्वभाव' बन गया अथवा ज्यों-ज्यों मानसिक कर्म संग्रह होने लगा, त्यों त्यों स्वभाव बनता चला गया। अब स्वभाव के आधीन मनुष्य कर्म करने लगा। उसके शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म स्वभाव के आधीन होने लगे। इच्छा तथा विचार के होने पर भी वह अपने स्वभाव के विरुद्ध कर्म-करने मे असमर्थ हो गया। वह स्वभाव उसको चाहे आनन्द के मार्ग पर अग्रसर करे, चाहे दुःख तथा क्लेश के पथ पर चलाए। मनुष्य की अपनी सामर्थ्य कुछ नहीं रही। वह स्वभाव चाहे समस्त संसार को मित्र बनाले, चाहे शत्रु। उस स्वभाव ही की प्रधानता हो गई। इस प्रकार मनुष्य स्वभाव के वश मे रहता हुआ और अपना जीवन व्यतीत करता हुआ कर्म करने लगा।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य को स्वयं उसने नहीं रचा और न-हि उसने अपने मे उक्त गुणों को स्थापन किये है। वे केवल अपने-आप हुये हैं, स्वभाव सिद्ध हैं या प्रकृति कृत हैं। परन्तु मनुष्य को यह भासता है कि मै स्वयं कर्ता-भोक्ता हूँ।

—(विषयके विस्तार करने के कारण)—संसार में जो कुछ भी हो रहा है अपने-आप से हो रहा है, स्वभाव से हो रहा है या यों कहना चाहिए कि प्रकृति से हो रहा है। इस मत की पुष्टि अन्य उदाहरणों को भी देकर कर रहे हैं। अन्य उदाहरण देने से ग्रथ का कलेवर अवश्य बढ़ जाएगा। जो कदाचित अनेक पाठकों या साधको को अरुचिकर हो, परन्तु ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि एक-तो अभ्यास होता है, दूसरे विषय को समझने में सरलता होती है और तीसरा एक कारण यह भो है कि सर्व-साधारण जनता को सरलता से ज्ञान हो सकता है।

४. गाय और ।।।। आदि—

गाय, घोड़ा और कुत्ता आदि पशु किसके द्वारा रचित ··? यदि यह कहा जाए कि उन्होंने स्वयं अपने-आपको रच लिया है, तो वे अपने-आप में पक्षियों के उड़ने का गुण क्यों- रच लेते·· ? परन्तु वे ऐसा नहीं कर सकते। और-भी, उनकी आँख फूट जाए तो वे अपनी अन्य आँख नहीं बना

सकते और न-हि देखने का कार्य अन्य इन्द्रियों से कर सकते है। इन बातों से सिद्ध होता है कि पशुओं ने अपने आप को स्वयं नहीं रचा है। वे अपने-आप से हुये है, स्वभाव से कार्य कर रहे हैं या वे प्रकृति से उत्पन्न हुए है और उसी से कार्य कर रहे हैं।

५. पृथ्वी—

पृथ्वी मे 'धारण करने' तथा 'अन्नादि को उत्पन्न करने' के जो गुण है, उन्हे किसने रचे ?

यदि यह कहो कि उसने स्वयं ही रचे हैं, तो पहले-तो पृथ्वी जड़ है। उसे किसी बात का अनुभव ही नहीं होता। जबकि उसे अनुभव ही नहीं होता, तो वह किसी वस्तु या गुण को अपने मे रच ही कैसे सकती है···? दूसरे यदि मान भी लिया जाए कि उसमें अपने-आप में गुण रचने की शक्ति है, तो वह अपने-आप मे जल और अग्नि आदि का गुण क्यों-नहीं रच लेती ? वह अपने-आप मे चेतनता क्यों-नहीं ले आती·· ? परन्तु वह ऐसा नही कर सकती है। इन कारणों से सिद्ध हो जाता है कि उसमे 'धारण-करने' तथा 'अन्नादि उत्पन्न करने' को जो गुण हैं—वे उसने अपने-आप मे स्वय नहीं रचे है, वे-तो अपने-आप ही से हुए है, स्वभावकृत हैं या प्रकृत कृत हैं।

६. जल—

जल मे 'भिगोने' का जो गुण है, वह किसने रचा ?

यदि यह कहा जाए कि जलने स्वयं इस गुण को अपने-

आप में स्थापन कर लिया है, तो पहले-तो यह कहा जाएगा कि उसमे चेतनता नहीं है। जिससे उसे किसी बात का ज्ञान हो। जब उसे किसी बात का ज्ञान ही नहीं तो वह अपने में किसी गुण को स्थापन ही कैसे कर सकता है···? दूसरे उसमें शक्ति हो-भी तो वह अपने-आप में पृथ्वी और अग्नि आदि का गुण क्यों-नहीं स्थापन कर सकता या बना सकता···? पर वह ऐसा नहीं कर सकता। अत. सिद्ध हो जाता है कि जल में जो 'भिगोने' का गुण है, वह स्वयं उस कृत नहीं है, अपने-आप से हुआ है, स्वभाव कृत है, प्रकृति कृत है।

७. अग्नि—

अग्नि में 'जलाने' का गुण है, वह किस कृत है ?

यदि यह कहा जाए कि उसी अग्नि कृत है तो अग्नि जड़ है। वह किसी गुण को अपने में कर नहीं सकता। यदि उसमें करने की शक्ति मान भी ली जाए तो वह अपने में पृथ्वी, जल और वायु आदि का गुण क्यों-नहीं रच लेता···? परन्तु यह ऐसा नहीं कर सकता। इसलिये 'जलाने' का गुण अग्नि में स्वयं उस कृत नहीं है। अत सिद्ध हो जाता है कि अग्नि में जो 'जलाने' का गुण है, वह अपने आप हुआ है, स्वभाव कृत है या प्रकृति कृत है।

८. वायु—

वायु में 'उड़ने' तथा 'उड़ाने' का गुण किस द्वारा स्थापन हुआ है ?

यदि यह कहा जाए कि वायु ने उक्त गुण को अपने-आप ही स्थापन कर लिया है तो पहले-तो वह जड़ है, अचेतन है और उसमे अनुभव करने की शक्ति भी नहीं है। इन कारणों से वह अपने-आप मे किसी गुण को स्थापन कर नही सकता। दूसरे उसमे किसी प्रकार स्थापन करने की शक्ति मान भी ली जाए तो वह अपने-आप मे पृथ्वी, जल, अग्नि और चेतनता आदि का गुण क्यों नहीं रच लेता··? परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकता है। अतः सिद्ध हो जाता है कि वायु मे 'उड़ने' तथा 'उड़ाने' का जो गुण विद्यमान है, वह स्वयं उस कृत नहीं है। उसमें ये गुण अपने-आप ही हुये है, स्वभाव कृत है या प्रकृति कृत हैं।

६. आकाश—

आकाश में उक्त चारों भूतों का 'परमाणु-रूप में धारण' करने का गुण है। वह किस कृत है?

यदि यह मान लिया जाए कि वह स्वयं उसी कृत है तो एक-तो आकाश जड़ है। जड़ वस्तु मे किसी गुण को रचने की शक्ति नहीं होती। इसलिये आकाश भी अपने मे किसी गुण को नहीं रच सकता। यदि उसमें किसी गुण को रचने की शक्ति मान भी ली जाए तो यह अपने मे पृथ्वी, जल, अग्नि और चेतनता आदि के गुण क्यों-नहीं रच लेता···? परन्तु वह

ऐसा नहीं कर सकता है। इसलिये सिद्ध हो जाता है कि आकाश में चारों भूतों के 'परमाणु रूप में धारण' करने का जो गुण है, वह स्वयं आकाश कृत नहीं है, अपने-आप ही हुआ है, स्वभाव कृत है या प्रकृति ने ही यह गुण उसमें स्थापन कर दिया है।

१०. सूर्य—

सूर्य में 'तेज और प्रकाश' का गुण है। इन गुणों को उसमें स्थापन करने वाला कौन है ?

यदि यह कहा जाए कि इस 'तेज और प्रकाश' के गुण को अपने में स्थापन करने वाला स्वयं सूर्य है; तो एक-तो वह जड़ है, उसमे चेतन शक्ति नहीं है, जिससे वह अनुभव कर सके। जबकि वह जड़ है तो वह अपने-आप में किसी भी गुण को स्थापन कैसे कर सकता है ? दूसरे यदि उसे अपने गुण का रचयिता मान भी लिया जांए, तो वह अपने में पृथ्वी और जल आदि का गुण क्यों-नहीं धारण कर लेता ? परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकता है और न वह अपने आप को चेतन या अनुभवशील बना सकता है। अतः सिद्ध हो जाता है कि सूर्य मे जो 'तेज' और 'प्रकाश' के गुण विद्यमान हैं वे उस कृत नहीं हैं। वे तो उसमें अपने-आप ही हुये हैं, स्वभाव कृत हैं या प्रकृति कृत हैं।

११. चन्द्र-मंगल आदि ग्रह और प्रकृति या ईश्वर—

सृष्टि में जितने भी चन्द्र, मंगल और बुध आदि ग्रह है और उनमे जो गुण हैं; उन्हे बनाने वाले वे स्वय नहीं हैं। वे तो अपने आप ही उनमे हो गए है या यों कहना चाहिए कि वे प्रकृति कृत हैं। यदि यह कहा जाए कि उनके एक दूसरे के विशेष आकर्षण से किसी-न-किसी गुण की उत्पत्ति हो जाती है, तो उस गुण की रचना करने वाला कौन हुआ ? क्या वे ग्रह ··? नहीं···। उस गुण को रचने वाली विधि है। उसको बनाने वाला कौन हुआ ··? क्या वे ग्रह ? नहीं ·। उस विधि को रचने वाला उस समय नहीं होता। वह विधि तो पहले ही से स्थिर है। उस विधि से जो गुण उदय होने-वाला है, वह भी पहले ही से स्थिर है। कदाचित् उस विधि और उस गुण को सृष्टि के आरम्भ मे रचा गया हो और उनको रचने वाली कोई ऐसी सत्ता हो, जिसको ईश्वर या प्रकृति नाम से सम्बोधन किया जा सकता है। जो अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व से भिन्न नहीं है। इस प्रकार एक बार विधि और गुण के स्थापन हो जाने के उपरान्त वे विधि और गुण समय असमय में प्रकट होने लगते हैं। और उस विधि के अनुसार ही ग्रहों का परस्पर आकर्षण होने लगता है। उस आकर्षण से नवीन गुण की उत्पत्ति हो जाती है। उसकी उत्पत्ति मे ग्रहों की अपनी कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि ऐसा होने का तो पहले ही विधान बना हुआ है। इन बातों से सिद्ध हो जाता है कि किसी भी

ग्रह में किसी भी गुण की रचना करने की अपनी शक्ति नहीं है, वे तो अपने आप ही हो रहे हैं, स्वभाव कृत हैं या प्रकृति-कृत है।

१२. वैज्ञानिक—

आधुनिक काल में विज्ञान का बड़ा महत्व है। इसके द्वारा वैज्ञानिक संसार मे चमत्कार पूर्ण कार्य करके दिखाते हैं। इस चमत्कारता से लोगों में ईश्वर सम्बन्धी विश्वास उठता जाता है और वे मनुष्य ही को ईश्वर समझने लगे है। परन्तु वास्तव मे या विचार पूर्वक देखा जाए, तो यह कुछ भी नहीं है।

(१. मनुष्य के लक्षण या गुण)—

वैज्ञानिक कौन है ? मनुष्य। मनुष्य के क्या लक्षण या गुण हैं ? वस्तु और क्रिया के गुण तथा स्वभाव का निश्चय करके उनका योग या मेल कर देना, न कि किसी वस्तु या क्रिया के गुण को रच देना। यही मनुष्य का लक्षण है। यह लक्षण या गुण, जब से सृष्टि चली आई है या आरम्भ हुई है, तब से चले आते हैं। और-तो-क्या, यही लक्षण जितने भी प्रकार के जीव हैं उन सब में पाये जाते है। परन्तु मनुष्य में यह विशेषता है कि निश्चय करके योग करने के ज्ञान की मात्रा अधिक है और प्रसंग भी मनुष्य ही का है। इसलिए यह लक्षण अन्य जीवों पर घटित होने पर भी, मनुष्य ही का जानना चाहिए।

(२. वैज्ञानिक मनुष्य है, प्रकृति या ईश्वर नहीं)—
अभी ऊपर कहे हुए लक्षण मे वैज्ञानिक आज तक परिवर्तन नहीं कर सका है और न-हि उसमे परिवर्तन होने की संभावना है। इस लक्षण के सहारे ही वह अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य कर सका है और कर सकने का सभावना है। वैज्ञानिक ने वायुयान बनाए, रेडियो बनाया, दिव्य शस्त्रास्त्र बनाए, दिव्य औषधियों का निर्माण किया और पता-नहा भविष्य मे क्या क्या बनाए? हो सकता है कि वह भविष्यत् मे जीव या मनुष्य भी निर्माण करले परन्तु वह अपने लक्षण या गुण का न छोड़ने के लिए विवश है, अर्थात् वह अपने गुण को नहीं छोड़ सकता क्योंकि उस गुण को प्रकृति ने निर्माण किया है। मनुष्य के पास जो लक्षण है, वह उसी के द्वारा अपने जीवन-साधनों का विकास करता आया है। वर्तमान काल में तो वह विकास की चरम सीमा की ओर बढ़ता जा रहा है। परन्तु वह वैज्ञानिक मनुष्य अपनी परिधि का उल्लंघन नहीं कर सका है और न-ही कर सकता है, अर्थात् वह किसी वस्तु और क्रिया के गुण तथा स्वभाव को परिवर्तन नहीं कर सकता। यदि वह किसी वस्तु के गुण को परिवर्तन करना चाहता है, तो यही कर सकता है कि अन्य वस्तु के गुणों का निश्चय करके पहली वस्तु के गुणों या वस्तु के साथ अन्य वस्तु के गुणों या अन्य वस्तु का योग कर दे। बस, उस योग में कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। वह प्रकट हो जाता है। यदि वांछनीय फल

हुआ, तो वैज्ञानिक उसे ग्रहण कर लेता है और वह उसका आविष्कर्ता माना जाता है अब विचार किया जाए कि यह जो नया गुण प्रकट हुआ है, क्या वैज्ञानिक ने उत्पन्न किया है . ? नहीं । यदि उसने उत्पन्न किया होता, तो वह किसी भी वस्तु में उस गुण को उत्पन्न कर देता। परन्तु उसने उस गुण को उत्पन्न नहीं किया है । उसने केवल निश्चय करके योगभर किया है कि किस वस्तु के मेल करने मे क्या गुण या वस्तु प्रकट होती है, जो पहले से स्थिर है ।

जो वस्तु या गुण पहले से स्थिर है, उसमें वैज्ञानिक का क्या निर्माणत्व ? वह-तो अपने-आप ही स्थिर है, स्वभाव से है या प्रकृति कृत है। इतनी विवेचना से स्पष्ट-हो जाता है कि वैज्ञानिक मनुष्य है, ईश्वर, प्रकृति या परमात्म सत्ता नहीं।

१२. हाँ उदाहरणों का सारांश—

हमने दीपक, भवन, मनुष्य, पृथ्वी, जल और सूर्य आदि के अनेक उदाहरण दिये हैं इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि ससार में कोई भी कुछ करता नहीं है, केवल अपने आप ही हो रहा है, स्वभाव कृत है या यों कहना चाहिए कि जो भी कुछ हो रहा है प्रकृति से हो रहा है।

प्रकृति का परिभाषा और उदाहरणों द्वारा ज्ञान कराने के उपरान्त अब अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व के स्वरूप का वर्णन किया जाता है।

अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व का स्वरूप—

हम अभी ऊपर पढ़ आये हैं कि दीपक, भवन, मनुष्य, पृथ्वी, जल और सूर्यादि ग्रह जितने भी या जो कुछ भी सृष्टि मे दिखाई देता है—उनकी उत्पत्ति नाश, क्षीण-वृद्धि, शक्ति और गुण आदि जो भी कुछ उन मे है—वह उन कृत नहीं है और न हि मनुष्य कृत है। वह तो उनमे अपने आप ही है, स्वभाव से है या यों कहना चाहिये कि उनमे जो कुछ भी हो रहा है, प्रकृति से हो रहा है। सब पदार्थों के शक्ति, गुण, आकार और क्रिया आदि सीमित है और वे अपनी सीमा के अन्तर्गत ही रहते हैं, उससे बाहर नही जा सकते। और न-हि कोई पदार्थ अन्य पदार्थ के शक्ति, गुण, आकार और क्रिया आदि ही धारण कर सकते है। उन पदार्थों का कार्य उन्हे प्राप्त शक्ति या गुण आदि को प्रकट करना होता है। इस प्रकार सृष्टि के एक छोर से दूसरे छोर तक तथा उससे भी परे तक जहां उस का अन्त न हो; वहाँ तक यह जो भी कुछ हो रहा है, अपने आप से हो रहा है, स्वभाव से हो रहा है या प्रकृति से हो रहा है। अर्थात् यहां से वहां तक जहा तक कि उसका अंत नहीं है—ऐसी अनन्त सत्ता में समस्त सृष्टि के पदार्थ या पिण्ड और उनकी शक्ति, गुण, क्रिया, योग एव उनको फल अपने-आप उदय लीन हो रहे है। वह यह सत्ता अद्वैत है, द्वैतता से रहित है। यह सत्ता सर्वत्र व्यापक है और खण्डता से रहित है, इसलिये अखण्ड भी है। इस सत्ता का अन्त नहीं है, इसलिये यह अनन्त है। अतः इस

सत्ता को अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व भी कह सकते है।

(अ० अ० अ०-व्या० तत्व में तरंगवत् सृष्टि का उदय-लीन होना)—

इस अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व में इस सृष्टि तथा परसृष्टि के पिण्ड तथा उनके आकार शक्ति, गुण, क्रिया, योग और उनके फल स्वयं उदय-लीन हो रहे हैं। जैसे समुद्र में तरंगें उदय-लीन होती हैं और उससे भिन्न नहीं हैं। उसी प्रकार सृष्टि भी अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व से भिन्न नहीं है, उसी का रूप है।—

जड़-चेतन जगत् और जीव-कर्म की अ० अ० अ०-व्यापक रूपता—

—इस अद्वैत, अखण्ड अनन्त-व्यापक तत्व के दो रूप है, अस्फुरण और स्फुरण। जब अस्फुरण होता है, तब नानात्व कुछ दृष्ट नहीं आता और जब स्फुरण होता है तो नानात्व जगत दृष्ट आने लगता है। स्फुरण होने पर नानात्व जगत में दो प्रकार के पिण्ड दृष्ट आने लगते हैं, जड़ और चैतन्य। जड पिण्ड न-तो अपने-आप से कुछ कर सकता है और न-कुछ अनुभव कर सकता है। दूसरे प्रकार का पिण्ड चैतन्य है। वह अनुभव कर सकता है, अपने आप से कर्म करने की सामर्थ्य रखता है, ऐसे पिण्ड में स्थित चैतन्य को 'जीव' कहते हैं, अर्थात जिस पिण्ड में चेतनता पाई जाए, उसे 'जीव' कहते हैं। यह

चेतनता (जीव) समस्त सृष्टि में व्याप्त है परन्तु प्रकट वहीं होती है, जहां उसे होना होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी और कीट आदि जितने भी प्रकार के जीव हैं; उन सब में चेतनता के गुण का एक ही स्वभाव है परन्तु मात्रा में न्यूनाधिकता है—कहीं उसमें अधिक अनुभूति होती है और कहीं कम। जिसके अनुसार वह कर्म करता रहता है। जब जीव का शरीर नष्ट हो जाता है, तो उसकी चेतनता आकाश में छिप जाती है या लीन हो जाती है, जिसकी अनुभूति नहीं होती—पर चेतनता होती है अवश्य। जहां जड़ पदार्थों में चेतनता प्रतीत नहीं होती, वहां भी वह होती है क्योंकि जड़ पदार्थों को खाकर चेतनता स्वस्थ और दीर्घ-जीवी होती है। इसलिये कहा जा सकता है कि चेतनता जड़ पदार्थों में भी होती है, परन्तु प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चेतनता या जीव समस्त सृष्टि में व्याप्त है और वह है एक—अद्वैत, अखण्ड, अनन्त, व्यापक। इस अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व का जीव कर्म करने लगता है जो कर्म अ० अ० अ०-व्या० तत्व से भिन्न नहीं है। क्योंकि एक तो इसी तत्व के अंश (जीव) के द्वारा किया हुआ कर्म होता है। जब कारण रूप जीव ही अ० अ० अ० व्या० तत्व है, तो उसका कार्य-रूप कर्म भी उससे भिन्न कैसे हो सकता है ? दूसरे इस अ० अ० अ०-व्या० तत्व से रिक्त कोई स्थान ही नहीं है, तो कर्म भी इस तत्व से रिक्त कैसे हो सकता है...? तीसरे कर्म की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही,

वह दूसरे के आधीन होकर अपने गुणों में वर्तता है। जिस कर्म में जो गुण स्थिर कर दिये है या स्थिर हो गये है; बस, वही उनमें रहते हैं। वे अपने-आप में किसी भी अन्य कर्म के गुण स्थापन नहीं कर सकते। इस प्रकार की परिस्थिति में समस्त प्रकार के कर्म—वह चाहे इस सृष्टि के भीतर हो, चाहे बाहर—अपने अपने गुण अपने-अपने स्वभाव से प्रकट करते रहते हैं। यह स्वभाव सत्ता अद्वैत, अखण्ड और अनन्त-व्यापक है। जब कि यह स्वभाव अ० अ० अ०-व्या० रूप है तो कर्म उससे भिन्न कहाँ हुए ? अर्थात् कर्म भी अ० अ० अ०-व्यापक रूप हैं।

(प्रकृति या ईश्वर)—उपरोक्त प्रकार से कर्म सर्वत्र नियन्त्रित रहते हैं, वह कर्म चाहे भौतिक हो या मानसिक। इन सर्वत्र व्यापक कर्मों को नियन्त्रण करनेवाली भी कोई सत्ता अनन्त-व्यापक है। जो अद्वैत रूप से विराजमान है, अखण्ड रूप है और ज्ञान स्वरूप है। जो सत्ता या तत्व जड़ तथा चेतन पिण्डों और कर्मों का समन्वय करती रहती है, उनमें कभी विरोध या विच्छेद नहीं आता—ऐसी समन्वय तथा नियन्त्रण करने वाले अ० अ० अ० व्या० तत्व या सत्ता को ईश्वर या प्रकृति कहते हैं।

(अ० अ० अ०-व्या० तत्व के व्यक्त और अव्यक्त के स्वरूप का स्वभाव)—

उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि जड़-चेतन पिण्ड और

कर्म अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व से भिन्न नहीं है। एक ही है। उस एक ही तत्व में जहां वृक्ष, बेल, पशु, पक्षी मनुष्य और सूर्यादि उदय-लीन होते रहते हैं; वहां उनके कर्म भी उदय-लीन होते रहते हैं। ये कर्म दो प्रकार के हैं, अज्ञान-कर्म और ज्ञान कर्म। अज्ञान कर्म में मनुष्य दुखी तथा व्याकुल रहता है और सत्य की प्राप्ति के लिए इधर-उधर भटकता है। ज्ञान कर्म में मनुष्य सुखी तथा शांत होता है और सत्यता को पाकर इधर उधर भटकने से रहित होता है। जीव को कर्म अवश्य करना पड़ता है। अज्ञानी तो अज्ञान से सुख दुःख पाकर, प्रफुल्लित तथा व्याकुल होता हुआ, मोहित होकर कर्म करता है और ज्ञानी कर्तव्य-भाव से कर्म करता है। कर्म दोनों को करना पड़ता है और करना भी चाहिए क्योंकि 'करने' का स्वभाव है, 'करना' प्रकृति में है। जब अद्वैत, अखंड, अनन्त-व्यापक तत्व अस्फुरण होता है; तब तो कुछ कर्तव्य करना नहीं और जब स्फुरण होता है, अर्थात् व्यक्त रूप में होता है तो कर्तव्य करना धर्म (स्वभाव) हो जाता है। व्यक्त में होने से व्यक्त का ही धर्म पालन होना चाहिए, न कि अव्यक्त का; अर्थात् पृथक्-पृथक् जीव होने से पृथक्-पृथक् कर्म करना चाहिए क्योंकि अ० अ० अ० व्या०-तत्व का यही स्वभाव है।

शंका निवारण—

(अ० अ० अ०-व्या० तत्व अपने में पूर्ण और स्थिर है)—

अद्वैत, अखंड, अनन्त व्यापक तत्व में जो स्फुरण होता है तो उस समय दो प्रकार के अपिंड और पिंड रूप से दर्शन होते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि क्या अपिंड और पिंड में अ० अ० अ० व्या० तत्व न्यूनाधिक है...? और क्या अ० अ० अ०-व्या० तत्व कहीं आता जाता है ...?

संसार के समस्त पदार्थ पृथ्वी तथा जल आदि, समस्त प्रकार की वस्तुए, इन्द्रियां और मन आदि अपने अपने गुण पूर्ण रूप से प्रकट कर रहे हैं। इसलिये अ० अ० अ० व्या० तत्व कहीं भी कम नहीं है। वह समान रूप से सर्वत्र व्यापक है और कहीं आता जाता भी नहीं है। परन्तु यह शंका होती है कि वह न्यूनाधिक रूप से आता जाता दिखाई देता है। इसका समाधान यह है कि अ० अ० अ० व्या० तत्व के स्वभाव से इन्द्रियों के द्वारा ऐसा दृष्ट आता है, वास्तव में वह कहीं न्यूनाधिक नहीं है और न-ही कहीं आता जाता है।

---

१. इन्द्रियों-द्वारा अ० अ० अ०-व्या० तत्व का आभास होता है—

अद्वैत, अखन्ड, अनन्त व्यापक तत्व का स्वरूप, स्वभाव, परिमाण और गतिशीलता आदि अनेक विशेषणों के जानने के

उपरान्त पाठक या साधक की यह इच्छा हो जाती है कि उस परमतत्व परमात्मा या परब्रह्म के दर्शन करूं। पर वास्तव में विचार और अनुभव करके देखा जाए तो ज्ञात होगा कि उस तत्व का दर्शन नहीं होता, वरन् आभास होता है। यदि हम उसका दर्शन ही करना चाहें तो कुछ खंडों का ही दर्शन कर सकते हैं। जिनके द्वारा उस परम रूप का आभास पाया जाता है जब वह आभास दृढ़ हो जाता है तो उसे दर्शन कहने लगते हैं। अब इस विषय को समझाने के लिये कुछ विस्तार मे जाना आवश्यक हो जाता है।

(१. इन्द्रियों के द्वारा दर्शन)—

मनुष्य को इन्द्रियों के द्वारा दर्शन होता है। इसलिए सब से पहले कर्णेन्द्रिय को लेते है। कर्णेन्द्रिय के द्वारा अ० अ० अ०-व्या० तत्व के शब्द रूप का दर्शन होता है। त्वचा इन्द्रिय के द्वारा अ० अ० अ०-व्या० तत्व के स्पर्श रूप का दर्शन होता है। नेत्रेंद्रिय के द्वारा अ० अ० अ०-व्या० तत्व के रूप विषय का दर्शन होता है। रसना इन्द्रिय के द्वारा अ० अ० अ० व्या० तत्व के रस रूप का दर्शन होता है और नासिका इन्द्रिय के द्वारा अ० अ० अ०-व्या तत्व के गंध-रूप का दर्शन होता है। इस प्रकार अ० अ० अ०-व्या० तत्व का पांच प्रकार से दर्शन होता है, पर खण्ड रूप में।

यदि गंभीरता पूर्वक विचार करके देखा जाए तो उक्त पांच प्रकार से जो खण्ड रूप में दर्शन होता है, वह भी वास्तव में

अखण्ड ही है, जैसे कोई मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो वह चारों ओर अखण्ड रूप से फैल जाता है, परन्तु भिन्न भिन्न मनुष्य को खण्ड रूप से सुनाई देता है। ग्राहक-रेडियो-यन्त्र मे किसी शब्द को उच्चारण करने से, वह उसे ग्रहण कर लेता है। और उसका शब्द समस्त ससार में फैल जाता है परन्तु सुनाई वहीं देता है, जहां उच्चारक-रेडियो यन्त्र होता है। अतः वह शब्द अखण्ड रूप में होता हुआ भी, खण्ड रूप मे सुनाई देता है और आकाश में लीन हो जाता है। त्वचा इन्द्रिय का विषय स्पर्श है। इस स्पर्श के भी दो रूप है। गतिशील और स्थिर। गतिशील स्पर्श में वायु का योग होता है और स्थिर स्पर्श में स्पर्श का पदार्थ से सम्बन्ध रहता है। जब स्पर्श गतिशील होता है तो वह अखण्ड रूप से होता है, परन्तु खण्ड रूप मे त्वचा इन्द्रिय के होने से वह खण्ड रूप मे प्रतीत होता है। स्थिर-स्पर्श का वस्तु से सम्बन्ध होता है इसलिये उसका अस्तित्व वस्तु के अस्तित्व से है। यदि वस्तु नष्ट हो जाए तो उसका स्पर्श-गुण या विषय भी नष्ट हो जाए। परन्तु वह नष्ट और प्रकट व्यक्त रूप मे ही होगा, अप्रकट या अव्यक्त रूप मे नहीं। जो स्पर्श अप्रकट-अव्यक्त रूप में होगा, वह अखण्ड रूप से होगा परन्तु जब ह अखण्ड-स्पर्श प्रकट रूप में होगा तो व्यक्त तथा खण्ड में ही होगा। अत स्थिर-स्पर्श प्रकट तथा व्यक्त होने के ।॥ किसी को अखण्ड रूप से प्रतीत नहीं होता, पर वह

होता है अखण्ड रूप से। इसी प्रकार नेत्रेंद्रिय का विषय रूप भी अखण्ड रूप से होता है परन्तु खण्ड रूप में नेत्रेद्रिय होने से वह खण्ड रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय और नासिका इन्द्रिय के विषय भी रस तथा गध अखण्ड रूप मे होते हैं, किंतु खण्ड रूप मे प्रतीत होते है। इस प्रकार पांच रूपों मे अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व का दर्शन होता है।

(२. न्यूनाधिक संख्या में इन्द्रियों के होने पर न्यूनाधिक दर्शन)—

यदि किसी व्यक्ति की कर्णेन्द्रिय नष्ट हो जाए तो वह शब्द सुनने या प्रत्यक्ष अनुभव करने से रह जाए, अर्थात् उसे अ० अ० अ०-व्या० तत्व के शब्द रूप का दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव न हो। यदि किसी व्यक्ति की नेत्रेंद्रिय नष्ट हो जाए तो वह रूप देखने से रह जाए, अर्थात् उसे अ० अ० अ० व्या० तत्व के रूप-विषय का दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव न हो। यदि सृष्टि की कर्णेंद्रिय नष्ट हो जाए तो वह शब्द सुनने से रह जाए, अर्थात् सृष्टि अ० अ० अ०-व्या० तत्व के शब्द रूप का दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव न कर सके। यदि सृष्टि की नेत्रेंद्रिय नष्ट हो जाये तो वह रूप विषय देखने से रहित हो जाए, अर्थात् सृष्टि अ० अ० अ०-व्या० तत्व के रूप विषय का दर्शन न कर सके। इसी प्रकार सृष्टि की अन्य इन्द्रिय नष्ट

होने पर वह उस विषय का ज्ञान करने से रहित हो जाए, अर्थात् सृष्टि अ० अ० अ०-व्या० तत्व के उस रूप का दर्शन या प्रत्यक्ष-अनुभव न कर सके।

(३. वर्तमानिक सृष्टि में पांच ज्ञानेन्द्रियां होने से, पांच प्रकार का दर्शन)—

इस सृष्टि में या वर्तमान काल में पाच ज्ञानेन्द्रियां हैं। उनसे पाच प्रकार का ज्ञान होता है अर्थात् पाँच प्रकार से अ० अ० अ०-व्या० तत्व का दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यदि पाच से न्यूनाधिक ज्ञानेन्द्रिया हो तो सृष्टि को न्यूनाधिक प्रकार के रूप का ज्ञान या दर्शन हो, अर्थात् सृष्टि को अ० अ० अ०-व्या तत्व के न्यूनाधिक रूप का दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव हो। परंतु वर्तमान काल में पाच ज्ञानेन्द्रिया है, इसलिये वर्तमान काल मे पांच प्रकार के विषय का ज्ञान होता है और पाच प्रकार से ही अ० अ० अ० व्या० तत्व के रूप का दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव होता है। ज्ञात नहीं है कि इस तत्व के कितने और रूप हैं ··? ऐसी परिस्थिति में कहा जा सकता है कि अ० अ० अ०-व्या० तत्व के सब प्रकार के पूर्णरूप से दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकते। इन उदाहरणों द्वारा सिद्ध होता है कि अ० अ० अ०-व्या तत्व का आभास ही है न-कि दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव।

दूसरी प्रकार से

अब आगे दूसरी प्रकार से अ० अ० अ०-व्या० तत्व के आभास की पुष्टि करते है।

साधक की इच्छा हुआ करती है कि अ० अ० अ०-व्या० तत्व या ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव करूं ···। दर्शन दो प्रकार से हुआ करता है, इन्द्रिय से और मन से। परन्तु हम अभीष्ट विषय के परिज्ञान करने के लिये तीन प्रकार से वर्णन करेंगे; (१) इंद्रिय से दर्शन या आभास (२) विषय के द्वारा दर्शन या आभास और। (३) मन से दर्शन या आभास। इन तीन प्रकार के दर्शनों या आभासों में से पहले प्रकार के दर्शन में भी अनेक प्रकार से दर्शन या आभास किया गया है। जिनमें कुछ का वर्णन किया जा चुका है और कुछ का वर्णन किया जाता है।

१. इन्द्रियों की शक्ति और उनकी पृथकता के आधार से भी आभास का ही होना —

कर्णेन्द्रिय की शक्ति परिमित है, इसलिये वह अ० अ० अ० व्यापक शब्द को नही सुन सकती, अर्थात् वह अ० अ० अ० व्या० तत्व या ब्रह्म के अ० अ० अ०-व्यापक शब्द रूप का दर्शन नहीं कर सकती। त्वचा इंद्रिय की शक्ति परिमित है इसलिए वह अ० अ० अ०-व्या० तत्व के अ० अ० अ०-व्यापक स्पर्श रूप का दर्शन नही कर सकती। नेत्रेंद्रिय की शक्ति

हां, यह हो सकता है कि उनके परमाणुओं के परिमाण में अन्तर हो। जिस रंग के परमाणु क्रियाशील होंगे, वायु का रंग वही होगा। परन्तु वायु के स्थिर परमाणु आकाशरूप होते हैं, इसलिए मूल रूप से वायु का रंग भी नीला माना जाएगा।

रसना इन्द्रिय का विषय 'रस' परिमित है, क्योंकि रस किसी पिण्ड मे होता है और पिण्ड परिमित होता है।

नासिका इन्द्रिय का विषय 'गन्ध' परिमित होता है, क्योंकि वह किसी पिण्ड या वस्तु से निकलता है, पिंड या वस्तु परिमित होती है।

अतः ज्ञानेन्द्रियों के विषय ससीम, खण्डित और परिमित होने से वे अपना अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक रूप मे दर्शन या अनुभव नहीं करा सकते। उनका तो खण्ड, द्वैत और परिमित रूप मे ही दर्शन हो सकता है। उनके द्वारा अ० अ० अ०-व्या० तत्व या ब्रह्म का दर्शन न होकर, आभास ही हो सकता है।

३. मन से अभ्यास—

(वास्तव में दर्शन किसे कहा जाए ?)

मन से दो प्रकार से दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव होता है, एक तो इन्द्रियों के द्वारा प्रतिबिम्बित विषय मन के स्फुरणे पर और दूसरे इन्द्रियों के द्वारा प्रतिबिम्बित विषय मन के स्फुरणे पर विचार करने के उपरान्त जो आभास होता है और वह

इतना दृढ़ हो जाता है कि उसे ही दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव कहने लगते हैं।

उपरोक्त पहले प्रकार मे तो ज्यों का त्यों दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव से विषयों का ही दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव होता है; अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व का नहीं। दूसरे प्रकार में जो अ० अ० अ०-व्या० तत्व का विषयों के द्वारा दृढ़ आभास होता है, उसे ही ब्रह्म का दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव कह सकते है।

तीसरी प्रकार से

अब तक अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व या ब्रह्म के स्वरूप, उसके व्यक्त-अव्यक्त का स्वभाव, उसके परिमाण और गतिशीलता आदि पर विचार किया गया है और यह भी सिद्ध किया गया है कि अ० अ० अ०-व्या० तत्व या ब्रह्म का दर्शन नहीं होता, आभास ही होता है। और दूसरे प्रकार में उस आभास की पुष्टि की गई है। अब तीसरे प्रकार में उसके वास्तविक या मूल स्वरूप का वर्णन होगा। इस विषय को समझाने के लिए इन दो शीर्षकों का सहारा लिया जाएगा। पहला—दर्शन दूसरे का होता है, अपना नहीं'। दूसरा—'अपने अस्तित्व की प्रतीति भी दूसरे के होने से होती है'।

१. दर्शन दूसरे का होता है, अपना नहीं—

कर्णेन्द्रिय को अपना दर्शन, प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, बोध

और निश्चय नहीं होता। उसे दूसरे (शब्द) का दर्शन, प्र०-अ०, ज्ञा०, बो० और निश्चय होता है। त्वचा इन्द्रिय को अपना दर्शन, प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, बोध और निश्चय नहीं होता। उसे दूसरे (स्पर्श विषय) का होता है। नेत्रेन्द्रिय को अपना दर्शन, प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, बोध और निश्चय नहीं होता। उसे दूसरे (रूप विषय) का होता है। रसना इन्द्रिय को अपना दर्शन, प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, बोध और निश्चय नहीं होता। उसे दूसरे (रस विषय) का होता है। नासिका इन्द्रिय को अपना दर्शन, प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान, बोध और निश्चय नहीं होता। उसे दूसरे (गन्ध विषय) का होता है।

मन, बुद्धि, चित्त और जीव को भी स्वयं अपना दर्शन प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, बोध और निश्चय नहीं होता, दूसरे का होता है। मन को स्फुरणों का, बुद्धि को निश्चय का, चित्त को चिन्तन का और जीव को सुख-दुख तथा कर्ता-भोक्ता के भाव का दर्शन आदि होता है।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि दर्शन आदि दूसरे का होता है, अपना नहीं।

(अ० अ० अ०-व्या० तत्व का स्वरूप 'जो कुछ है सो है'—

दर्शन, प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, बोध और निश्चय दूसरे का होता है, अपना नहीं। अ० अ० अ०-व्या० तत्व या ब्रह्म में

दूसरा कोई है नहीं, इसलिए अ० अ० अ०-व्या तत्व का दर्शनादि नहीं किया जा सकता कि वह क्या है··? कैसा है·? और कितना है··? जब कि कुछ निश्चय किया ही नहीं जा सकता, तो कहा जा सकता है कि अ० अ० अ०-व्या० तत्व या ब्रह्म का स्वरूप 'जो कुछ है सो है।'

२. अपने अस्तित्व की प्रतीति भी दूसरे के होने से होती है—

कर्णेंद्रिय को अपने-आप के अस्तित्व की प्रतीति स्वयं ही नहीं हो जाती। उसे अपने अस्तित्व की प्रतीति दूसरे (शब्द) के होने से होती है। त्वचा इंद्रिय को अपने-आपका अपने-आप से द० प्र०-अ० ज्ञा० बो० और निश्चय नहीं होता, दूसरे (स्पर्श विषय) के होने से होता है। नेत्रेंद्रिय को अपने-आप का अपने-आपसे द०प्र०अ० ज्ञा० बो० और निश्चय नहीं होता, दूसरे(रूप विषय) के होने से होता है। जैसे अंधकार में एक प्रकार से रूप विषय नहीं होता तो नेत्रेन्द्रिय को अपना प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञान, बोध और निश्चय नहीं होता और वह अपने कर्म करने से रहित होती है। अर्थात् जितने काल प्रकाश नहीं होता है, उतने कालतक नेत्रेंद्रिय का अनस्तित्व रहता है। या यों कहना चाहिये कि जितने काल रूप विषय नहीं होता, उतने काल नेत्रेन्द्रिय का भान नहीं होता। रसना इन्द्रिय को अपने-आप की अपने आप से प्रतीति नहीं होती, दूसरे (रस विषय) के अस्तित्व होने से होती है। नासिका इन्द्रिय को अपने-आप का अपने-आप

से भान नहीं होता, दूसरे (गंध विषय) के होने से होता है।

मन, बुद्धि, चित्त और जीव को भी अपने-आपका अपने-आप से निश्चय नही होता, दूसरे के अस्तित्व से उनका निश्चय किया जाता है। केवल स्फुरण होने पर मन का निश्चय किया जाता है। स्फुरण पर विचार होने से बुद्धि का बोध होता है। किसी विषय को बारंबार स्मरण करने से चित्त का ज्ञान होता है और सुख-दुःख का अनुभव तथा कर्त्ताभोक्ता का भाव होने से जीव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

उपरोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि अपने अस्तित्व की प्रतीति भी दूसरे के अस्तित्व होने ही से होती है। यदि दूसरा न हो, तो अपने अस्तित्व का भी बोध न हो।

(अ० अ० अ० व्या० तत्व का स्वरूप अगोचर) अचिन्तनीय और अनिर्वचनीय है—

अद्वैत, अखण्ड, अनन्त व्यापक तत्व में दूसरा कोई है नहीं, तो उसके अस्तित्व की प्रतीति भी नहीं हो सकती या यों कहना चाहिये कि अ० अ० अ०-व्या० तत्व का अस्तित्व है ही नहीं। जब कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो उसके स्वरूप का ज्ञान और दर्शन भी नहीं हो सकता कि वह क्या है? कैसा है, कितना है? जब कि उस ब्रह्म के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है तो कहा जाएगा कि वह अगोचर है, अचिन्तनीय

है और अनिर्वचनीय है। इतना ज्ञान कर लेने के उपरान्त फिर उसके विषय में प्रश्न किया जाए कि वह क्या है·· ? तो कहा जाएगा उसका स्वरूप 'जो कुछ है सो है'। यही उसका परम रूप है। यही ब्रह्म की परम स्थिति है। यही परमात्म स्वरूप है।

परमात्म स्वरूप में सृष्टि और उसकी सक्रियता —

उपरोक्त परम स्वरूपमें समुद्रकी तरंगवत् स्फुरण और अस्फुरण रूप से दो प्रकार की क्रिया होती है। स्फुरण में ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप रहता है। जिसमे नानात्व जगत भासता है और नाना प्रकार की क्रियाएं होती दृष्टिगोचर होती हैं, नाना - जीव बनकर कर्म करते है और वे उनके फल सुख-दुःख, उत्थान-पतन, क्षीण-वृद्धि आदि को प्राप्त होते हैं। स्फुरण में जीव को कर्म करना अवश्य पडता है और करना भी चाहिए। उसके किये बिना कोई रह नहीं सकता। जबकि कोई रह नहीं सकता तो मनुष्य को विवेक-पूर्ण कर्म करना चाहिए।

दशवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—
(कर्मयोग)—

यह दसवां अध्याय केवल अध्यात्म विषय का है। इसमें प्रकृति और अद्वैत, अखण्ड, अनन्त व्यापक तत्व या ब्रह्म के स्वरूप का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ब्रह्म और परमात्म

सत्ता में किस प्रकार जड-चेतन जगत और कर्म की उत्पत्ति होती है ? जीव या मनुष्य किस प्रकार कर्म करने लगता है ? वह किस प्रकार से कर्म से बंधा हुआ रहता है ? जीव या मनुष्य को किस प्रकार का कर्म करना चाहिए ? और उसे कर्म करना चाहिए कि नहीं आदि कर्मयोग सम्बन्धी विषयों का मौलिक आध्यात्मिक रूपसे वर्णन किया गयाहै। अत अध्यात्मिक या परमार्थिक दृष्टि से यह दशवां अध्याय अति केन्द्रित है।

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

यह अध्याय कर्मयोग से सम्बन्धित होने से इसका मानसिक ब्रह्मचर्य या काम-क्रीड़ा से भी स्वाभाविक सम्बन्ध होजाता है और जब भी आवश्यकता हो तभी इस अध्याय के तत्वों का प्रयोग किया जा सकता है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ के दसवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

दशवां अध्याय समाप्त

शुभम्

ग्यारहवां अध्याय

मन को वश में करने के वर्णन किये गये से अतिरिक्त उपाय—

दशवें अध्याय में प्रकृति और अद्वैत, अखण्ड, अनन्त-व्यापक तत्व या ब्रह्म के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अब इस ग्यारहवें अध्याय में यह वर्णन किया जायगा कि मन किन-किन कारणों से स्त्री की ओर प्रवृत्त होता है और उस प्रवृत्ति पर किस-किस प्रकार से नियंत्रण किया जा सकता है। इस प्रकार के अनेक कारणों का और मन को वश में करने के अनेक उपायों का पिछले अध्यायों में वर्णन किया जा चुका है। अब, जिनका वर्णन किया जा चुका है, उनसे भिन्न वर्णन किया जाता है।

१ आजतक सम्पूर्ण स्त्रियों को किसी ने नहीं भोगा—

साधक विचार करता है कि प्रायः पुरुष किसी भी स्त्री के सन्मुख आने पर, उससे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने या भोगनेकी इच्छा करने लगते हैं। परन्तु आज तक सम्पूर्ण स्त्रियों से किसी ने प्रेम-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। आज तक सम्पूर्ण स्त्रियों को किसी ने नही भोगा। यह बात ग्रंथों से सिद्ध है। इसके

अतिरिक्त व्यवहार में भी यही बात पाते हैं। जबकि आज तक किसी भी पुरुष ने संसार की समस्त स्त्रियों को नहीं भोगा, तो कोई-भी कामी-पुरुष संसार की समस्त स्त्रियों को कैसे भोग सकता है ? इन कारणों से समस्त स्त्रियों को भोगने के लिये चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ नहीं, जो भी एक या अनेक स्त्रियों से सम्बन्ध होने वाला है या भोग प्राप्त होने वाला है, उस सहित सम्पूर्ण सुख क्षीण और नष्ट अवश्य हो जायेंगे। उस क्षीण तथा नष्टतासे बचने और जो भी स्त्री-सुख या काम-क्रीडा प्राप्त होने वाली है, उस सहित सम्पूर्ण सुखो की प्राप्ति के लिये संसार की समस्त स्त्रियों को भोगने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना चाहिये।

२. पुरुषार्थ के द्वारा भी समस्त स्त्रियां अप्राप्त—

पुरुष अनेक बार ऐसा किया करता है कि जो-भी स्त्री उसके सन्मुख आती है, वह उसे ही भोगने के लिये लालायित हो उठता है और उसे प्राप्त करने की इच्छा से उसकी अनेक प्रकार की आवश्यकताएं पूर्ति करने के लिये चिन्तन किया करता है। परन्तु ऐसा चिन्तन करना व्यर्थ है क्योंकि ऐसा कार्य परम या अनन्त-पुरुषार्थ के द्वारा ही हो सकता है। जिसका पुरुष में अभाव रहता है क्योंकि पहले तो यह बात है कि आज [त]क किसी भी पुरुष ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा समस्त स्त्रियों [क]ो नहीं भोगा। जबकि किसी भी पुरुष ने अपने पुरुषार्थ के

द्वारा समस्त स्त्रियों को नहीं भोगा, तो वह ही कैसे भोग सकता है ? दूसरे, पुरुष कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो ? वह अत्यल्प शक्ति ही रहता है। अत्यल्प शक्ति रहने के कारण वह संसार की समस्त स्त्रियों को प्राप्त करने के लिए पुरुपार्थ या कर्मों की पूर्ति नहीं कर सकता। जब कि वह सब के लिये पुरुपार्थ या पूर्ति नहीं कर सकता, तो उसे सब स्त्रियां भी नहीं प्राप्त हो सकतीं। जब सब स्त्रियां प्राप्त न होंगी तो वह समस्त स्त्रियों को भोग भी नहीं सकता। यह भी एक स्वाभाविक बात है कि पुरुष जब किसी स्त्री का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न किया करता है तो उसमें एक ऐसी रागात्मक (भावनात्मक या स्नेहात्मक) चित्त वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जो सदा उसका वीर्य क्षीण करती रहती है। जिससे वह सदा निर्बल होता रहता है। ऐसी अवस्था में वह परम शक्तिशाली नहीं बन सकता। जब तक परम शक्तिशाली न हो, तब तक वह संसार की समस्त स्त्रियों की आवश्यकताओं को पूरी नहीं कर सकता और न-हि समाज की इच्छाओं के विरुद्ध जा सकता है। इस लिये ऐसी दशा में पुरुष संसार की समस्त स्त्रियों को भोग और प्रेम-सम्बन्ध नहीं कर सकता। इस लिये समस्त स्त्रियों को भोगने या प्रेम-सम्बन्ध करने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, ऐसा करने वाला पुरुष जो कुछ भी एक या अनेक स्त्री से प्राप्त होने वाला सुख है, उस सहित समस्त प्रकार के सुखों को क्षीण और नष्ट अवश्य कर

लेगा। अतः उसे जो-भी स्त्री-सुख प्राप्त होने वाला है, उस सहित समस्त प्रकार के सुखोंको प्राप्त करनेके लिये—संसार की समस्त स्त्रियों को भोगने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना चाहिए।

३. समस्त स्त्रियोंको भोगना प्रकृति में भी नहीं—

साधक विचार करता है कि जब हम संसार की रचयिता प्रकृति की ओर आंख उठाकर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि समस्त स्त्रियों का भोगना या उनसे प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना उसमें भी नहीं है। इसका ज्ञान संसार के साहित्य और स्त्री-पुरुषों के व्यवहार से होता है। क्योंकि प्रकृति के अन्तर्गत रह कर ही समस्त जड़-चेतन जगत अपनी-अपनी क्रियाएं या कर्म करता है और उनका फल भोगता है या प्राप्त करता है। अत मनुष्य भी प्रकृति के विधान (रचना या नियम) के अनुसार ही कर्ता-भोक्ता होता है।

प्रकृति के विधान में समस्त स्त्रियों को भोगना या प्रेम-सम्बन्ध करना नहीं है। उसके विधान मे एक या अनेक स्त्रियों को भोगना या प्रेम सम्बन्ध करना है क्योंकि समस्त पुरुष ऐसे करते आये हैं। अत समस्त स्त्रियों को भोगने या प्रेम-न्ध करने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, जो कुछ भी प्राप्त होने वाला है,

उस सहित समस्त प्रकार के सुखों को क्षीण या नष्ट करना है। अतः एक या अनेक स्त्री से जो भी सुख प्राप्त होने वाला है, उस सहित समस्त प्रकार के सुखों को प्राप्त करने के लिये— समस्त स्त्रियों को भोगने या प्रेम-सम्बन्ध करने का कभी चिन्तन, चेष्टा, इच्छा, और यत्न न करना।

४. प्रत्येक उत्फुल्ल नवयौवना अप्राप्त—

साधक विचार करता है कि प्रायः पुरुष ऐसे हैं कि कोई भी नये यौवन से खिली हुई स्त्री उनके सामने आ जाए तो वे उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं और चाहते है कि वह हमें प्राप्त हो जाए, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि वे अत्यल्प शक्ति वाले हैं। वे सबकी आवश्यकताओं को पूरी नहीं कर सकते और समाज या राज नियम के विरुद्ध भी नहीं जा सकते। दूसरे, संसार का नियम है कि वह उत्फुल्ल नव-युवतियों को उत्पन्न करता रहे। यदि पुरुष प्रत्येक उत्फुल्ल नव-युवतियों की ओर आकर्षित होता रहे तो उसका परिणाम यह होगा कि वह आकर्षित होता-होता अपने को क्षीण कर-कर के नष्ट कर लेगा और संसार से सदा के लिए विदा हो जाएगा। परन्तु संसार नव-उत्फुल्ल युवतियों को उत्पन्न करने से न रुकेगा और उन नवांगनाओं की ओर आकर्षित होने वाला पुरुष एक या अनेक स्त्री से प्राप्त होने वाले सुख से वंचित होता हुआ संसार से सदा के लिए अन्तर्ध्यान

हो जाएगा। तीसरे, प्रत्येक नव-उत्फुल्ल-यौवना की ओर आकर्षित होने वाले पुरुष की ओर वह आकर्षित होगी भी नहीं। उसकी उससे कभी प्रेम-सम्बन्ध करने की इच्छा न होगी। यदि कभी वह आकर्षित हो भी जाए तो शीघ्र ही उससे घृणा करने लगेगी। इस परिस्थिति में संसार की प्रत्येक नव-उत्फुल्ल-यौवना को देखकर उसकी प्राप्ति का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करना चाहिए। यदि पुरुष प्रत्येक नवांगनाओं की ओर आकर्षित होगा, तो वे समस्त नव-युवतियां तो प्राप्त होंगी नहीं, हां, उसको जो प्राप्त होने वाली है, उस सहित समस्त प्रकारके सुखों को क्षीण और नष्ट अवश्य करलेगा। अत साधक हर एक नव-उत्फुल यौवन को देखकर या जानकर उसे पाने का या भोगने का चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न न करे।

ग्यारहवें अध्याय का सारांश—

उपरोक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि कोई भी पुरुष संसार की समस्त स्त्रियों को नहीं भोग सकता, प्रेम-सम्बन्ध नहीं कर सकता। वह एक या अनेक को ही भोग सकता है या प्रेम-सम्बन्ध कर सकता है। उस एक या अनेक के लिए ही पुरुष को चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न या पूर्ति करना चाहिए। वह एक या अनेक स्त्री अपने अनुकूल होनी चाहिए। इसमें अनुकूलता का निश्चय करके ही उसकी प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए।

अनुकूलता देखने के लिए किसी सिद्धान्त की आवश्यकता—

यहां एक बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पुरुष अपनी अनुकूलता देखे तो सबसे पहले यह देखे कि मेरे पास ऐसा कौन-सा सिद्धान्त है, जिससे मैं अपनी अनुकूलता दूसरे में देख सकूं।

ग्यारहवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस ग्यारहवें अध्याय में यह वर्णन किया गया है कि पुरुष सम्पूर्ण स्त्रियों को नहीं भोग सकता। क्योंकि आज तक किसी ने भोगा नहीं। वह पुरुषार्थ के द्वारा भी समस्त स्त्रियों को प्राप्त नहीं कर सकता। समस्त स्त्रियों को भोगना प्रकृति में भी नहीं है। प्रत्येक उत्फुल्ल - नव - यौवना प्राप्त नहीं हुआ करती। एक या अनेक स्त्री ही प्राप्त हुआ करती है। इसलिये पुरुष को चाहिए कि वह किसी भी स्त्री में अपनी अनुकूलता देखे। अनुकूलता देखने के लिये अपने पास किसी सिद्धान्त या विशेषता की आवश्यकता है।

(कर्मयोग)—

यह अध्याय कर्मयोग से भी पृथक् नहीं होता है। यदि इसके शीर्षकों में से 'स्त्री' शब्द हटाकर अन्य विषय के शब्द

लगा दिए जाएं तो यह अध्याय उस विषय में प्रयोजित होने से कर्मयोग में से सम्बन्धित हो जाता है।

अब 'मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के ग्यारहवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

ग्यारहवां अध्याय समाप्त

शुभम्

बारहवां अध्याय

१. साधक का विचार - साहस करना और पराजित होने पर चीत्कार कर उठना—

साधक विचार करता है कि मैं बारंबार विचार करता हूँ, निश्चय करता हूं कि किसी स्त्री की ओर प्रवृत्त न होऊँ। मै दृढ़ साहस के साथ मन को रोकता हूं कि वह स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने की ओर न चले, पर जब कोई स्त्री सामने आती है या रागात्मक वाली स्त्री सामने आती है अथवा जिस स्त्री के प्रति ऐसा समझा जाता है कि मुझे उससे आनन्द मिलेगा तो उसकी ओर मैं अचानक प्रवृत्त हो जाता हूँ। साधक उस विषय से पृथक् रहने के लिये बहुत सोच-विचार करता है। पर मनोवेग उसके सोच-विचार, निश्चय और साहस को निरर्थक तथा असफल बनाने का प्रयत्न करता है। उस समय उसके अन्तःकरण मे विचार और मनोवेग का संघर्ष चल पड़ता है। उस संघर्ष मं जब वह विचार को असफल होते देखता है तो बड़ी बुरी प्रकार से कुचला जाता है। उसकी अन्तर्वेदना चीत्कार करने लगती है। जिसका भुक्त-भोगी ही अनुभव करता है।

(मन-बुद्धि का कार्य, संघर्ष और मन की विजय)—

अब विचार करने की यह आवश्यकता है कि बारंबार

विचार करने के पश्चात् साधक जो निश्चय करता है, उस पर वह स्थिर क्यों-नहीं रहता ? वह अपने साहस और दृढ़ता को एकाकी क्यों खो देता है ?

—(१ मन की प्रवृत्ति)—मन उस ओर चलता है, जिस ओर वह आनन्द देखता है। आनन्द ज्ञात होने पर उससे नहीं रुका जाता। इसी कारण से पुरुष स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त हो जाता है और वह उसको प्राप्त करने के लिये कर्म करने लगता है और उस से नहीं रुका जाता।

—(२. बुद्धि का कार्य)—बुद्धि आनन्द को प्राप्त करने के लिये निश्चय करती है। उसका कार्य है कि किसी भी वस्तु में आनन्द का विचार द्वारा निश्चय करना कि वह उसमें है या नहीं। यदि वह है तो कितनी मात्रा में और किस प्रकार का है? एव वह किन कर्मों के साधनों या किस कर्म-मार्ग से प्राप्त हो सकता है ?

—(३. मन का कार्य)--मन इन दोनों बातों से दूर रहता है और वह जिस ओर आनन्द देखता है, उधर प्रवृत्त हो ही जाता है। उसे इन बातों से प्रयोजन नहीं कि उस वस्तु में आनन्द है या नहीं, वह किस कर्म-साधन से प्राप्त हो सकता है, उसका भोगना उचित है या अनुचित और उसका क्या परिणाम होगा ? उसे तो आनन्द भोगने और प्रवृत्त होने से प्रयोजन है। बस, वह अपने कार्य करने में सलग्न हो जाता है।

--(४. मन और बुद्धि दोनों का कार्य)--मनुष्य की उत्पत्ति के साथ जहां मन का निर्माण होता है, वहाँ बुद्धि की भी रचना हो जाती है। जो विचार-द्वारा अपने लक्ष्य के आनंद और उसके कर्म-साधन का निश्चय करती है। जहां मन अनियन्त्रित होकर आनन्द की ओर अग्रसर होता है, वहाँ बुद्धि विचार के द्वारा उस पर नियंत्रण करके उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सत्य-मार्ग में ला खड़ा करती हुई अग्रसर करती है।

--(५. मन और बुद्धि दोनों मे संघर्ष)—मन स्त्री और उसको भोगने मे आनन्द जानता है और उस ओर प्रवृत्त हो जाता है, पर बुद्धि का विचार करने का स्वभाव है। इसलिए वह अनेक युक्तियो से, तर्कों से, उदाहरणों और प्रमाणों से उक्त आनन्द का विचार के द्वारा निश्चय करती है। साथ ही वह उसकी प्राप्ति के कर्म-मार्ग का भी निश्चय करती है या यों कहना चाहिए कि जितना भी विचार के द्वारा निश्चय का कार्य है, वह सब करती है। जब मन आनन्द प्राप्ति की लालसा मे स्त्री का चिन्तन करने लगता है तो बुद्धि भी अपना कार्य करने लगती है। दोनों में संघर्ष होने लगता है क्योंकि दोनों का मार्ग भिन्न-भिन्न है। वे अपनी-अपनी ओर खेचते हैं। उस संघर्ष मे मनुष्य व्याकुल हो जाता है। जब दोनों में एक निर्बल पड़ने लगता है तो निर्बली का प्रभाव कम होने लगता है।

—(६ मन की विजय)--परन्तु प्राय मनोवेग की अपेक्षा

बुद्धि सदा निर्बल हुआ करती है। क्योंकि वह विचार के द्वारा अनेक तर्कों, युक्तियों, उदाहरणों और प्रमाणों आदि का संग्रह करती हुई अनुभव से अपने विषय को सिद्ध करती है। यदि उसका अनुभव सत्य, अभ्यासयुक्त और दृढ़ हुआ तो वह मन पर नियन्त्रण करने में सफल होती है। यदि वह असत्य, अनभ्यासयुक्त और अदृढ़ हुआ तो उसका समस्त विचार और परिश्रम आदि व्यर्थ हो जाते हैं। एवं वह मन पर नियन्त्रण नहीं कर सकती, वरन् मन ही उसे अपने जाल में फंसा लेता है और बुद्धि अपने उद्देश्य में विफल होती है। अर्थात् बुद्धि न-हि सत्य-आनन्द तथा सत्य-मार्ग का ही निश्चय कर सकती है और न-हि वह उस पर चल सकती है। परन्तु मन को अपने कार्य में प्रवृत्त होने के लिए तर्क और युक्ति आदि किसी भी साधन की आवश्यकता न होने पर वह निर्बाध गति तथा तीव्रता से अपने मार्ग पर अग्रसर होता हुआ चला जाता है क्योंकि मन का स्वरूप स्फुरण है, बस, वह स्फुरता चला जाता है। अतः जब मन और बुद्धि का द्वन्द्व चलता है तो बुद्धि पिछड़ जाती है और मन आगे बढ़कर उसे घेर लेता है। इस प्रकार मन से बुद्धि घिर जाने पर वह मनुष्य को मनमाने मार्ग पर ले जाता है। इस प्रकार से मन या मनोवेग का बुद्धि या विचार से बराबर संघर्ष चलता रहता है और बराबर ही मन के द्वारा बुद्धि को हारना पड़ता है।

५. अतः उपरोक्त कारणों से पुरुष अपने किये हुए निश्चय पर

स्थिर नहीं रह सकता। उसका एकाएक या एक झटके के साथ ही साहस छूट जाता है और भविष्यत् की आपत्तियों-विपत्तियों की आशंका से ग्रस्त हो जाता है। पश्चात् वह विजयी मन के अनुसार प्रवृत्त होने लगता है।—

---

२. साधक के लिये मार्ग-दर्शन—

(१. साधक, धैर्य रखो—)

—परन्तु ऐसी परास्त करने वाली परिस्थिति मे साधक को घबराना नहीं चाहिए। क्योंकि जैसे विचार धीरे-धीरे परिश्रम से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनोवेग भी सदा प्रवल रूप में प्रवाहित नहीं होता। उसकी भी मन्दगति होती है। कभी-कभी तो उसमें ऐसी अवस्था आ जाती है कि वह निश्चल हो जाता है। उसमे गति लाने का उद्योग करने पर भी, वह नहीं आने पाती। और जब कभी मन का वेग होता है तो वह आंधी के समान आता है और वह किसी भी प्रकार रोकनेसे नहीं रुकता। उस समय वह मनुष्य से मनमाना कर्म करवा लेता है। पर जब मनोवेग कम होता है तो पुरुष को विचार करने का अवसर मिल जाता है और विचार करने का अवसर भी यही है। क्योंकि मन जब प्रवल रूप मे होता है, तो साधक विचार नहीं कर सकता और जब वह निश्चल रूप में होता है, तो भी विचार नहीं कर सकता। विचार करने का अवसर मनुष्य को

तभी मिलता है, जब कि मनोवेग का प्रवाह कुछ कम हो। इस अवसर से साधक को लाभ उठाना चाहिए और अपने विचारों के द्वारा अनेक तर्कों, युक्तियों, उदाहरणों और प्रमाणों आदि का संग्रह करके मन के वेग को कम करने का यत्न करना चाहिए।

(२. निश्चयानुसार साधक को कार्य करना चाहिये)--

मन और बुद्धि का जब संघर्ष चलता है तो दोनों अपना-अपना कार्य करने लगते हैं। मन केवल प्रेरणा करता है और बुद्धि अपने निश्चय करने का कार्य करती है। मनुष्य को अपने निश्चय के अनुसार कार्य करना चाहिए। यह निश्चय दो प्रकार का होता है, स्थिर और तात्कालिक।

—(१. स्थिर निश्चय)—स्थिर निश्चय में युक्ति, तर्क, प्रमाण उदाहरण और अनुभव होता है। इस में विषय पर वारबार विचार किया हुआ होता है। इसलिए यह दृढ़ और स्थायी होता है। इसमें विकार, सन्देह तथा भ्रम के लिये बहुत कम स्थान रहता है। विचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुचने से रहा-सहा विकार, सन्देह तथा भ्रम भी जाता रहता है और साधक पूर्ण सत्य पर पहुच जाता है।

स्थिर-निश्चय के अनुसार साधक को, व्यापार (कार्य) में संलग्न होने पर, सफलता मिलती है। साथ ही तुष्टि और आनन्द मिलता है। अत स्थिर-निश्चय के अनुसार साधक को ार्य करना चाहिए।

———

—(२, तात्कालिक-निश्चय)—तात्कालिक-निश्चय में मनोवेग की प्रबलता होती है या परिस्थिति की प्रमुखता होती है। उस समय पुरुष स्थिरता से निश्चय नहीं कर सकता। अचानक ही उसे निश्चय करना पड़ता है। यदि वह-सामयिक-निश्चय स्थिर-निश्चय के आधार पर है, तब-तो ठीक है; खटके की कोई बात नहीं है। यदि वह परिस्थितिवश अकस्मात् ही हुआ है, तो हो सकता है और बहुत सम्भव है कि पुरुष पतन और असफलता की ओर चला जाए। परन्तु निश्चय न करने की अपेक्षा, निश्चय करके कर्म करना श्रेष्ठ है। अतः साधक को चाहिए कि वह विचार करके कार्य करे।

(३. विचार का महत्व)—

मनुष्य को चाहिए कि वह जो-भी-कुछ करे, विचार पूर्वक करे। क्योंकि विचार सत्य को ढूँढ लेता है, समझ लेता है। विचार उसे पाने के लिये कर्म-मार्ग बना लेता है। वह उसमें सरलता और सुन्दरता ला देता है। यदि मनुष्य दूषित कर्मों में भी विचारपूर्वक कार्य करेगा और उस विचार की सम्यक् प्रकार से प्रगति करता रहा तो वह दूषित कर्मों से निकल कर निर्दोष या सत्कर्मों के पथ पर पहुँच जाएगा। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है और वह सत्पथ से ही हो सकता है। अतः विचार करते-करते मनुष्य असत्पथ को छोड़कर सत्पथ का गामी बन जाता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह

अपने अन्तिम उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर विचार करता हुआ कार्य करता रहे।

(४. साधक के लिये मार्ग-दर्शन)—

यह शीर्षक मुख्य है और इसके अन्तर्गत अनेक उपशीर्षक हैं। इन उपशीर्षकों में भी साधक के लिए मार्ग दर्शन ही है। परन्तु साथ ही इनमें अन्य बातें भी आ गई हैं किन्तु यहां "साधक के लिए मार्ग-दर्शन" नाम का मुख्य शीर्षक देकर साधक को आकर्षित किया जाता है। क्योंकि इस मुख्य शीर्षक में अन्य बातों का अभाव है। इसमें केवल कुछ सामान्य रूप से शका का समाधान करते हुए. साधक को उसके कर्तव्य-मार्ग का दर्शन कराया जाएगा। जिसका समस्त उपशीर्षकों के पश्चात् आना आवश्यक है।

साधक के अन्त.करण मे विभिन्न प्रकार के तथा विरोधी भी भाव और विचार उत्पन्न होते रहते हैं, जो अभीष्ट सिद्धि में बाधक हो जाते हैं। उनको दूर करने के लिए, युक्तता, सत्यता और उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए वारंबार विचार करना चाहिए। जो निरन्तरता और भागीरथ प्रयत्न से युक्त हो। यदि विरोधी मनोवेगों की जड़ कम गहरी है, तो थोड़े तथा अल्प-काल के विचार ही से उन्हे निर्मूल कर दिया जासकता है। यदि उन्होंने अपना स्थान दृढ बना लिया है, तो उसे नष्ट करने में समय लगेगा। अधिक समय की बात सुनकर साधक को घब-

जाना नहीं चाहिए। क्योंकि ज्यों-ज्यों उसके भवन की जड़
हिलेगी तथा ईंटें गिरेंगी त्यों-त्यों वह अपने रूप से पतित होता
चला जाएगा, अथवा पथिक ज्यों-ज्यों अंधेरे तथा हिंसक
जन्तुओं से युक्त सघन वन को पार करता हुआ चला जाएगा,
त्यों त्यों उसे शान्ति और प्रकाश मिलते चले जाएंगे। अर्थात्
अवांछित दृढ मनोवेग-विचार निर्बल होते चले जाएंगे। जिससे
साधक को सफलता मिलने में सरलता होगी। इस प्रकार यत्न
करते-करते एक दिन ऐसा आजाएगा कि साधक विरोधी या अना-
वश्यक मनोवेगों और विचारों को निकाल कर परम सन्तोष को
प्राप्त होगा। और विरोधी मनोवेगों को ही दूर करने से साधक
को अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी। बिना विरोधी भावों को दूर
किए न तो साधक को सफलता मिलेगी और न-हि उसे सन्तोष
होगा। इसीलिए उसे विरोधी या अनावश्यक मनोवेगों को दूर
करना ही पड़ेगा। फिर समय के अधिकता की बात जानकर
घबराना क्यों ? साधक को, अनुकूल मनोवेगों को पुष्ट करके
इतना अधिक विचार करना पड़ेगा कि विरोधी भाव तथा विचार
[illegible] से निकल जाएं। अर्थात् विरोधी या अनावश्यक
मनोवेग [illegible] से [illegible] और अनुकूल मनोवेग प्रवाहित होते
[illegible] का कार्य यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है कि वह
विरोधी भावों को निकाल दे। उसको तो आगे भी या सदा
[illegible] रहना होगा कि उसके अन्तःकरण में कभी बीज रूप
[illegible] विरोधी या अनावश्यक भाव पैदा [illegible] अपना स्थान न

बना लें। इसलिए साधक को अपने अन्तःकरण को सदा अपने विचार के द्वारा शुद्ध बनाए रखने का यत्न करना पड़ेगा।

मनोवेग की परिभाषा—

यहाँ मनोवेग का अर्थ समझ लेना आवश्यक है कि संसार के विषय इन्द्रियों के द्वारा अतःकरण पर प्रतिबिम्बित होकर स्थिर हो जाते हैं, जो संस्कार कहलाते है। वे संस्कार या उन संस्कारों पर विचार करने के उपरांत जो भाव उत्पन्न होकर प्रवाह रूप में स्फुरण होने लगते हैं, तो वे मनोवेग कहलाने लगते हैं।

अंतःकरण की परिभाषा—

अंतःकरण का अर्थ है कि जिस चेतना मे मन, बुद्धि चित्त, और अहंकार या जीव का विभाग हो।

स्त्री विषय में मन-वश करने का परिमाण—

जब विचार के द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि स्त्री-सम्बन्धी विषय का चिन्तन न करूं या उसके विषय मे लिप्त न होऊ। यदि ऐसा हो जाता है तो यह स्त्री विषय में मन को वश में करने का परिमाण है। फिर भी यदि चिन्तन या लिप्त हुआ जाता है तो विचार द्वारा इतने तत्वो का संग्रह तथा उनका अभ्यास करना चाहिए कि मन साधक के वश में हो जाए।

बारहवें अध्याय का सारांश—

साधक विचार करता है कि मैं बारंबार विचार और निश्चय करता हूँ कि स्त्री या काम क्रीडा की ओर प्रवृत्त न होऊं, फिर भी प्रवृत्त हो जाता हूं। इसका कारण क्या है ?।

मन सुख या आनन्द की ओर प्रवृत्त होता है। जब वह स्त्री या काम-क्रीड़ा में सुख जानता है तो वह उस ओर प्रवृत्त हो जाता है। वह अपने मे युक्ति, तर्क उदाहरण और प्रमाण आदि कुछ नहीं रखता। वह-तो निर्बाध गति से बिना सोचे-समझे उस ओर प्रवृत्त हो जाता है। चाहे उसका परिणाम अच्छा हो या बुरा, इससे मन को कुछ प्रयोजन नहीं।

परन्तु बुद्धि उपरोक्त सब बातों को देखती है। जिससे सुख-आनन्द शीघ्र से शीघ्र और अधिक से अधिक बिना बाधा तथा दुःख के प्राप्त हो सके। इसीलिए वह अपने साथ युक्ति और तर्क आदि साधन रखती है। इन साधनों के संग्रह मे उसे पर्याप्त समय लग जाता है परिणाम यह होता है कि मन तीव्रतासे अग्रसर होता हुआ, उसे विफल मनोरथ बना देता है। इसी कारण से मनुष्य के द्वारा निश्चय कर लेने पर भी कि 'मैं प्रवृत्त न होऊं' प्रवृत्त हो जाता है और वह अपने प्रयत्न में निराश हो जाता है।

परन्तु साधक को अपनी विफलता से घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि बुद्धि के द्वारा निश्चय करके कार्य करने में

पहले-पहल असफलता होनी स्वाभाविक है। यदि मनुष्य निरंतर और दृढ़ता से विचार के द्वारा कार्य करता चला जाए तो एक न एक दिन उसे अवश्य सफलता मिलेगी और वह अपने मन पर भी नियन्त्रण कर लेगा। यदि वह अपने इस कर्म मार्ग को छोड़ कर, मन के मार्ग से चलेगा तो असफलता निश्चित है, साथ ही अनेक संकट भी हैं। इसलिये साधक को चाहिए कि वह बुद्धि द्वारा निश्चित कर्म-मार्ग पर चला चले।

बारहवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस बारहवे अध्याय में काम-क्रीड़ा के सम्बन्ध में मन की प्रवृति, बुद्धि का कार्य, मन का कार्य, मन और बुद्धि दोनों का कार्य तथा उनमे संघर्ष, मन की विजय और साधक के लिये मार्ग-दर्शन आदि ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अनेक बातों का वर्णन किया गया है।

(कर्मयोग)—

कर्म - योग की साधना के लिए उपरोक्त बातें अत्यन्त आवश्यक हैं। इसलिए यह बारह[illegible] भी कर्मयोग से सम्बन्ध रखता है।

अब 'मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ के बारहवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

बारहवां अध्याय समाप्त

शुभम्

तेरहवां अध्याय

१. विचारोपरांत भी स्त्री की ओर आकर्षण क्यों ?—

इतना विचार करने के उपरात भी मन स्त्री की ओर आकर्षित हो जाता है, जो उधर आकर्षित नहीं होना चाहिए। आकर्षित हो ही जाता है, इस कारण ज्ञात होता है कि अभी विचार तत्व मे कमी है । वह विचार तत्व कौनसा है ? जिसके कारण मन उधर खिंच जाता है। उसे विचार करके जानना चाहिए, जिससे उस पर नियंत्रण किया जा सके ।

२. मन का किसी भी स्त्री की ओर आकर्षण परन्तु बन्धन के कारण रुकावट—

स्त्री किसी भी वर्ण की हो,ब्राह्मणी हो, क्षत्राणी हो, वैश्या हो या शुद्रा हो । वह चाहे किसी भी सम्प्रदाय की हो, हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो या पारसी हो । वह चाहे किसी भी प्रान्त की हो, बंगाल की हो, गुजरात की हो, मद्रास की हो या पंजाब की हो । चाहे वह कुम्हारिन हो, चमारिन हो या महतरानी—मन उधर को खिंच ही जाता है । उससे काम क्रीडा का आनन्द उठाने की इच्छा हो-ही जाती है, परन्तु समाजिक या धार्मिक आदि की प्रथा या बन्धन ऐसा करने से रोकता है ।—

(बन्धन के तीन प्रकार)—

—बहुत से लोग ऐसे है कि इस प्रथा या बन्धन को स्वाभाविक प्रकृति कृत या ईश्वरकृत मानते है। जिसका परिवर्तन मनुष्य नहीं कर सकता अथवा परिवर्तन करना पाप मानते हैं, और तीसरी प्रकार के वे लोग हैं, जो इस बन्धन को मनुष्यकृत मानते है तथा उसमे आवश्यकता, परिस्थिति और शक्ति के अनुसार परिवर्तन करते रहते हैं।

—(बन्धन की परिभाषा)—बन्धन ऐसी रुकावट, प्रथा या लौकिक मनोवृत्ति है जो किसी भिन्न जाति या भिन्न लौकिक मनोवृत्ति की स्त्री से काम-क्रीड़ा के आनन्द को भोगने से रोकती है अथवा रोकने की प्रेरणा करती है।

३. बन्धन मनुष्यकृत है, ईश्वर या प्रकृतिकृत नहीं—

—यदि यह बन्धन ईश्वरकृत है, तब तो उसे कोई मनुष्य परिवर्तन कर नहीं सकता, क्योंकि ईश्वर कृत किसी भी वस्तुके गुण तथा क्रिया को कोई परिवर्तन नहीं कर सका है। मनुष्य केवल का निश्चय करके केवल उनका योग-भर कर देता है। यदि यह बन्धम अपने आप हुआ (स्वाभाविक) है या प्रकृति कृत है, तो भी, मनुष्य उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। यदि मनुष्य

उसमें परिवर्तन कर सकता है तो वह स्वाभाविक, प्रकृतिकृत या ईश्वरकृत नहीं है, मनुष्यकृत है।

संसार के व्यवहार से बराबर देखा या समझा जाता है कि मनुष्य लौकिक प्रथा या मनोवृत्ति का उल्लंघन करके विभिन्न जातियों की स्त्रियों से काम-क्रीड़ा करता है। (हिन्दू – यूरोपियन और मुस्लिम आदि स्त्रियों से काम-क्रीडा करता हुआ ज्ञात होता है। मुसलमान—हिन्दू और यूरोपियन आदि स्त्रियों से काम-क्रीड़ा करता हुआ पाया जाता है। यूरोपियन—हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों से प्रेम-सम्पर्क स्थापित करता हुआ दृष्ट आता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एक-दूसरे की स्त्रियों से रमण करते पाये जाते हैं। यद्यपि ऐसे उदाहरण कभी कभी कोई कोई मिलते हैं तो भी यह तो सिद्ध हो जाता है कि विभिन्न जातियों की स्त्रियों से रमण करने की प्रथा का बन्धन ईश्वरकृत प्रकृतिकृत और स्वाभाविक नहीं है, मनुष्यकृत है।

४. मनुष्य द्वारा बन्धन परिवर्तित—

जब कि उक्त बन्धन ईश्वरकृत नहीं हैं और मनुष्यकृत है, तो मनुष्य उस बन्धन को चाहे जिस प्रकार परिवर्तन कर सकता है।

पाराशर ऋषि ने मल्लाह की लड़की सत्यवती से समागम किया, जो अविवाहित थी और जिससे महर्षि वेद-व्यास उत्पन्न

हुए। कण्व ऋषि ने क्षत्रिय राजा की कन्या को अपनाया। मुनि विश्वामित्र ने मेनका अप्सरा से समागम किया और सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यूनान राजा की कन्या मे विवाह किया। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न जातियों मे काम-क्रीड़ा का बन्धन मनुष्य-कृत है, ईश्वर-कृत नही।

वर्तमान काल के व्यावहारिक जगत में भी देखा जाता है तो उपरोक्त बात (निश्चय) की पुष्टि हो जाती है। महात्मा गांधी (जो वैश्य वर्ण तथा गुजरात प्रान्त के है) के लड़के देवीदास गांधी ने मद्रास प्रान्त के ब्राह्मण चक्रवर्ती-राजगोपालाचार्य की लड़की से विवाह किया। इसी प्रकार अनेक बन्धन (विवाह) अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्जातीय होते है। पहले विधवा-विवाह नही होते थे और उसका बहुत विरोध होता था, परन्तु अब वे कुछ-कुछ होने भी लगे है और उसका बहुत विरोध भी पहले जैसा उग्र नहीं रहा। कुछ दशाब्दि पहले लडकी का विवाह बारह वर्ष से पहले हो जाता था, और-तो-क्या गोदी में खेलते-खेलते अनेक बालकों का भी विवाह (बन्धन) हो जाता था। पर अब राजनियम तथा सामाजिक प्रथा (मनोवृत्ति) के परिवर्तन से बड़ी आयु के लड़के और लड़कियो का विवाह होने लगा है। इन वर्तमानकालिक उदाहरणों से ज्ञात होता है कि स्त्री और पुरुष का काम-क्रीड़ा सम्बन्धी बन्धन ईश्वर या प्रकृति कृत नहीं है, मनुष्य कृत है।

जहां पहले शास्त्र का यह सिद्धान्त प्रचलित था कि आठ वर्ष की लड़की की गौरी संज्ञा होती है; नौ वर्षवाली की रोहिणी, दश वर्ष की कन्या हो जाती है। इसके पीछे उसमे रज-दर्शन होने लगता है। यदि माता-पिता और भाई कन्या को अपने घर मे रजस्वला देख ले तो वे नरकगामी होते हैं; अर्थात् बारह वर्ष से पहले-पहले ही लड़की का विवाह हो जाना चाहिए। परन्तु अब मनुष्य के द्वारा बन्धन या प्रथा के परिवर्तन से उक्त नियम निस्सार हो गया है।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि विभिन्न जातियो, विभिन्न धर्मों और विभिन्न देशों की स्त्रियों से काम क्रीड़ा करने की प्रथा या बन्धन को रचने वाला मनुष्य है, न-कि स्वभाव, प्रकृति या ईश्वर।

मै ऊपर यह वर्णन कर आया हूँ कि विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न देशों की स्त्रियों से काम-क्रीड़ा न करने की प्रथा या बन्धन के विषय मे तीन प्रकार की धारणाएं हैं। जिन मे से दो धारणाएं कि 'सामाजिक या धार्मिक बन्धन ईश्वरकृत या प्रकृतिकृत है और जिसे मनुष्य परिवर्तन नहीं कर सकता।' और दूसरी धारणा 'बन्धन मनुष्यकृत है। वह अपनी आवश्यकता, परिस्थिति तथा शक्ति के अनुसार परिवर्तन करता रहता है।' पहली धारणा अयुक्त तथा भ्रान्तिजनक ठहर ई है और दूसरी धारणा की पुष्टि हो गई है। अब तीसरी ..। पर विचार किया जाता है।

लोगों की तीसरी धारणा यह है कि 'विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न देशों की स्त्रियों से काम-क्रीड़ा के बन्धन (विवाह के नियम) को मनुष्य परिवर्तन तो कर सकता है, परन्तु उसके करने में पाप है। इस प्रवृत्ति पर विचार किया जाए, इस से पहले पाप-पुण्य को जान लेना चाहिए कि वह क्या वस्तु है…?

(पाप-पुण्य और परलोक आदि की परिभाषा)—

पाप ऐसे कर्मों को कहते है, जिनके आरम्भ में दुःख हो या न हो परन्तु उनके परिणाम में दुःख अवश्य हो और जिनसे परलोक भी दुःखदायी बन जाए। यहां परलोक से प्रयोजन नरक लोक से है।

परलोक उसे कहते है, जिसमें इस लोक का जीव भौतिक शरीर छोड़कर किसी अन्य लोक को प्राप्त हो।

पुण्य उन कर्मों को कहते है, जिन से आरम्भ मे सुख हो या न हो परन्तु अन्त मे सुख की प्राप्ति अवश्य हो और जिनसे परलोक भी सुखदायी बन जाए। यहां परलोक से प्रयोजन स्वर्गादि लोकों से है।

अथवा

पाप-पुण्य ऐसे कर्मों को कहते है, जिन से दुःखदायी या नीच और सुखदायी या ऊँच योनियाँ मिलती हैं।

अथवा

पाप उसे कहते है कि जिन कर्मों से मन मे अशान्ति और क्षोभ आदि उत्पन्न हों। पुण्य या धर्म उसे कहते है जिन कर्मों से मन मे सुख, शान्ति और प्रसन्नता हो।

यहां परलोक और पुनर्जन्म का प्रसंग आया है। उन पर विस्तृत प्रकाश पड़ने की आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना पाठक या साधक को संशय बना ही रहेगा कि परलोक या पुनर्जन्म है या नहीं और उनके प्रति हमें क्या धारणा बनानी चाहिए ? मैं भी चाहता हूं कि इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला जाए, पर अन्यत्र स्थान पर।

५. धर्माचार्यों द्वारा तीन कर्म-मार्ग निश्चित—

धर्माचार्यों ने शास्त्रों में कर्मों के गुणों का निश्चय करके मनुष्य या साधकों के चलने के लिए मार्ग निश्चित किये है। उन्होंने तीन प्रकार के मार्ग निश्चित किये समझना चाहिए।

(१ पुण्य-मार्ग)—

जिस कर्म-मार्ग पर चलने से इसलोक, परलोक या पुनर्जन्म मे सुख प्राप्त हो; उसे पुण्य-मार्ग या पुण्यकर्म कहा जाता है।

सूचना—परलोक सम्बन्धी विषय पर छब्बीसवे अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

(२ पाप-मार्ग)—

जिस कर्म-मार्ग को अपनाने से इस लोक, परलोक या पुनर्जन्म मे दुःख प्राप्त हो; उसे पाप-मार्ग या पापकर्म कहते है।

(३ निष्काम-कर्मयोग)—

जिस पुण्य-मार्ग को, उसके फल की इच्छा से रहित होकर अपनाया जाए और जो मोक्ष का देने वाला हो; उसे निष्काम कर्म-योग कहा जाता है।

उपरोक्त रूप मे धर्माचार्यों ने तीन कर्म-मार्ग निश्चित किये हैं, जिनमें पाप-मार्ग मनुष्यों के लिए त्याज्य है और शेष दोनों पुण्य मार्ग ग्राह्य हैं। इन दोनों कर्तव्य-मार्ग मे भी निष्काम-कर्मयोग श्रेष्ठ है क्योंकि यह भोग और मोक्ष दोनों का देने-वाला है।

६. धर्माचार्यों द्वारा कर्मों के गुण-दोषों का निश्चय. परिवर्तन नहीं—

संसार में असंख्य कर्म हैं। उनके अपने-अपने गुण है। उन्हीं कर्मों के गुण-दोषों का निश्चय करके धर्माचार्यों ने मनुष्यों के कल्याण के लिए कर्मो को चुनकर शास्त्र में लिख दिए हैं या वर्णन कर दिये है कि अमुक कर्मो को करने से सुख प्राप्त होगा। और अमुक कर्मों को करने से दुःख प्राप्त होगा। धर्माचार्यों ने कर्मो और उनके गुण दोषों का निश्चय किया है, परिवर्तन नही। एवं न हि उन मे परिवर्तन करने की शक्ति थी।

(इस ग्रन्थानुसार कर्मयोगी को दोनों लोकों में सुख-शान्ति और आनन्द की प्राप्ति)—

अन्य ग्रन्थों के अनुसार इस ग्रन्थ में भी कर्म, उनके गुण-दोषों को जानकर, चुने गये हैं। हां, यह हो सकता है कि उनकी संख्या और परिमाण या विस्तार में अन्तर हो। जैसे अन्य ग्रंथों के अनुसार कर्म करने से सुख और आनन्द की प्राप्ति होगी, उसी प्रकार इस ग्रन्थ में वर्णित कर्म-साधन से सुख-आनन्द की प्राप्ति होगी। इस ग्रंथानुसार चलने से इस लोक के सुख-आनन्द की तो प्राप्ति होगी ही, यदि परलोक या पुनर्जन्म हुआ तो उसके सुख-आनन्द की भी प्राप्ति होगी। और मनुष्य नरक या नीच योनि से बचेगा, क्योंकि परलोक या पुनर्जन्म संस्कारों के अनुसार होता है और ये संस्कार अन्तःकरण में स्थित रहते हैं। जब अंतःकरण मे श्रेष्ठ संस्कार होंगे, तो उनके अनुसार मनुष्य को परलोक या पुनर्जन्म में भी श्रेष्ठता प्राप्त होगी।

७. बन्धन के परिवर्तन करने में पाप नहीं—

यदि साधक इस ग्रन्थ (मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्म-योग) मे वर्णित कर्मों की विधि से साधन करे तो उसे काम-क्रीड़ा या वैवाहिक बन्धन के परिवर्तन करने में कोई पाप नहीं लगता या नहीं लग सकता। साथ ही उसे इहलौकिक और पारलौकिक अधिक से अधिक सब प्रकार के सुख अवश्य प्राप्त होंगे।

८. विभिन्न देशों या सम्प्रदायों में परस्पर काम-क्रीड़ा की आपत्ति करने वाले साम्प्रदायिक, न-कि प्रकृति—

हमने विचार करके देखा है कि विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न देशों की स्त्रियों से पुरुष को काम-क्रीड़ा करने की इच्छा होती है परन्तु धार्मिक या सामाजिक प्रथा उस काम में रुकावट करती है।

इन धार्मिक या सामजिक प्रथाओं के निर्माताओं ने, मनुष्यों की सुख-समृद्धि को बढ़ाने के लिये, भिन्न-भिन्न कर्म-मार्ग निश्चित् किये हैं। परन्तु उन्होंने या उनके पीछे होने वाले संचालकों ने उस सम्प्रदाय में इतनी संकुचितता ला दी कि व सम्प्रदाय अन्य दूसरे सम्प्रदायों के प्रति संकुचित वृत्ति रखने लगे अथवा वे असहिष्णु होगये। वे सम्प्रदाय मानव कृत थे। उनमें दोष का रहना या आ जाना स्वाभाविक था, इसलिए वह दोषयुक्त हो गये। परन्तु ईश्वर या प्रकृति कृत रचना या गुण में दोष नहीं हुआ करता, उसमे परिवर्तन नहीं हुआ करता। ईश्वर या प्रकृति ने स्त्री और पुरुष को परस्पर काम-क्रीड़ा करने के हेतु से बनाया, परन्तु साम्प्रदायिक आचार्यों ने उसमे बाधा डालदी। इसलिए स्त्री-पुरुष विभिन्न देशों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न जातियों के होने से परस्पर काम-क्रीड़ा नही कर सकते। और तो क्या? आचार्यो के कारण से एक समाज के अंतर्गत भी समस्त स्त्री-पुरुष परस्पर काम-

क्रीड़ा नहीं कर सकते, परन्तु ईश्वर या प्रकृति की ओर से ऐसा करने में कोई आपत्ति नहीं है। इसी कारण से पुरुष स्त्री की ओर और स्त्री पुरुष की ओर आकर्पित हो ही जाते हैं। उनकी धार्मिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक प्रथा कुछ भी क्यों न हो? उनमें परस्पर प्रेम हो जाता है और वे एक दूसरे से मिलना चाहते हैं।

६. धर्माचार्यों के कर्म-मार्ग का समर्थन और कर्म-योगी को मार्ग-दर्शन—

यदि भिन्न देश, भिन्न सम्प्रदाय और भिन्न समाज के स्त्री तथा पुरुषों में अनुकूलता हो तो उनके परस्पर सम्बन्ध में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। परन्तु एक विचारणीय बात है कि प्रत्येक मनुष्य चिरकाल तक चलने वाले और शृंखलारूप में प्रस्फुटित कर्मों के गुण-दोषों का निश्चय नहीं कर सकता। इस कार्य का सम्पादन तो आचार्य ही कर सकते हैं। जिनके निश्चित कर्म-मार्ग पर जनता को चलना चाहिए और चला करती हैं। —

(१. सम्प्रदाय की परिभाषा)—

—जब आचार्य द्वारा वह निश्चित कर्म-मार्ग मनुष्य मात्र के लिए न रहकर कुछ व्यक्तियों के लिए सीमित हो जाता है, तो वह सम्प्रदाय कहलाने लगता है।

(२. आचार्यों द्वारा निश्चित कर्म-मार्ग ग्राह्य और त्याज्य)—

सर्व-साधारण जनता स्वयं तो अपने कर्म-मार्ग का निश्चय कर नहीं सकती। वह तो विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा निश्चित कर्म-मार्ग पर ही चल सकती है। हो सकता है कि आचार्य द्वारा निश्चित किये हुए मार्ग में न्यूनाधिक दोष भी रह जाएं और और उनका रहना बहुत कुछ संभव भी है। परन्तु जनता को तो उनके बतलाए हुए कर्म-मार्ग पर ही कर्त्तव्य पालन करना पड़ेगा। हो सकता है कि उन्हें न्यूनाधिक रूप में एक या अनेक प्रकार के दुःख भी उठाने पड़े, परन्तु अधिकतर उन्हें सुख ही होगा। हां, यह हो सकता है कि मनुष्य को अपनी जीवन प्रगति या सुख में ग्रहीत-सम्प्रदाय बाधक हो, तो वह अन्य सम्प्रदाय को ग्रहण कर सकता है। यदि वह भी उसके अनुकूल न हो, तो वह नया सम्प्रदाय निर्माण कर सकता है। यदि उसमें यह भी सामर्थ्य न हो, तो ग्रहीत-सम्प्रदाय के नियमों में कुछ परि-वर्तन कर सकता है। यदि उसमें यह भी शक्ति नहीं हो, तो वह ग्रहीत-सम्प्रदाय में ही रह कर उसके सुख-दुःखों को भोगना चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

१०. सम्प्रदाय परिवर्तन करने में आपत्तियां, चेतावनी और चतुष्कर्म-मार्ग—

मनुष्य को जब ग्रहीत-सम्प्रदाय के अंतर्गत जीवन प्रगति

या सुख-आनन्द मे बाधा पहुंचती प्रतीत होती है, तो वह उससे ऊब जाता है और वह उसके नियम पालन करना नहीं चाहता। वह उसके नियमों का उल्लंघन करता हुआ और उनको तोड़ता-फोड़ता हुआ अपनी जीवन-प्रगति या सुख-आनन्द चाहने लगता है।

ऐसे व्याकुल मनुष्य के लिए अभी ऊपर चार कर्म-मार्ग बतला आये हैं। जिनमेंसे सबसे पहले "नये सम्प्रदायका निर्माण करना" ले सकते हैं। दूसरे स्थान पर "सम्प्रदाय का परिवर्तन करना" रख सकते है। तीसरा कर्म-मार्ग "ग्रहीत-सम्प्रदाय मे से दोष निकालना" है और चौथा असमर्थ होने पर "ग्रहीत-सम्प्रदाय के सुख-दुखों को भोगना तथा उसके रूढि-वद्ध नियमों में जीवन व्यतीत करना" है।

(पहला और चौथा कर्म-मार्ग)—

उपरोक्त चारों मार्गों में से पहला-तो प्रत्येक व्यक्ति के काम का नही है और चौथे मार्ग का मनुष्य ग्रहीत-सम्प्रदाय वा आंशिक रूप से भी दोष दूर करने मे असमर्थ है। उसे-तो ग्रहीत-सम्प्रदाय के जो भी सुख-दुःख हैं, सब सहन करने पड़ेंगे। ऐसे मनुष्य के लिए इस ग्रन्थ मे सहन करने का मार्ग भी बतला दिया है। पुनरावृत्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है। रहा दूसरा और तीसरा मार्ग, उन पर कुछ प्रकाश डाला ज । है।

दूसरा मार्ग है "अन्य सम्प्रदाय का ग्रहण करना" या सम्प्रदाय का परिवर्तन करना" और तीसरा मार्ग है कि "ग्रहीत-सम्प्रदाय में से दोष निकालना"

(दूसरा मार्ग, सम्प्रदाय का परिवर्तन करना)—

इसे 'हम अन्य सम्प्रदाय का ग्रहण करना' भी कह सकते हैं। यह दूसरा कर्म-मार्ग है। इस कर्म-मार्ग मे दो सम्प्रदायों की आपत्तियाँ हो सकती हैं, एक-तो ग्रहीत-सम्प्रदाय वालों की और दूसरी ग्रहण किये जाने वाले सम्प्रदाय की।

—(१. ग्रहीत-सम्प्रदाय)—ग्रहीत-सम्प्रदाय वालों की आपत्तियां तीन प्रकार की हो सकती हैं, एक-तो उपकार करने के कारण, दूसरी उसके अपने हित की दृष्टि से और तीसरी रूढि बद्ध परंपरा के कारण, अज्ञानता से। इनमे से पहली आपत्ति तो ग्रहीत-सम्प्रदाय के प्रति कृतज्ञ होने से दूर हो सकती है। दूसरी आपत्ति, उसके अपने हित की दृष्टि से होती है। उसे अपने हिताहित को भली प्रकार से विचार लेना चाहिए। इस आपत्ति का सीधा सम्बन्ध परिवर्तनक ही से होता है। और तीसरी आपत्ति, अपना भयानक रूप रखती है। क्योंकि इसमें साम्प्रदायिक लोग अज्ञान और अंध विश्वास में फंसे हुए होते है। इसमें वे उचित अनुचित और लाभ हानि कुछ नहीं देखते। वे अपनी तथा सम्प्रदाय बदलने वाले की चाहे जितनी हानि कर सकते हैं। ऐसे रूढिग्रस्त या अन्ध विश्वासी सम्प्रदाय वाले लोगों से होने

वाली हानि को विचार करके ही अन्य सम्प्रदाय ग्रहण करना चाहिए। सम्प्रदाय-परिवर्तनक को यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि छोडे जाने वाले सम्प्रदाय की अपेक्षा, ग्रहण किये जाने वाले सम्प्रदाय मे सत्यता की अधिकता हो। यदि अन्य सम्प्रदाय में उसकी अधिकता न-हो. तो उसे कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। परन्तु इस बात का निश्चय करना बड़ा कठिन है। जब तक यह निश्चय न हो जाए, तब तक सम्प्रदाय का परिवर्तन करना भी ठीक नहीं है।

—(२ अन्य सम्प्रदाय)— ग्रहीत-सम्प्रदायकों की समस्या को सुलझाने के पश्चात् अब अन्य सम्प्रदायकों की आपत्तियों की समस्या के सुलझाने का यत्न किया जाता है।

अन्य सम्प्रदाय के धर्म और समाज को ग्रहण करते हुए एक आपत्ति यह आती है कि उसके संचालक कहने लगते हैं कि हमारे सम्प्रदाय की धार्मिक और सामाजिक प्रथा को रचने वाला ईश्वर है या वह प्रकृतिकृत है। दूसरे सम्प्रदाय का व्यक्ति इसके कर्म-मार्ग का साधन नहीं कर सकता अथवा हमारी धार्मिक और सामजिक प्रथाओ को ग्रहण करने का उसे अधिकार नही है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि उस कर्म-मार्ग या प्रथा को ईश्वर या प्रकृति की ओर से, ग्रहण करने का

कार नहीं है तो मनुष्य उसे कभी नहीं ग्रहण कर सकता.

वह चाहे जितना और चाहे जिस प्रकार से प्रयत्न क्यों न कर ले? यदि वह उस सम्प्रदायके कर्म-मार्गका साधन कर सकता है, तो समझना चाहिए कि उसे उसके पालन करने में ईश्वर या प्रकृति की ओर से कोई रुकावट नहीं है। यदि कोई यह आशंका करे कि उन कर्मों के साधन करने से उनके दूषित-फल प्राप्त होंगे, तो इस आशंका का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कि जब कर्म सिद्ध हो जाएगा तो विरुद्ध या विकृत-फल नहीं मिल सकता। क्योंकि 'कर्मानुसार फल की प्राप्ति' का सिद्धांत सर्व विदित है। फिर भी अन्य साम्प्रदायिक-सचालक आपत्ति करे, तो उस कर्म मार्ग पर चलने का अवसर देकर उसका परिक्षण किया जा सकता है। यदि उस कर्म-साधन में परिवर्तनक सफल हो जाता है, तो जान लेना चाहिए कि उसे अन्य सम्प्रदाय के धार्मिक और सामाजिक कर्मों के करने का अधिकार है; ईश्वर या प्रकृतिकी ओर से कोई रुकावट नहीं है, केवल मनुष्यों की ओर ही से प्रतिबन्ध है। अतः परिवर्तनक अन्य सम्प्रदाय के कर्मों का साधन कर सकता है या अन्य सम्प्रदाय को ग्रहण कर सकता है।

—(३. अनुकूल स्त्री ही से सम्बन्ध स्थापित होना साधक और समाज के लिए हितकर—यदि सब प्रकार से विचार

लेना चाहिए तो साधक या परिवर्तनक अन्य सम्प्रदाय को ग्रहण करके अपने अनुकूल स्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। यदि वह अनुकूल स्त्री से सम्बन्ध नहीं करेगा और प्रतिकूल से करेगा, तो परिणाम यह होगा कि उसका जीवन दु खमय हो जाएगा। दूसरी ओर, उक्त दोनों प्रकार की स्त्रियों का भी जीवन दु खी तथा अशात रहेगा। तीसरी ओर, समाज या सम्प्रदाय पर भी अभिशाप लगेगा। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए साधक अन्य सम्प्रदाय को अपना सकता है। और उससे सम्बन्धित दोनों सम्प्रदायों का भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वे भी सम्प्रदायके परिवर्तन करनेमे परिवर्तनक को सहायता दें। साथ ही ग्राहक-साधक का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह भी दोनों सम्प्रदायों के प्रति कृतज्ञ रहे।

(तीसरा मार्ग, ग्रहीत-सम्प्रदाय मे से दोष निकालना)—

तीसरा मार्ग है कि "ग्रहीत या स्व सम्प्रदाय मे से दोष निकलना"। अब इसी कर्म-मार्ग का वर्णन किया जाता है।

—(१ सम्प्रदाय परिवर्तन करने का कारण)— मनुष्य सम्प्रदाय का परिवर्तन तभी किया करता है जबकि—वह ग्रहीत (स्व) सम्प्रदाय-में ऐसा दोष हो या वह समझता हो, जिसे वह उससे से न निकाल सकता हो, जिसके न निकलने से— उसके वांछित-फल की प्राप्ति मे रुकावट हो या वह उसे प्राप्त न हो सकता हो।

(२. सम्प्रदाय के दोष निकालने में कठिनाई)—मनुष्य अपने दोष निकालने के यत्न करता है, तो उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। क्योंकि वह अपने कार्य में व्यस्त रहता है। उसकी शक्ति अत्यल्प होती है और समय भी परिमित होता है। साथ ही मनुष्य को दोष में आनन्द की भी अनुभूति होने लगती है, जो भ्रमात्मक होती है। जिसके छोड़ने में मनुष्य को अत्यधिक कठिनाई उपस्थित होती है। उस दोष को निकालने में एक यह भी कठिनाई आ जाती है कि जहां उसका वेग किसी भी कारण से कम हुआ कि मनुष्य किसी भी कारण से उस दोष को निकालने का यत्न करना छोड़ देता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य अपने दोष निकालने में असमर्थ हो जाया करता है। जबकि मनुष्य व्यक्तिगत स्वयं अपने ही दोष नहीं निकाल सकता तो वह समष्टिगत, समाज या सम्प्रदाय के दोष कैसे निकाल सकता है··· ? उसके निकालने में तो उसे अत्यन्त कठिनाई का अनुभव करना पड़ेगा। वह सम्प्रदाय का दोष निकालने में तब समर्थ हो सकता है, जबकि वह पहले अपने दोष निकाल दे अथवा निकालता चला जाये।

(३. दोष निकालने में कोई व्यक्ति विशेष समर्थ परन्तु साथ ही दोष का भी प्रवेश)—अपने से, समाज से या सम्प्रदाय से दोष निकालने वाला कभी कोई व्यक्ति महोदय

और गुण का स्थापन करने वाले व्यक्ति का समादर करता है, तो ग्राहक को अन्य सम्प्रदाय ग्रहण करने से क्या लाभ ?

जो व्यक्ति अपना या सम्प्रदाय का दोष निकालने के यत्न करने का साहस नहीं रखता, उसके संसार में रहने की क्या आवश्यकता है ? वह तो अपने और दूसरों के लिए भार स्वरूप है ? अत मनुष्य के उत्थान, सुख-शांति और आनन्द का श्रेष्ठ मार्ग तो यही है कि वह अपने सम्प्रदाय में रहता हुआ--उसके दोष निकलनें, गुण उत्पन्न करने का और बढाने का यत्न करे। इसी में ही मनुष्य का मस्तक ऊंचा रह सकता है। अन्य सम्प्रदाय के ग्रहण मे तो उसे उसके संचालकों के आगे नत-मस्तक ही रहना पड़ेगा। अतः अनुमानत. उपरोक्त आधारों को लेकर ही श्री मद्भगवद् गीता मे श्री कृष्ण चन्द्र जी ने कहा हो—

"स्वधर्मो निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः"

अतः मनुष्य के लिए अन्य सम्प्रदाय ग्रहण करने की अपेक्षा स्व सम्प्रदाय मे रहते हुये उसके दोष निकालने का यत्न करना अधिक श्रेयष्कर है।

अब मैं अपने इस अध्याय के, सम्प्रदाय सम्बन्धी चार १ के कर्म-मार्ग वर्णन करने के पश्चात्, सबसे पहले प्रश्न

के विषय पर आता हूँ कि इतना विचार करने के उपरान्त भी मन स्त्री की ओर क्यों आकर्षित हो जाता है...?

११. गत अध्यायों के कृत विचारों के प्रकार—

साधक विचार करता है कि मैंने विचार करके देखा है कि स्त्री-प्राप्ति या काम-क्रीड़ा करने मे जिस सुख-आनन्द की प्रतीति होती है, वह मन ही देता है। मैंने यह भी विचार करके देखा है कि जब तक समस्त कर्मों की पूर्ति न हो तब तक सुख रूप, पास और एकान्त आदि होने से स्त्री या काम-क्रीड़ा की प्राप्ति नहीं हो सकती। मैंने यह भी विचार करके देखा है कि कुटुम्ब की स्त्री होने पर भी काम-क्रीड़ा की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि कुटुम्ब भी एक प्रकार का बन्धन है, उसके अनुसार ही बरतना होगा। यदि उसका प्राप्त होना बन्धन मे हुआ तो प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं। मैंने यह भी विचार करके देखा कि कामदेव किस प्रकार से मनुष्य के निश्चय का बांध तोड़कर, उसे दीन-हीन बनाता हुआ, उसकी सुध-बुध भुला देता है। साथ ही मैंने यह भी उपाय सोचा है कि उससे किस प्रकार से अपनी रक्षा कर सकता हूँ। मैंने जब यह देख लिया कि मैं अपने को स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर जाने से नहीं रोक सकता तो कर्मों के कर्त्तव्याकर्तव्य नियमों को जाना। मैं ने इसका भी ज्ञान प्राप्त किया कि कर्म का साधन करते हुये किन-किन कर्म-तत्त्वों का ध्यान रखना चाहिए। मैं विचार करते हुये इस तत्त्व

पर भी पहुँचा कि कर्म-योग में सहन करने की आवश्यकता है। इसलिए सहन करने की विधि का भी ज्ञान प्राप्त किया। मैं इस स्थल पर भी पहुँचा कि कर्म-योगी को शक्ति-गुण प्राप्त करना चाहिए। मैंने कर्म का रहस्य भी जाना। मैंने प्रकृति, ईश्वर, अद्वैत अखण्ड अनन्त व्यापक तत्व या ब्रह्म के स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही जीव और कर्म के मौलिक अस्तित्व के तल-पट पर भी जा पहुँचा। मैं इस विचार पर भी पहुँचा कि सम्पूर्ण स्त्रियों को नहीं भोगा जा सकता और सबकी प्राप्ति की इच्छा भी न करनी चाहिए। मैंने यह भी देखा कि निश्चयोपरांत भी स्थिरता, दृढ़ता और साहस का पतन हो जाता है फिर भी साधक को विचार का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। इतने विचार करने के उपरांत भी मन स्त्री की ओर सहसा आकर्षित हो ही जाता है। अतः प्रतीत होता है कि अभी सचित-ज्ञान में कमी है। जब मैंने विचार की निश्चित सीमा से आगे बढ़कर देखा तो वास्तव में उसे सच पाया।—

१२. विचारोपरांत भी स्त्री की ओर आकर्षण क्यों ?—

—आगे साधक विचार करता है कि क्योंकि मेरा संसार के समस्त स्त्री-पुरुषों से सम्बन्ध है, केवल मनुष्यकृत बन्धन एक दूसरे को पृथक् किये हुए है। साथ ही वह बन्धन मनुष्य की सुख-शान्ति का हेतु भी है परन्तु जब उसमें विकार आता है या बढ़ जाता है तो वह दुःखदायी और पतन का

कारण भी बन जाता है। इसीलिए—दुःख तथा पतन से बचने के लिए और सुख, शान्ति तथा आनन्द के साथ जीवन-प्रगति करने के लिए मनुष्यकृत बन्धन अर्थात् सामाजिक या साम्प्रदायिक प्रथा की समस्या का समाधान करने का पर्याप्त यत्न किया है। पाप और पुण्य आदि विषय का भी ज्ञान प्राप्त किया है कि वह क्या वस्तु है। अतः कामदेव या मनोवेग ने मुझे स्त्री की ओर प्रवृत्त करके अच्छा ही कार्य किया है, जिससे मैं अज्ञानांश को दूर करने मे प्रवृत्त हुआ या यों कहना चाहिए कि प्रकृति ने इतने विचार करने के उपरान्त भी स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर इसलिए ही प्रवृत्त किया था कि मैं अपने अज्ञानांश को दूर करके ज्ञान को प्राप्त करूं। अतः इतना विचार करने के उपरान्त भी मन का स्त्री की ओर आकर्षित होना ठीक ही था क्योंकि जिससे साम्प्रदायिक समस्या का समाधान कर सका।

तेरहवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग)—

इस तेरहवे अध्याय में "विचारोपरांत भी स्त्री की ओर आकर्षण क्यों ?" इस प्रश्न को लेकर विचार किया गया है। विचार-प्रवाह के अन्तर्गत हमारे प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। साथ ही साम्प्रदायिक समस्या का भी बहुत-कुछ समाधान हो जाता है।

इस अध्याय में मन का किसी भी स्त्री की ओर आकर्षण परन्तु वन्धन के कारण रुकावट, बन्धन के तीन प्रकार, बन्धन की परिभाषा, वन्धन मनुष्यकृत है ईश्वर या प्रकृतिकृत नहीं, मनुष्य द्वारा वन्धन परिवर्तित, वन्धन के परिवर्तन करने में पाप नहीं, पाप और पुण्य आदि की परिभाषा, धर्माचार्यों द्वारा तीन कर्म-मार्ग निश्चित, धर्माचार्यों द्वारा कर्मों के गुण-दोषों का निश्चय परिवर्तन नहीं, इस ग्रन्थानुसार कर्म-योगी को सुख शान्ति और आनन्द की प्राप्ति, विभिन्न देशों या सम्प्रदायों में परस्पर काम-क्रीड़ा की आपत्ति करने वाले साम्प्रदायिक न-कि प्रकृति, धर्माचार्यों के कर्म-मार्ग का समर्थन और कर्मयोगी को मार्ग-दर्शन, सम्प्रदाय की परिभाषा, आचार्यों द्वारा निश्चित कर्म-मार्ग ग्राह्य और त्याज्य, सम्प्रदाय परिवर्तन करने में आपत्तियां, चेतावनी और चतुष्कर्ममार्ग, अनुकूल स्त्री ही से सम्बन्ध स्थापित होना साधक और समाज के लिए हितकर, ग्रहीत-सम्प्रदाय में से दोष निकालना, सम्प्रदाय परिवर्तन करने का कारण, सम्प्रदाय के दोष निकालने में कठिनाई, दोष निकालने मे कोई व्यक्ति विशेष समर्थ परन्तु साथ ही दोष का भी प्रवेश, अन्य सम्प्रदाय परिवर्तन करने की अपेक्षा स्व-सम्प्रदाय श्रेष्ठ, अन्य सम्प्रदाय के ग्राहक का सिद्धान्तिक कोई मूल्य नहीं, दोष निकालने वाले व्यक्ति का महत्व, स्व-सम्प्रदाय मे रहते हुए उसके दोष निकालना श्रेयष्कर और गत अध्यायों के

कृत विचारों के प्रकार आदि शीर्षक-उपशीर्षकों से विचार किया गया है तथा विचारोपरान्त भी स्त्री की ओर आकर्षण क्यों इस शीर्षक के साथ तेरहवे अध्याय की समाप्ति कर दी गई है।

यह अध्याय कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखता है क्योंकि साम्प्रदायिक ऐसी समस्या है जो साधक को, अपने गन्तव्य-पथ पर अग्रसर न होने देने के लिए, उलझाए रखती है। इस अध्याय मे इसी समस्या ग्रंथि को सुलझाया गया है। जिससे साधक साम्प्रदायिक फन्दे, सन्देह या भ्रम से निकल कर अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर हो सके। दूसरे ऊपर जितने भी शीर्षक उपशीर्षक दिए गए है, वे सब कर्मयोग से सम्बन्ध रखते है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के तेरहवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

तेरहवां अध्याय समाप्त

शुभम्

चौदहवां अध्याय

विचार धारा का अर्थ—

विचारधारा चौबीसों घण्टों नहीं चला करती। मनुष्य खाता है, पीता है, पहरता है, उतारता है, सोता है, जागता है, उठता है, बैठता है और चलता है आदि सभी बातों में समय लगता है। वह व्यक्तिगत, कौटम्बिक और सामाजिक आदि व्यवहार करता है। एवं अनेक प्रकार की आवश्यकताएं और परिस्थितियाँ उसके सामने आया करती हैं। जिनके कारण उसकी विचार-धारा निरंतर नहीं चला करती, बीच-बीच मे खण्डित हो जाया करती है। वे खण्डित शृंखलाएं परस्पर मिल तथा एक होकर आगे बढती है, जो धारा नाम से सम्बोधित की जाती है।

जब किसी कारण से विचारधारा खण्डित होकर किसी शृंखला में आरम्भ होती है, तो उस शृंखला का नवीन रूप भी हो जाया करता है। जो चली आती हुई विचारधारा को नवीन बल देकर अग्रसर करती है।

स्त्री विषयक मनोवेग प्रवाहित होने से हानियाँ—

स्त्री विषय में मन को नियन्त्रण करने वाले साधक की विचारधारा चल रही है, परन्तु वह किसी भी कारण से खण्डित होकर किसी नवीन शृंखला से आरम्भ हो जाती है।

साधक विचार करता है कि मैं कहीं जाता हूँ तो मार्ग में या किसी स्थान पर, जब किसी स्त्री को अपनी ओर मधुर दृष्टि से देखता हुआ पाता हूँ तो मैं समझने लगता हूँ कि उसका मेरे प्रति स्नेह है। उसका अपने प्रति स्नेह जानकर मुझ मे भी उस-प्रति स्नेह का भाव उत्पन्न हो जाता है। मैं समझने लगता हूँ कि उसमें मेरे को सुख पहुंचाने के भाव हैं। वह मुझे सुख पहुंचाना चाहती है। यह जानकर मुझ मे भी उसे सुख पहुंचाने के भाव हो जाते हैं। जब मेरी अंतस्चेतना मे उससे काम-क्रीड़ा करने के भाव होजाते है और उस समय उसमें स्नेह होता है तो मैं समझने लगता हूँ कि उसकी मेरे साथ काम-क्रीडा करने की इच्छा है। मै उस सुख-आनन्द को भोगने के लिये लालायित हो जाता हूं। बस, मै उस ओर प्रवृत्त हो जाता हूं। ऊपर-ऊपर से मैं उससे निवृत्त होने का विचार करता हूँ मन के उस स्फुरण को थमने के लिए रोकता हूं परन्तु वह स्फुरण नहीं थमता। क्योंकि उसे अंतस्चेतना प्रेरण करती रहती है। जब वह स्फुरण नहीं थमता तो वीर्य का स्राव भी होने लगता है। परिणाम यह होता है कि शरीर क्षीण हो-होकर निर्बल होने लगाना

है और मैं कर्तव्यपालन से च्युत होजाता हूँ। मुझ मे निस्तेजना आ जाती है, कायरता और आलस्य आ घेरते हैं। शरीर रोगी होने लगता है। साथ ही परस्पर प्रवृत्ति निवृत्तिका विरोधी कर्म होने से दोनों प्रकार के कर्मोंके फल क्षीण या नष्ट होने लगते हैं, जिससे सदा अहितकर तथा हानिप्रद प्रभाव होता है। इन हानियों से वचने के लिए, किसी भी स्त्री की मधुर दृष्टि के कारण उससे, काम-क्रीड़ा करने सम्बन्धी मन का स्फुरण न होना चाहिए। यदि उस समय मनोवेग प्रवाहित होगा, तो अवश्य उक्त हानिया उठानी पड़ेंगी।

स्त्री विषयक मनोवेग प्रवाहित होने से लाभ—

(१. मनोवेग से विचार की उत्पत्ति और वृद्धि आदि)—

जहाँ काम-क्रीडा के मनोवेग प्रवाहित होने से अनेक हानिया है, वहां अनेक लाभ भी होते हैं। क्योंकि मनोवेग के प्रवाहित होने से ही विचार की उत्पत्ति, वृद्धि, परिष्कार और अग्रसरता होती है। यदि मनोवेग का प्रवाह रुक जाए, तो विचार की उत्पत्ति और वृद्धि आदि भी रुक जाए।

(२. मनोवेग से विचार ही मनोवेग रूप)—

जब मनोवेग बारंबार प्रवहित होता है, तो विचार परिष्कृत होकर दृढ़ हो जाता है और वह अपने-आप ही स्फुरणे लगता

है। उस समय मनोवेग की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि उक्त विचार ही मनोवेग का रूप धारण कर लेता है।

(३. मनोवेग प्रवाहित होने से विचार में परिणत)—

साधक सोच रहा है कि जब मादकता और मधुरता से युक्त होकर स्त्री मेरी ओर देखती है तो मैं अपनी सुध-बुध खोने लगता हूँ और उसके विषय में चिन्तन तथा विचार करने लगता हूँ। एवं अनेक हानि-लाभ, उचित-अनुचित, न्याय अन्याय; सत्यासत्य का विचार करता हुआ, ऊंच-नींच और और ग्रहण त्याग का विचार करता हूँ। यदि विचार प्रबल हुआ तो यत्न या प्रयत्न के उपरांत मुझे सफलता मिल जाती है और मैं सन्तोष की सांस लेता हूं। यदि मनोवेग की प्रबलता हुई तो सब विचार धरे रहजाते हैं और वह मनमाना कर्म करवा लेता है। जिसका परिणाम प्राय पश्चात्ताप से पूर्ण होता है। अत जब जब मनोवेग प्रवाहित हो तब-तब अपने विचार की वृद्धि परिष्कारता, अग्रसरता और दृढ़ता करनी चाहिए।

(४. स्त्री से प्रेम करते-करते उससे सम्बंधित व्यक्तियों से भी प्रेम होना स्वाभाविक)—

जब मैं स्त्री के मादक नेत्रों की ओर देखकर प्रवाहित होता हूँ, तो उसमें उसके प्रति सहानुभूति जागृत हो जाती है। उस समय मैं उस स्त्री के सुख की प्राप्ति का चिन्तन तथा

यत्न करने लगता हूँ और अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने केलिए उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के हित का भी चिन्तन करने लगता हू। इस प्रकार मनोवेग के प्रवाहित होने से मैं दूसरों को लाभ पहुचाने की इच्छा करने लगता हूं। इस प्रकार मेरा एक से अनेक या उससे सम्बन्धित व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।—

(५. विभिन्न स्त्रियों के मादक नेत्रों से मनोवेगित होने से विश्व-प्रेम और सत्यता के निकट)—

—जब मैं विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न देशों की स्त्रियों के मादक नेत्रों से मनोवेगित होकर उनके प्रति सहानुभूति रखने लगता हूँ तो उनसे सम्बन्धित स्त्री-पुरुषों से भी सहानुभूति करने का मार्ग खोजने लगता हूँ। इस प्रकार से मेरा विश्व-प्रेम भी होने लगता है। मनुष्यकृत रूढ़ी से ग्रस्त परम्पराएं टूटने लगती हैं और मैं सत्यता के निकट पहुंचने लगता हूँ। परन्तु मैं समस्त स्त्रियों को नहीं भोग सकता तथा प्रेम-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। क्योंकि ऐसा कोई नहीं कर सका है, इतना पुरुषार्थ हो नहीं सकता और न-हि ऐसा करना प्रकृति के नियम में है। इन्हीं कारणों से समस्त स्त्रियों को भोगने और प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने का चिन्तन तथा यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, सब प्रकार के सुखों को व्यर्थ क्षीण और नष्ट करना है। इन सब प्रकार की क्षीणता

तथा नष्टता से बचने के लिए संसार की समस्त स्त्रियों को भोगने या उनसे प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने का चिन्तन और यत्न नहीं करना चाहिए। परन्तु मनोवेग से प्रवाहित होने से विचार द्वारा मनुष्यकृत रूढ़ि-बन्धन या प्रथा का भ्रम दूर होकर ज्ञान हो जाए, तो उस ज्ञान को सदा बनाए रखना चाहिए। क्योंकि वह सत्पथ का प्रदर्शक है।

---

१. स्त्री की प्रेम दृष्टि होने ही से काम-क्रीड़ा का भाव समझना भयावह—

किसी भी स्त्री की प्रेम-दृष्टि देखकर मैं यह समझने लगता हूँ कि उसकी मुझसे काम-क्रीड़ा करने की इच्छा है। किन्तु ऐसा समझना सर्वथा सत्य नहीं है। क्योंकि मनुष्य अत्यल्पशक्ति से युक्त होता है। वह अपनी सब आवश्यकताएं स्वयं पूरी नहीं कर सकता। वह अत्यधिक अंश मे दूसरों से पूरी किया करता है। अतः जब वह अपनी आवश्यकताएं दूसरों से पूरी होती जानता है, तो उसका दूसरों की ओर आकर्षित हो जाना स्वाभाविक है। जब वह आकर्षित होगा तो उसका प्रेम भी हो जाएगा। यही स्वभाव स्त्रियों मे भी है। अतः प्रेम-दृष्टि होने ही से यह समझ लेना कि अमुक स्त्री मे मेरे से काम-क्रीडा करने के भाव है, भूल होगी। हो सकता है

उसके मेरे प्रति काम-क्रीडा करने के ही भाव हों, परन्तु एका-एक उसे ऐसा समझ नहीं लेना चाहिए। यह भी सम्भव है कि उस स्त्री में अन्य अनेक प्रकार की आवश्यकताओं में से किसी एक या अनेक प्रकार की आवश्यकताएं पूरी करने की इच्छा हो। यदि मैं भ्रमवश काम-क्रीड़ा के भाव समझ लूंगा, तो मेरे लिए परिणाम बहुत-सम्भवत भयावह होगा।

१. प्रेम का आधार जानकर, अनुकूल होने पर ही ग्राह्य)—

साधक आगे विचार करता है कि किसी स्त्री का मुझ से प्रेम हो, तो सबसे पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि उसके प्रेमका आधार क्या है ..? फिर वह आधार अपने अनुकूल हो, तो उसके अनुसार पुरुषार्थ या व्यवहार करना चाहिए। यदि अनुकूल न-हो, तो उस प्रेम को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(२, स्त्री में किसी भी पुरुष के प्रति प्रेम होना, विचारके लिये, प्राकृतिक)—

स्त्री मे किसी भी पुरुष के प्रति प्रेम होना स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। जब उसका किसी भी पुरुष के प्रति प्रेम होगा तो ... मनोवेग तरंगित होने लगेगा, अर्थात् मन का स्फुरण होने लगेगा। जब मन का स्फुरण होने लगेगा, तो वह विचार

करके निश्चय करने में प्रवृत्त होगी। यदि उसके विचार में यह स्थिर हुआ कि अमुक पुरुष से काम-क्रीड़ा या प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, तब-तो वह ऐसा करेगी। यदि उसके विचार मे ऐसा निश्चय नहीं हुआ, तो वह ऐसा करने के लिए तैयार नहीं होगी। अतः किसी भी स्त्री मे प्रेम-भाव या स्नेह देखकर पुरुष को ऐसा चिन्तन नहीं करना चाहिए कि वह मुझ से काम:क्रीड़ा करेगी ही और ऐसा करना निश्चित है।

---

२. स्त्री का काम-क्रीड़ा का भाव निश्चित होने पर भी, आदर्श देखना आवश्यक—

साधक आगे विचार करता है कि स्त्री के विचार मे यह निश्चय भी हो जाए कि अमुक पुरुष के साथ काम-क्रीड़ा करनी चाहिए, तो-भी सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति हुए बिना, प्राप्ति न होगी। यदि किसी प्रकार से सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति भी हो जाए तो-भी मुझे (१) सिद्धांत, (२) बन्धन, (३) नियम, (४) नीति, (५) अधिकार, (६) आवश्यकता, (७) निर्दोषिता (८) निर्लेपता और (९) भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता देखना आवश्यक है। यदि वह मेरे आदर्श के अनुकूल हो, तो उस स्त्री से काम-क्रीड़ा करने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि वह अपने अनुकूल न हो, तो उससे काम-क्रीड़ा या प्रेम-सम्बन्ध कभी न करना चाहिए।

चौदहवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस चौदहवें अध्याय का साधक संक्षिप्त रूप में विचार करता है कि जब मैं किसी स्त्री को अपनी ओर मधुर दृष्टि से देखता हुआ पाता हूं तो मेरे में उसके प्रति स्नेह का भाव हो जाता है और मैं काम-क्रीड़ा करने के आनन्द को पाने के लिए लालायित हो उठता हूं। परन्तु मैं उस स्फुरण के प्रवाह को रोकना चाहता हूं। जब वह नहीं रुकता है तो मेरे वीर्य का स्राव होने लगता है। जिससे शरीर क्षीण हो-हो कर निर्बल, रोगी और निस्तेज हो जाता है। मुझे कायरता तथा आलस्य आ घेरते हैं। मैं कर्तव्य पालन से च्युत हो जाता हूं। साथ ही परस्पर विरोधी कर्म होने से वे एक-दूसरे के कर्म के फल को क्षीण या नष्ट करने लगते हैं। इन हानियों से बचने के लिए, जब जब मनोवेग प्रवाहित हो तब तब अपने विचार की वृद्धि, परिष्कारता और अग्रसरता करनी चाहिए। जिससे भविष्यत् में उन हानियों से बचा जाए।

साधक आगे विचार करता है कि जब मैं किसी स्त्री से प्रेम करता हूं तो उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियो से भी सहानुभूति हो जाती है और उनके सुख को चाहने लगता हूं। यही भावना आगे बढ़ते बढ़ते विभिन्न देशों, विभिन्न धर्मों और विभिन्न

जातियों की स्त्रियों के प्रति हो जाती है तो मेरे में विश्व के प्रति प्रेम हो जाता है और उस समय मनुष्य कृत रूढि ग्रस्त परम्पराएं टूटने लगती है और मैं सत्यके निकट पहुंचने लगता हूं। परन्तु समस्त स्त्रियों को आजतक किसी ने भोगा नहीं है, न-हि किसी में इतनी सामर्थ्य हुई है जो सब स्त्रियों से प्रेम कर सके और न-हि ऐसा करना प्रकृति में है। इसलिये समस्त स्त्रियों के भोगने या प्रेम-सम्बन्ध करने की इच्छा तथा यत्न करना व्यर्थ है। परन्तु इस प्रकार के व्यवहार में विचार के द्वारा ज्ञान उत्पन्न हो जाए, तो उसे सदा बनाए रखना चाहिए।

मुझको एक इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि स्त्री की प्रेम दृष्टि होने ही से उसके काम-क्रीड़ा करनके भाव समझना, भय का देने वाला है। क्योंकि प्रेम-दृष्टि अनेक प्रकार की आवश्यकताओं के कारण होती हैं। सम्भव हो कि उसमें काम-क्रीड़ा करने की आवश्यकता पूरी न करने की होकर, अन्य प्रकार की आवश्यकताओं को पूरी करने की हो। उस समय उसमें काम-क्रीड़ा का भाव जानकर इच्छा तथा यत्न करना हानि और भयके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं प्राप्त होगा। अतः स्त्री के प्रेम का आधार जानकर और उसके अपने अनुकूल होने पर ही, उसके साथ सहयोग स्थापित करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि स्त्री में किसी भी पुरुष से प्रेम

होना स्वाभाविक है क्योंकि जब वह किसी पुरुष में सुख-आनन्द जानती है तो उसके मनोवेग तरंगित होने लगते हैं, जिन पर वह अपने कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने लगती है। यह उसके लिये प्राकृतिक देन है। अतः पुरुष का यह समझ लेना कि स्त्री की प्रेम दृष्टि होने ही से, उसमें काम-क्रीड़ा के भाव का होना निश्चित है—भारी भूल है।

जबकि स्त्री अपने निश्चय के अनुसार ही पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करती है, तो साधक को भी चाहिए कि वह अपने आदर्श को देखे।

(कर्मयोग)—

यह चौदहवां अध्याय कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखता है क्योंकि इस अध्याय में विचारधारा का अर्थ समझाया गया है। साथही मनोवेग विषय पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जहां मनोवेग प्रवाहित होने से अनेक प्रकार की हानियां हैं, वहाँ अनेक प्रकार के लाभ भी हैं। यदि सम्यक् विचार से काम लिया जाए तो मनोवेग प्रवाहित होने से लाभ ही है। यदि मनोवेग प्रवाहित न हो, तो मनुष्य अपनी उन्नति या विचार का परि-मार्जन और वृद्धि आदि नहीं कर सकता। उसके प्रवाहित होने ही से मनुष्य अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर होता है। अतः मनुष्य जीवन के लिये मनोवेग प्रवाहित होना अतीव उपकारी

है। इस कारण इसके वर्णन होने से इस अध्यायका कर्मयोग से महत्वपूर्ण सम्बन्ध होगया है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थ के चौदहवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

चौदहवां अध्याय समाप्ति

शुभम्

पन्द्रहवां अध्याय

पिछले अध्याय मे मैं अनेक पारिभाषिक शब्द कह आया हूँ। उनके अर्थ जानने और उनके विषयों को समझने के लिये कुछ विस्तार में जाना आवश्यक है। वे पारिभाषिक शब्द (१)सिद्धांत, (२) बन्धन,(३) नियम,(४) नीति,(५)अधिकार, (६) आवश्यकता, (७) निर्दोषिता, (८) निर्लेपिता और (९) भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता है।

१. सिद्धांत—

(१. सिद्धांत का अर्थ)—

सिद्धांत शब्द का अर्थ है कि किसी कार्यके अंत में जो सिद्ध हो. उसे सिद्धांत कहा जाता है। अन्त मे जो सिद्ध होता है, वह सत्य होता है।

—(१. सत्व की परिभाषा)—सत्य उसे कहते हैं, जिसके अस्तित्व का कभी नाश न हो और जो कर्म मे छिपा रहता हो। जिसका प्रकटीकरण कर्म के मन्थन से हो। जैसे दूध में घृत छिपा रहता है, परन्तु वह दूध के मन्थन करने से प्रकट होता है।

कुछ शांति मिलना

—(२. कर्म-मन्थन का अर्थ)— कर्म-मन्थन का अर्थ है कि कर्मों के योग होने पर उसमें दृष्ट या अदृष्ट रूप से ऐसी क्रिया होती है, जिससे उसमें छिपी वस्तु प्रकट होजाती है।

—(३. प्रत्येक वस्तु में मनुष्य का सत्य को देखना)— मनुष्य सत्य को चाहता है, असत्य को नहीं। वह प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक गुण में, प्रत्येक क्रिया में और प्रत्येक बात में सत्य को ढूंढता है। यदि वह उसमें मिल जाता है तो उसे शांति मिल जाती है,सन्तोष होता है और वह आनन्द का अनुभव करता है। यदि उसे सत्य नहीं मिलता, अर्थात् असत्य मिलता है तो वह व्याकुल हो जाता है, दुखी होता और छटपटाता है।

—(४. सत्यासत्य के अर्थ की व्याख्या)—मनुष्य चाहता है कि जिस व्यक्ति को जैसा समझा है, उसके अनुसार वह निकले—यह सत्य है। यदि वह वैसा नहीं निकलता, तो असत्य है। मनुष्य चाहता है कि जिस वस्तु में जो गुण समझा गया है, वही निकले और उसीके अनुसार अपना प्रभाव दिखावे। यदि ऐसा होता है तो सत्य, अन्यथा असत्य। मनुष्य चाहता है कि जिस क्रिया को जिस प्रकार समझा गया है और उस से जो क्रिया, गुण तथा प्रभाव प्रकट होने वाला है, वही निकले। यदि ऐसा हो तो सत्य, अन्यथा असत्य। मनुष्य सत्य को इस प्रकार देखता है कि किसी से बात करने में जो विषय वस्तु, गुण और क्रिया आदि प्रकट किया गया है, वही निकले तो सत्य; अन्यथा असत्य।

मनुष्य किसी वस्तु, गुण, क्रिया, योग, और उससे निकलने वाली वस्तु, गुण क्रिया और प्रभाव आदि के सम्बन्ध में विचार के द्वारा निश्चय करता है। यदि निश्चय के अनुसार कर्मयोग करने से वांछित विषय निकल आता है तो वह निश्चय सत्य, अन्यथा असत्य समझा जाता है।

मनुष्य निश्चय कर सकता है। इसका अर्थ है कि किसी भी वस्तु, गुण और क्रिया को जान लेना, न-कि उन में परिवर्तन कर देना। छिपी हुई वस्तु को जान लेना या प्रकट कर देना ही सत्य कहलाता है।

—(५. कोई, सत्य का परिवर्तन नहीं कर सकता)— उक्त सत्य को कोई भी राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक या महात्मा आदि परिवर्तन नहीं कर सकता। राजनीतिज्ञ राज्य करने की नीति में सत्य का परिवर्तन नहीं कर सकता। वैज्ञानिक अपनी भौतिक वस्तु के निर्माण में उक्त सत्य का परिवर्तन नहीं कर सकता और महात्मा अपने आध्यात्मिक विषय में उक्त सत्य का परिवर्तन नहीं कर सकता। इस सत्य के अनन्त रूप हैं।

—(६. सत्यके अनन्त रूप और विषयानुसार सत्यका निर्णय)—

वर्तमान सृष्टि और उसके बाहर अनन्त वस्तु, अनन्त गुण, क्रिया, अनन्त योग और उन से निकलने वाले अनन्त हैं। इस प्रकार से सत्य के अनन्त रूप है।

हम सत्य के किस प्रकार के रूप का दर्शन करना चाहते है? यह विषय पर निर्भर है। वह विषय आध्यात्मिक, राजनैतिक, भौतिक, सामुहिक और वैयक्तिक आदि कोई भी हो सकता है। वह विषय जीव, ईश्वर, प्रकृति और ब्रह्म से भी सम्बन्ध रखता है। वह विषय संसार के भोग और उसकी समृद्धि से भी सम्पर्क रखता है और वह विषय किसी भी वस्तु के स्थायित्व-अस्थायित्व आदि के विचार से भी सम्बन्ध रखता है। अर्थात् जैसा भी विषय होता है, उसकेअनुसार सत्य का निर्णय किया जाता है।

(२. हमारे प्रसंग में सत्य का रूप)—

हमारे प्रसंग मे सत्य का वह रूप लेना चाहिए, जिस मानसिक कर्मयोग से काम-क्रीड़ा के विषय में मन या मनोवेग पर नियंत्रण हो जाए। जिन विचारों के द्वारा मन को अपने वश मे कर लिया जाए, वह सत्य है। जिस मानसिक कर्मयोग या विचार से मन वश मे न हो, वह असत्य है।

(३. वश या नियत्रण की परिभाषा)—

वश या नियत्रण का अर्थ यह है कि जिस काल मे जिस परिस्थिति मे, जितने परिमाण मे और जिस प्रकार का स्फुरण सक्रिय करना चहे, उतना कर लिया जाए।

(४. सिद्धांत की परिभाषा)—

सिद्धांत का अर्थ हमने 'सत्य' का लिया है। अन्त मे जो

सिद्ध हो, वह सिद्धांत या सत्य है। इसी अर्थ को और भी अधिक समझने के लिये 'उद्देश्य' शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं।

हम जिस उद्देश्य को लेकर कार्य करे, यदि उसके अन्त मे हमें वही मिल जाए तो सत्य या सिद्धांत कहलाएगा।

---

२. बन्धन—

आदर्श के एक तत्व 'सिद्धांत' का वर्णन हो चुका है, जिसमे सत्यासत्य के रूप को देखा गया है। अब दूसरा तत्व 'बन्धन' का वर्णन किया जाता है।

(१. मनुष्य स्वयं अपनी सब आवश्यकताएं पूरी न कर सकने के कारण, दूसरों से किया करता है)—

मनुष्य अत्यल्प शक्ति होता है। उसे विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएं होती हैं। उसे भोजन की, वस्त्र की, भवन की, यान की, औषधि की, विद्या की, तैल की, साबुन की और शास्त्रास्त्रों आदि की विविध आवश्यकताएं होती हैं। उन सब आवश्यकताओं को मनुष्य स्वयं पूरी नहीं कर सकता। वह दूसरे मनुष्यों, पशु-पक्षियों और जड़-चेतन जगत से पूरी किया करता है। इस प्रकार मनुष्य अपने जीवन को—दु.ख तथा क्लेशों को पार करता हुआ, सुख तथा आनन्द रूप बनाता हुआ—अग्रसर है।

(२. बन्धन की आवश्यकता)—

मनुष्य अपनी अत्यधिक आवश्यकताएं दूसरोंसे पूरी किया करता है। इसलिये उसे दूसरों से बंधने की आवश्यकता होती है। क्योंकि जब कोई मनुष्य अपनी वस्तु किसी अन्य को उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिये देता है, तो वह-भी उस व्यक्ति से किसी वस्तु को लेकर अपनी आवश्यकता पूरी करना चाहता है। ऐसे समय में बन्धन की आवश्यकता हुआ करती है। यदि तत्काल ही परस्पर लेन-देन हो जाता है तब-तो बन्धन की आवश्यकता होती नहीं, यदि लेन-देन में कुछ या अधिक समय लगता है तो बन्धन हो जाया करता है।

(३. बन्धन की विविधता)—

मनुष्य को विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएं होती हैं और उन आवश्यकताओं के अनुसार बन्धन का रूप भी हो जाया करता है। जैसे साम्प्रदायिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनियमिक, वैयक्तिक, सामूहिक, मैत्रिक, व्यापारिक, स्वामिक और नौकरिक आदि बन्धन के अनेक रूप हैं।

(४. बन्धन के पालन न करने पर दण्ड)—

बन्धन मे बंधने के उपरांत जब मनुष्य प्रतिज्ञात बन्धन का पालन नहीं कर सकता या नहीं करता तो-समाज, जिस प्रकार से भी बने, उसे उसको पालन करने का आदेश और दण्ड देता

है जब उक्त बन्धन को समाज भी पालन नहीं करवा सकता तो राजसत्ता की आवश्यकता होती है।

(५. परिस्थितियों के परिवर्तन होने से बन्धनमें परिवर्तन न करने से दोष)—

आवश्यकताएं भिन्न भिन्न होती हैं। ये आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों तथा अवस्थाओं के कारण होती हैं। परिस्थितियों तथा अवस्थाओं का परिवर्तन होता रहता है, इसलिये परिस्थितियों तथा अवस्थाओं के परिवर्तन के कारण बन्धन के रूप का भी परिवर्तन या सुधार करना आवश्यक हो जाता है। जब उसका परिवर्तन नहीं किया जाता तो जीवन चीख उठता है। उसकी प्रगति रुक जाती है। वह दुखी हो जाता है। उसमें रोग, आलस्य, कायरता, चोरी और छल-कपट आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(६. बन्धन परिवर्तन करते समय दूसरों के सुखों का भी ध्यान रखना आवश्यक)—

परन्तु बन्धन का परिवर्तन या सुधार करना सहज-कार्य नहीं है क्योंकि उसे परिवर्तन करते समय कुटुम्ब, परिवार, समाज और देश का भी ध्यान रखना पड़ेगा। बन्धन परिवर्तनक सुधारक को यह देखना पड़ेगा कि दूसरे किसी मनुष्य के

जीवन पर दुःखात्मक या हानिप्रद प्रभाव न हो, वरन् सुखात्मक और लाभप्रद प्रभाव हो। एव प्रत्येक का जीवन प्रगति कर सकता हो।

(७. संचालकों या नेताओं के द्वारा वन्धन परिवर्तन न होने से विविध हानियां)---

उपरोक्त बातों को समझना औरवंधन के लिये नियम बनाना प्रत्येक मनुष्य का काम नहीं है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को इसके लिये यत्न भी न करना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो परिणाम भयावह होगा, परन्तु ऐसा भी न होना चाहिए कि कोई भी यत्न न करे। इस कार्य को समाज-सम्प्रदाय के सचालकों या नेताओं अथवा विद्वानों को सम्पन्न करना चाहिए। यदि वे ऐसा न करेंगे और वन्धन रूढि से ग्रस्त हो जाएगा तो व्यक्ति, कुटुम्व, परिवार, समाजऔर सम्प्रदाय या राजनियमित देश का जीवन कराहने लगेगा। और हो सकता है कि अधिक व्याकुलता होने पर उक्त वन्धन मे अव्यवस्था फैलकर अनियमितता आजाए या अवांछित लोग उक्त लोगों से मन-माना खिलवाड़ करने लगे अथवा वह अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये उन्हे अपने श्रेष्ठ मार्ग से हटाकर नीच मार्ग पर ले आए।

अत जीवन को सुख-सम्पन्न वनाने और दूसरों के खिल-

पुरुष को स्त्री प्राप्त करते समय या उससे प्रेम-सम्बन्ध करते समय यह देखना चाहिए कि मेरे द्वारा किये गये कर्मों का अन्य स्त्री-पुरुषों पर कुप्रभाव तो नहीं पड़ेगा ..? यदि कुप्रभाव पड़े तो उसे उस प्रकार से पूर्ति न करनी चाहिए। यदि सुप्रभाव हो, तो उसे उन कर्मों को अपना लेना चाहिए।

---

५. अधिकार—

'नीति' तत्व का वर्णन करने के उपरान्त आदर्श के पांचवे तत्व 'अधिकार' का वर्णन किया जाता है।

(१. अधिकार की परिभाषा)—

अधिकार का अर्थ है कि किसी वस्तु को प्राप्त करने, व्यवहार में लाने या भोगने की शक्ति रखना, जिसमे किसी व्यक्ति को हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य न हो।

(२. हमारे विषय में)—

हमारे प्रसंगमे किसी स्त्री को प्राप्त करने या काम-क्रीडा करने से पहले यह देखना चाहिए कि उसे प्राप्त करने के लिए हमारे मे वह शक्ति है या नहीं, जिसमें किसी को हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य न हो। यह शक्ति आदर्श के अनुसार बरतने से उत्पन्न होती है। यदि हमारे में यह शक्ति हो, तब तो स्त्री प्राप्त करने या काम-क्रीडा करने का अधिकार है, यदि नहीं, तो अधिकार नहीं होता।

अधिकार हो तो स्त्री को प्राप्त करना, उस से प्रेम-सम्बन्ध करना या भोगना चाहिए—अन्यथा नहीं।

---

६. आवश्यकता—

(१. आवश्यकता की परिभाषा)—

आवश्यकता शब्द का अर्थ है कि किसी वस्तु, गुण या क्रिया के बिना हानि, दुःख, अशान्ति, गतिरोध और असुविधा हो और उसके प्राप्त हो जाने पर सुविधा, गति, लाभ, सुख और आनन्द की प्राप्ति हो जाए।

(२. आवश्यकता का काल, परिमाण और प्रकार देखना आवश्यक)—

साधक को आवश्यकता का काल और परिमाण भी देख लेना चाहिए, अर्थात् जिस काल (वर्तमान या भविष्यत्) में आवश्यकता हो और जितने परिमाण की आवश्यकता हो: उस ही काल और उतने ही परिमाण के लिए यत्न करना चाहिए। 'आवश्यकता' तत्व को ध्यान में रखते हुए, यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि वह हमारी शारीरिक आवश्यकता को पूर्ति करेगा या मानसिक अथवा अन्य प्रकार की आवश्यकता को पूरा करेगा।

(३ हमारे विषय में)—

स्त्री को प्राप्त करते, उस से प्रेम-सम्बन्ध करने या काम-क्रीड़ा करते समय पहले उपरोक्त बातों को विचार लेना चाहिए आवश्यकता हो तो यत्न करना चाहिए, अन्यथा नहीं। यह हमारे आदर्श का छठा तत्व है।

---

७. निर्दोषिता—

हमारे आदर्श का छठा तत्व 'आवश्यकता' का वर्णन करने के उपरान्त 'निर्दोष' तत्व का वर्णन किया जाता है। यह तत्व सातवाँ है।

इस 'निर्दोष' तत्व के अंतर्गत (१) सिद्धात, (२) बन्धन, (३) नियम, (४) नीति, (५) अधिकार और (६) आवश्यकता ये छ हो तत्व आ जाते है। हमारे आदर्श के ये छ हों तत्व मुख्य हैं, अन्य गौण हैं। जो गौण हैं, वे भी अपना निराला स्थान रखते हैं। जिनके अपनाने से मनुष्य के निर्दोष बनने में सरलता रहेगी। अत. निर्दोष रहने के लिये गौण तीनों तत्वों को भी अपनाना आवश्यक है। वे गौण तत्व (७) निर्दोषिता, (८) निर्लेपता और (९) भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता हैं। साथ ही इनके सहयोगी साधनों का भी इनके साथ समन्वय आवश्यक है। जो यत्र-तत्र अध्यायों में मिलेंगे। उनमें भौतिक सुख, मानसिक सुख और तात्विक दृष्टि से

विचार करना आदि आ जाते हैं। जिनका स्पष्टीकरण उनके प्रसंगों मे ही होगा और हुआ है।

वैसे तो यह 'निर्दोष' तत्व कोई विशेष तत्व नहीं है, परन्तु इसके स्मरण से सब तत्वों और उनके साधनों की ओर एक साथ ध्यान आकर्षित हो जाता है। इस लिये इसे एक समन्वय तत्व मान लिया जाए तो कोई आपत्ति की बात नहीं है।

---

८. निर्लेपता—

'निर्दोष' तत्व के वर्णन करने के पश्चात् अब आदर्श के आठवे तत्व 'निर्लेपता' पर आया जाता है।

यह तत्व महत्वपूर्ण है। वास्तव में देखा जाए, तो यह भी अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता। परन्तु एक 'निर्लेप' शब्द कहनेसे निर्लेप रखनेवाले समस्त तत्वों और उनके साधन-तत्वों का स्मरण हो जाता है। जिन तत्वों का दिग्दर्शन 'निर्दोष' तत्व में करा आए हैं और जहां-तहां अन्य अध्यायों मे वर्णन है। इस महत्ता के कारण 'निर्लेपता' को भी तत्व की संज्ञा दे दी गई है।—

—परन्तु 'निर्लेप' तत्व मे अपने अस्तित्व की कोई पृथक्ता न होने पर भी उस मे अपनी विशेषता है। जब तक मनुष्य निर्लेप नहीं होता, तब तक वह कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। क्योंकि उसमे उसके अपने राग-द्वेष के कारण

दोष आ ही जाते हैं। यह सत्य है कि राग-द्वेष के बिना भाव तरंगित नहीं होते और उनके तरंगण के बिना मनुष्य की प्रगति या महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो पाता। परन्तु 'निर्लेपता' प्रगति की अंतिम वस्तु है। इस अवस्था मे पहुँच कर ही मनुष्य निर्दोष स्थिति मे होता है और उस समय ही वह निर्दोष कर्म कर पाता है। जिससे उसे निर्दोष फल की प्राप्ति होती है। इसी कारण से 'निर्लेप' तत्व की अपनी विशेषता है। इस विशेष स्थिति के कारण ही 'निर्लेपभाव' को तत्व माना गया है। दूसरे, साधन अवस्था मे भी साधक के लिये निर्लेप होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जहा साधन अवस्था मे प्रगति के लिये राग-द्वेष की आवश्यकता है, वहां निर्लेपता की भी आवश्यकता है। इन दोनों तत्वों के योग ही से प्रगति होती है। इन्हीं कारणों से 'निर्लेपभाव' को एक तत्व मान लिया गया है।

---

९. भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता—

'निर्लेप' तत्व के वर्णन करने के उपरांत नवे तत्व 'भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता' पर आते हैं। यह भी अपने स्थान पर महत्व रखता है।

यहाँ भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता का अर्थ है कि पहाड, खड्ड, खाई, नदी, नगर, ग्राम, बाजार और गली आदि

अथवा भावनाओं और विचारों की पृथक्ता और निकटता। जिनके मनुष्यों के बीच में आ जाने से वे परस्पर नही मिल सकते और जिनके बीच मे से हट जाने से वे आपस मे मिल और व्यवहार कर सकते हैं।

किसी भी स्त्री की प्राप्ति के लिये हमे भौतिक और मानसिक समीपता-दूरता भी देखना आवश्यक है। यह हमारे आदर्श का नवां तत्व है।

दोष पहचानने के कर्मों की त्रिपुटी—

साधक को अपने दोष जानने की आवश्यकता रहती है। जिसे जानकर वह उसे दूर करने का यत्न कर सके। छठे अध्याय मे दूषित कर्मो के प्रकारों का वर्णन किया गया है और इनके अतिरिक्त और-भी बहुत-से दोष या त्रुटिया भिन्न-भिन्न अध्यायों मे वर्णन की गई है जिनका अपने विशेष रूप का ज्ञान कर्मो की त्रिपुटी ही से हु ा है। दोष पहले अव्यक्त रूप मे होता है, जो त्रिपुटी द्वारा व्यक्त रूप मे प्रकट होता है। इस त्रिपुटी मे (१) दूषित कर्म, (२) लिप्त-कर्म और (३) अनावश्यक कर्म आ जाते है।

जब साधक को अपने दोषों का ज्ञान न हो, तो वह उनको जानने के लिए कर्मो की त्रिपुटी को देखे। यदि त्रिपुटी मे से एक भी कर्म का प्रकार दृष्ट आता हो, तो मनुष्य को अपने कर्मो पर विचार करना चाहिए। जिससे उसे अन्य दोनों दोष भी अवश्य

मिल जाएंगे क्योंकि उक्त तीनों कर्म ऐसे हैं, जो परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। इस त्रिपुटी का ज्ञान कर लेने पर, अपवाद को छोड़कर, साधक को अपने मानसिक दोषों का ज्ञान अवश्य हो जाएगा।

(१. त्रिपुटी का दूषित कर्म)—

जहां 'दूषित कर्म' किये जाएंगे, वहां लिप्तता अवश्य होगी क्योंकि बिना लिप्तता के दोषी कर्म नहीं हो सकते और जहां दोषी कर्म होंगे, वहां कर्मों का अनावश्यक योग भी अवश्य होगा।

(२. त्रिपुटी का लिप्त कर्म)—

जहां 'लिप्तता' दोष होगा—अर्थात् मनुष्य जिस कर्म के छोड़ने का विचार या निश्चय करेगा; उसको वह अपने मन से त्याग न कर सकेगा—वहां दूषित कर्म भी होगा और अनावश्यक कर्म भी।

(३. त्रिपुटी का अनावश्यक कर्म)—

जहां अनावश्यक कर्म होगा, वहां लिप्तता और दूषित कर्मता भी आ जाएगी। क्योंकि अनावश्यक कर्म तभी होता है जब कि लिप्तता और दूषितता हो।

अत: उक्त तीनों कर्मों में से कोई एक-भी प्रकार का कर्म प्रतीत हो, तो समझ लेना चाहिए कि उपरोक्त तीनों ही प्रकार

के दोष विद्यमान हैं। जब साधक को अपने कर्मों की त्रिपुटी का ज्ञान हो जाएगा, तो उसे अपने विशेष या व्यक्त रूप से दोषों का भी ज्ञान हो जाएगा। जिससे वह उनको अपने में से निकालने का यत्न कर सकेगा।

पन्द्रहवें अध्याय पर विहङ्गम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग)—

इस पन्द्रहवे अध्याय में (१) सिद्धान्त, (२) बन्धन, (३) नियम, (४) नीति, (५) अधिकार, (६) आवश्यकता (७) निर्दोषिता, (८) निर्लेपता और (९) भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता इन नौ तत्वों पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही मानसिक दोष जानने के लिए कर्मों की त्रिपुटी का भी वर्णन किया गया है।

यह पन्द्रहवां अध्याय मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग दोनों से सम्बन्ध रखता है क्योंकि आदर्श के उपरोक्त तत्व दोनों विषयों से पूर्ण सम्बन्ध रखते हैं।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के महत्वपूर्ण पन्द्रहवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

पन्द्रहवां अध्याय समाप्त

शुभम्

सोलहवां अध्याय

वास्तव में स्त्री किसके सुख के लिये करती है ?—

साधक की विचार धारा चल रही है। वह विचार करता है कि अनेक बार ऐसा होता है कि कई स्त्रिया मुझे स्नेह की दृष्टि से देखती हैं, स्नेह करती हैं और सुख पहुँचाने का यत्न करती हैं। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि वह मेरे सुख के लिये कर रही है, अपने लिये नहीं या मेरा सुख प्रधान होता है और अपना (स्त्री का) गौण। अब यह देखना है कि वह वास्तव मे मेरे सुख के लिये करती है या अपने सुख के लिये। मेरा सुख प्रधान है अथवा उसका अपना।

स्त्री अपने सुख के लिये करती है, मेरे लिये नहीं—

(पहला कारण, शरीर सुख-दुःख और भाव का पृथक्-पृथक् होना—

पहली बात तो यह है कि मेरे और स्त्री के शरीर तथा भाव पृथक-पृथक हैं, निरोगता तथा रोगता पृथक् हैं और

सुख-दुःख पृथक् हैं। जब कि सब कुछ पृथक्-पृथक् है, तो स्त्री या अमुक स्त्री मेरे सुख के लिये कर ही कैसे सकती है...? हां, यह हो सकता है कि प्रधान रूप से अपने सुख-आनन्द की प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर वह मेरे सुख के लिये भी करे। दूसरे यह भी हो सकता है कि वह वर्तमान काल में अपना सुख न चाह कर, भविष्यत् में उसे प्राप्त करने की इच्छा हो अथवा भूतकाल में उसे सुख पहुंचाया हुआ हो, तो वह अपना कर्तव्य ही समझकर करे। किन्तु जबकि शरीर आदि सब कुछ पृथक्-पृथक् है, तो यह संभावना कैसे की जा सकती है कि वह अपने सुख के लिये न करके, मेरे सुख के लिये करेगी...?

(दूसरा कारण सुख-दुःखों का पृथक् अनुभव होना)—

मेरे सुख के लिये न करने का दूसरा कारण यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों के भाव पृथक्-पृथक् होते है और वे उन्हे पृथक्-पृथक् ही भासते हैं। जबकि भाव पृथक्-पृथक् हैं और वे पृथक्-पृथक् ही भासते हैं; तो उन भावों में जो-जो सुख-दुःख होंगे, वे पृथक्-पृथक् ही भासेगे। जबकि उन्हे सुख-दुःख पृथक-पृथक ही भासेगे, तो वे पृथक-पृथक (अपना-अपना) यत्न करेंगे। इससे सिद्ध होता है कि सब स्त्री-पुरुष अपने-अपने सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्तिके लिये यत्न करते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार अमुक स्त्री मुझ से जो प्रेम-स्नेह करती है और मुझे सुख-आनन्द पहुंचाना चाहती

है—वह अपने ही सुख के लिये, मेरे लिये नहीं। मेरा सुख-आनन्द जो दृष्ट आता है, वह-तो गौण है, मुख्य नहीं।

तीसरा कारण, दूसरों के सुख-दुःख लक्षणों के द्वारा ज्ञात होना)—

जबकि किसी को अपने ही सुख-दुःख का अनुभव होता है, दूसरे के का नहीं, तो दूसरे के सुख-दु खों को तो लक्षणों के द्वारा ही जाना जा सकता है। ऐसी अवस्था में स्त्री अपने सुख को छोड़कर मेरे सुख के लिये कर ही कैसे सकती है ?

(चौथा कारण, अपरिचित और दूर होने के समय अपने ही सुख के लिये करना)—

चौथी बात यह है कि जिस स्त्री के प्रति यह कहा जाता है कि वह मेरे सुख के लिये करती है। वास्तव मे देखा जाए तो ऐसा नहीं है। क्योंकि यदि वह मेरे सुख के लिये करती तो —जबकि हम एक-दूसरे को जानते भी न थे, एक-दूसरे से दूर और पृथक रहते थे—उस समय भी करती। परन्तु उस समय वह नहीं करती थी, किन्तु अपने सुख के लिये अवश्य करती थी। इससे सिद्ध हो जाता है कि अब जो वह मेरे सुख के लिये करती है, वास्तव मे मेरे सुख के लिये नहीं कर रही है,

सूचना—लक्षण विषय का चौबीसवें अध्याय में विस्तृत वर्णन है।

अपने ही सुख के लिये कर रही है, परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वह मेरे सुख के लिये कर रही है।

(पांचवां कारण, स्त्री का अपने कुटुम्बियों के सुख के लिये न करना)—

पांचवी बात यह है कि यह देखा है, सुना है, समझा है और कहा जाता है कि "अमुक स्त्री मेरे या अमुक पुरुष के सुख के लिये करती है।" यदि ऐसा होता, तो वह अपने कुटुम्ब को ही क्यों छोडती···? क्योंकि जैसे दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति की मुझे इच्छा है, उसी प्रकार उसके कुटुम्ब वालों को भी इच्छा है। जबकि वह अपने कुटुम्ब वालों के लिये दु ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिये यत्न नहीं करती, तो उसी प्रकार वह मेरे लिए भी नहीं करती। जब वह किसी के लिये भी नहीं करती, तो वह किसी के सुखकी प्राप्तिके लिये तो करती ही है···? इसके उत्तरमें रह जाता है,उसका अपना आपा। बस, सिद्ध हो जाता है कि वह अपने सुखके लिए ही करती है।

यह जो देखा, सुना, समझा और कहा जाता है कि "अमुक स्त्री मेरे सुख के लिये करती है" वास्तव में ऐसा नहीं है। वह अपने किसी गंभीर अर्थ की सिद्धि के लिये ही ऐसा कर रही है, जो मुझे प्रतीत नहीं होता।

(छठा कारण, अरबों मनुष्यों के सुख के लिये भी न करना)—

मेरे सुख की प्राप्ति के लिये यत्न नहीं करने का छठा कारण निम्न लिखित है—

मैं यह समझता हूँ कि 'अमुक स्त्री मेरे ही सुख के लिए करती है, अपने सुख के लिए नहीं। अपने सुख के लिए जो वह करती है, वह भी मेरे ही सुखके लिये'। परन्तु जब विचार दृष्टि से देखा जाता है तो इस बात का रहस्य खुल जाता है और मुझे अपना निश्चय भ्रमपूर्ण प्रतीत होने लगता है। क्योंकि जब मैं ध्यान से यह देखता हूँ कि यदि वह स्त्री मेरे सुख के लिए करती तो संसार के अरबों मनुष्यों के सुख के लिये भी करती। किन्तु वह ऐसा नहीं करती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वह मेरे सुख-प्राप्ति के लिये भी नहीं करती है। जब वह किसी के लिये भी सुख-प्राप्ति का यत्न नहीं करती, तो किसी के लिये तो करती ही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह होता है कि शेष में उसका अपना-आपा रह जाता है। बस, सिद्ध हो जाता है कि वह अपने सुख के लिए ही करती है, मेरे सुख के लिये नहीं।

(सातवाँ कारण, मेरी अपेक्षा अत्यधिक दुःखियों के लिये न करना और 'मैं' प्रिय लगना)—

संसार में ऐसे बहुत-से स्त्री-पुरुष हैं, जो मेरी अपेक्षा

अनेक प्रकार से अत्यधिक दुःखी हैं; क्या शारीरिक दृष्टि से, क्या आर्थिक दृष्टि से, क्या विद्या की दृष्टि से, क्या इष्ट-मित्रों की दृष्टि से, क्या समाज की दृष्टि से, क्या सेवकों की दृष्टि से और क्या अन्य दृष्टि से ? सभी प्रकार से वे अत्यधिक दुःखी है, परन्तु वह-अमुक स्त्री सबके सुखों को छोड़कर मेरे सुखों के लिए ही करती है। ऐसे मेरे सुखों ही में क्या विशेषता है जो वह उनके लिए ही करती है···?

विचार दृष्टि से देखा जाए, तो मेरे सुखों तथा अन्य लोगों के सुखों मे कोई भेद नहीं है। बरन् मेरी अपेक्षा उन लोगों को सुखों की अत्यधिक आवश्यकता है, क्योंकि वे मेरी अपेक्षा अत्यधिक दुःखी हैं। परन्तु वह मेरे को ही सुख पहुंचाने के लिए यत्न करती है। इससे सिद्ध होता है कि उसे मेरे से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध करना है। जबकि उसे अपना कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध करना है, तो उसका अपने ही सुख को प्राप्त करना हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री मेरे सुख के लिये जो करती है, वह अपने ही सुख के लिये करना है। वह मुझे प्रलोभन देकर अपना स्वार्थ बनाना चाहती है।

यदि वह कहती है कि 'तू मुझे प्रिय लगता है ,इस लिये मैं तेरे लिए करती हूँ', तो वास्तव में ध्यानपूर्वक देखा जाय तो—

—(सुख का अर्थ)— प्रिय लगने ही को सुख कहते है। जब उसे प्रिय लगता है, तो समझना चाहिए कि उसे सुख हो

रहा है। अत: सिद्ध हो जाता है कि वह जो मेरे सुख के लिये कर रही है, उससे उसी का सुख सिद्ध हो रहा है—अर्थात् वह अपने ही सुख के लिए कर रही है, मेरे सुख के लिये नहीं। क्योंकि जब उसे प्रिय लगना बन्द हो जाएगा, अर्थात सुख होने से रह जाएगा तो वह मेरे लिये सुख प्राप्ति का यत्न करना छोड देगी।

उपरोक्त विवेचना के उपरांत सिद्ध हो जाता है कि अमुक स्त्री मेरे सुख के लिये जो यत्न करती है, वह वास्तव में मेरे लिये नहीं है, अपने लिये ही है। अत तू उसके कर्मों से मोहित न होना।

(आठवां कारण, दैनिक व्यवहार)—

अबतक अस्तित्व की दृष्टि से, लाक्षणिक दृष्टि से और विचार योग्य-व्यवहार की दृष्टि से निर्णय करने के पश्चात् अब दैनिक व्यवहार से भी देख लेना चाहिए कि 'अमुक स्त्री मेरे को जो सुख पहुँचाने का यत्न कर रही है, यह वास्तव में मेरे ही सुख के लिये यत्न है अथवा वह अपने किसी स्वार्थ को सिद्ध करना चाहती है ··? दोनों में से कौन प्रधान है ?

—(स्त्री, आवश्यकता पूरी होने से प्रसन्न)— जबतक स्त्री की इच्छा के अनुसार कार्य करते रहो, उसकी आवश्यकताएं पूरी करते रहो, तबतक वह बड़ी प्रसन्न रहेगी और

उसकी आवश्यकता पूरी होने-मे रही कि वह प्रसन्न होने-

से रही। जब उसकी इच्छा के प्रतिकूल कार्य होने लगा कि वह विरुद्ध होने लगी।

स्त्री को पति के विरुद्ध होते देखा है। वह पति को कोसती है, उसका अहित चाहती है और उसके दोषों का बखान करती है। और जहां स्त्री, अपने पति से, अपना स्वार्थ सिद्ध होता देखती है, वहा वह पति-भक्ता तथा पति-प्राणा बन जाती है और वह अपने पति पर तन, मन तथा धन न्यौछावर करने लगती है। वह अनेक कष्ट उठाकर भी अपने स्वामी की सेवा करती है। इसी प्रकार वह अपने पुत्र तथा पुत्रियों, मिलनेवालों और मिलनेवालियों के साथ व्यवहार करती है। इन दैनिक व्यवहारों से स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री अपने ही सुख के लिये करती है। मेरे (पुरुष के) लिये जो सुख पहुचाती दृष्ट आती है, वह-भी परिणाम स्वरूप अपने ही सुख के लिये है। अतः सिद्ध हो जाता है कि प्रधान स्त्री का अपना सुख रहता है और गौण रूप से मेरा या पुरुष का।

(नवां कारण, कार्मिक सिद्धान्त और उद्देश्य सिद्धि के लिये दूसरों को साधन बनाना)—

नवा कारण है कर्म का। कर्म दृष्टि से देखा जाए तो सब स्त्री-पुरुष अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल को प्राप्त होते हैं, दूसरे तो निमित्तमात्र ही बनते हैं। इसी कारण से सब स्त्री-पुरुष अपने-अपने कर्म-साधन में लगे रहते हैं और अपने उद्देश्य

की प्राप्ति के लिये दूसरों को साधन बनाया करते हैं। इस आधार से भी कहा जा सकता है कि स्त्री का प्रमुख ध्येय अपने ही को सुख पहुँचाना होता है।

(दशवां कारण, प्राकृतिक रचना)—

दशवा कारण, प्रकृति का है। प्रकृति ने इस प्रकार की रचना की है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने-अपने ही के लिये सुख-प्राप्ति का यत्न करे। इसी कारण उसने पृथक्-पृथक् स्त्री और पुरुष के पृथक्-पृथक् पिण्ड बनाए। उनमें पृथक्-पृथक् ज्ञानेन्द्रिया बनाई, पृथक्-पृथक् कर्मेन्द्रिया बनाईं और पृथक्-पृथक अन्तःकरण बनाये। इन पृथक्ताओं के देने का प्रयोजन यही है कि स्त्री-पुरुष पृथक्-पृथक कर्म करे और पृथक्-पृथक फल को भोगे।

प्रकृति की इस पृथकता के आधार पर कहा जा सकता है कि स्त्री अपने ही सुख के लिये करती है। दूसरे के लिये जो करती है, वह-भी अपने ही हित साधन के लिए।

(ग्यारहवां कारण, काम-क्रीडा ही मेरे सुख के लिये करना कैसे सम्भव ?)—

ग्यारहवीं बात यह है कि स्त्री कहती है कि 'मैं काम-क्रीड़ा तेरे आनन्द के लिए करती हूँ, और-सुख न करूं तो क्या" परन्तु विचार दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि

जब कि स्त्री सब सुख अपने लिये ही करती है, तो काम-क्रीडा का करना ही मेरे सुख के लिये कैसे सभव हो सकता है ?

जैसे अन्य सब प्रकार के सुख हैं, उसी प्रकार का यह-भी सुख है। जब कि वह सब प्रकार के सुख अपने लिये करती है, तो यह काम क्रीड़ा का सुख भी अपने लिये ही करती है। यह नहीं हो सकता कि अन्य सब प्रकार के सुख अपने लिये करे और यह काम-क्रीड़ा का सुख अन्य के लिये।

—(स्त्रीका, काम-क्रीड़ा का सुख भी, अपने लिये ही करना)—

यदि किसी प्रकार मान भी लिया जाए कि स्त्री काम-क्रीडा का सुख मेरे लिए करना चाहती हैं, तो पहले अनेक बार यत्न करने पर भी वह इस विषय के लिए तैयार नहीं हुई और अब वह क्यों तैयार हो गई ? इसका कारण क्या है ?

यदि वह उक्त सुख मेरे ही लिये करना चाहती है, तो वह उस के लिये पहले भी तैयार होनी चाहिए थी परन्तु वह पहले तैयार नहीं थी। इससे स्पष्ट होता है कि वह अब जो तैयार हैं; मेरे सुख के लिये नहीं है, उसे अपना ही सुख प्रतीत होने लगा है। इसी सुख को प्राप्त करने के लिये वह अब तैयार हो गई है। अतः वह अब जो मुझसे काम-क्रीड़ा करना चाहती है, अपने ही सुख के लिये; न-कि मेरे सुख के लिए। परन्तु प्रतीत ऐसा होने लगता है कि वह मेरे सुख के लिये काम-क्रीडा करना चाहती है।

साधक आगे विचार करता है कि मै अनेक बार ऐसा चाहता हूँ कि अमुक स्त्री या प्रेयसी मुझ ही से प्रेम-क्रीडा करे, अन्य पुरुष से नहीं। परन्तु वह ऐसा नहीं करती है। वह, मेरे बारबार अनिच्छा प्रकट करने या मना करने पर भी, अन्य पुरुष से प्रेम-क्रीड़ा करने लगती है। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि वह जो मुझसे काम-क्रीड़ा करना चाहती है; अपने ही सुख के लिये, न-कि मेरे सुख के लिये। परन्तु वह ऐसा प्रकट करती है या मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह काम-क्रीड़ा का सुख मेरे ही लिये करना चाहती है, पर वास्तव मे ऐसा समझना भूल है।

स्त्री अपने सुख के लिये करती है और साधक को अपना कर्तव्यपालन आवश्यक—

साधक विचार करता है कि उपरोक्त विस्तृत विवेचन के उपरान्त सिद्ध हो जाता है कि स्त्री जो मेरे सुख के लिये करती है, वह वास्तव मे वैसा नहीं है। मेरे सुख के लिये वह जो यत्न करती दिखाई देती है, वह वास्तव में अपने ही सुख-साधन के निमित्त करती है। मुझे तो वह अपना साधन-मात्र बना लेती है, परन्तु प्रकट ऐसा करती है या कहती है कि मैं तेरे सुख-साधन के लिये ही करती हूँ। ऐसा प्रकट करना या कहना भ्रान्तिजनक है, असत्य है। यदि वह ऐसा जानकर कहती

है, तब-तो वह मुझे फँसाना चाहती है और यदि अनजान से कहती है तो उसे भ्रम है, अज्ञान है। उसके कर्मों से मुझे मोहित नहीं होना चाहिए। अपने ज्ञान-चक्षुओं के द्वारा सत्यासत्य को देखकर अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होना चाहिए।

सोलहवें अध्याय पर विहङ्गम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस सोलहवें अध्याय मे यह विचार किया गया है कि "स्त्री मेरे (पुरुष के) सुख के लिये करती है या अपने लिए" इस विषय पर विचार करने के पश्चात् यह परिणाम निकला है कि "स्त्री प्रमुख रूप से अपने ही सुख के लिये करती है और कर भी सकती है, मेरे (पुरुष के) सुख के लिये तो अपने सुख-साधन के निमित्त ही करती है"। ऐसे करने के अनेक प्रकार के तात्विक कारण वर्णन किये गये हैं। जैसे शरीर सुख-दु:ख तथा भाव का पृथक् होना, सुख-दु:खों का पृथक् अनुभव होना और दूसरों का सुख-दु:ख लक्षणों के द्वारा जानना आदि उदाहरणों से उक्त परिणाम निकला है।

(कर्मयोग)—

इस अध्याय में सुख की परिभाषा की गई है। यह अध्याय कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखता है। क्योंकि कर्म का साधन

करते हुये मनुष्य को यह जानने की आवश्यकता होती है कि स्त्री या दूसरा व्यक्ति—

'सुख किसके लिए करता है और कर्तव्यपालन किसके लिए ?'

इस अध्याय मे इस विषय पर ही पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के सोलहवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

सोलहवा अध्याय समाप्त

शुभम्

सत्रहवां अध्याय

साधक का दुविधा में पड़कर विचार-आश्रय ग्रहण करना—

साधक मन और बुद्धि दोनों के परस्पर संघर्ष के १६ अध्यायों को पार कर अब सत्रहवे अध्याय मे प्रवेश कर रहा है।

साधक विचार करता है कि मै दूसरे के सुख के लिये करता हूँ, स्त्री के सुख-साधन मे लगा रहता हूँ। मै उसके लिये अपना खाना, पीना और पहरना आदि सब कुछ भूल जाता हूँ। मार्ग मे जाता हूँ तो उसके हित का चिन्तन, किसी कार्य मे संलग्न होता हूँ तो उसका स्मरण और रोग-शैया पर पड़ा होता हूँ तो उसकी भलाई का विचार। प्रयोजन यह है कि जब-तब जिस-तिस समय में मैं स्त्री के सुख की प्राप्ति के लिये चिन्तन और यत्न करता रहता हूँ और कभी अपने सुख के लिये चिन्तन तथा यत्न करने लगता हूँ; साथ ही प्रेयसी के प्रति उपेक्षा भी हो जाती है। इस अवस्थामे मै समझ नहीं पाता कि मै किसके सुख

के लिये करता हूँ ? इस प्रकार दुविधामें दिन-रात व्यतीत होते चले जाते हैं। इस अवस्था मे मैं किसी भी एक मार्ग मे चलकर उसके फल को प्राप्त नहीं कर सकता और मैं वास्तवता को समझ नहीं पाता। किन्तु उसका समझना आवश्यक है। उसके जाने बिना निस्तार भी नहीं है। अतः 'मै अपने सुख के लिये करता हूँ अथवा स्त्री (दूसरे) के सुख के लिये'। इस विषय का विचार द्वारा निश्चय करना चाहिए।

मेरा अपने ही सुख के लिये करना, न-कि स्त्री के लिये—

(१. शरीर और सुख-दुखादि की पृथकता)—

सब से पहले देखने मे आता है कि मेरे और स्त्री के शरीर पृथक्-पृथक् हैं। हमारे सुख-दुःख पृथक्-पृथक् हैं, निरोगता-रोगता पृथक्-पृथक् हैं, जन्म-मरण पृथक्-पृथक् हैं और क्षीण-वृद्धि आदि पृथक्-पृथक् हैं। इस पृथकता के आधार से हम अपनी-अपनी आवश्यकता पूरी करते हैं। अत. कहा जा सकता है कि मै और स्त्री अपने-अपने सुखो के लिए पृथक्-पृथक यत्न करते हैं।

(२. आवश्यकता पूरी करने के लिये पूर्व स्त्री को छोड़कर अन्य को ग्रहण करना)—

मैं जो स्त्री के सुख की प्राप्ति के लिये यत्न करता

हुआ दिखाई देता हूँ। उसमें प्रधान सुख अपना ही है। क्योंकि स्त्री की आवश्यकता पूरी हो या न हो, किन्तु मेरी आवश्यकता तो अवश्य पूरी होनी चाहिए। यदि अमुक स्त्री से मेरी आवश्यकता पूरी नहीं होती है, तो अपनी आवश्यकता अन्य से पूरी करने के लिये उसे छोड़ देता हूं। इस आवश्यकता पूरी करने के आधार से कहा जा सकता है कि मैं अपने सुख की प्राप्ति के लिये ही स्त्री के सुख के लिये करता हूं, न-कि स्त्री के सुख की प्राप्ति के लिये अपने सुख के लिये करता हूं।

(३ पृथक्-पृथक् भावानुसार सुख-दुःखादिका अनुभव होना)—

—(स्त्री और पुरुषों के भावों की पृथकता, भावोतपत्ति और परिभाषा) —समस्त स्त्री और पुरुषों के भाव पृथक्-पृथक् है। इन्द्रियों के सामने विषय आने से अंतःकरण या चेतना में वे संस्कार रूप में स्थिर हो जाते हैं। जब वे स्फुरण होने लगते हैं, तो वे भाव कहलाने लगते हैं। ये भाव स्त्री और पुरुषों के पृथक्-पृथक् होते हैं, क्योंकि पृथक्-पृथक् चेतना और इन्द्रियों के होने से विषयों का पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होता है। दूसरे, पृथक् पृथक् विचार या मनोवेग के कारण भी पृथक्-पृथक् भाव हो जाया करते हैं।

—(पृथक् पृथक् भावानुसार सुख-दुःखादि का अनुभव होना)—उपरोक्त वर्णनके अनुसार मेरे और स्त्रीके भाव पृथक्-

पृथक् हैं और जिसमें जो भाव होते हैं उसे वही भासते हैं, दूसरे के नहीं। उन भावों में जो सुख-दुःख, सन्ताप-शांति और व्याकुलता-आनन्द होता है, वही मुझे या उसे भासता है। उसी करके हम पीड़ित और आनन्दित होते हैं। एक-दूसरे के भाव हममें किसी को न भासते हैं और न हम एक-दूसरे के पीड़ित या आनन्दित होने से पीड़ित या आनन्दित होते हैं। यदि हम एक-दूसरे की पीड़ा या आनन्द जानना चाहें, तो लक्षण के द्वारा ही जान सकते हैं।

जबकि हम अपनी ही पीड़ा और आनन्द को स्पष्ट तथा सीधे रूप में जान सकते हैं तो अर्थ स्पष्ट हो जाता है, कोई दुविधा का विषय नहीं रहता कि मैं सीधे और स्पष्ट रूप में अपने ही सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये यत्न करता हूँ।

(४. स्त्री को अपने सुख के लिये साधनरूप बनाना)—

यदि मैं स्त्री (दूसरे) के सुख की प्राप्ति या दुःख की निवृत्ति के लिये यत्न करता भी हूं, तो अस्पष्ट रूप से या घुमा-फिरा कर। जो मूल रूप में अपने सुख के साधन निमित्त ही होता है। क्योंकि जब तक उसे सुख प्राप्त न होगा, तब तक मुझे भी सुख प्राप्त न होगा। यह जानकर मैं उसके सुख का दिन-रात चिन्तन करता रहता हूं। उसके सुख के लिये अनेक कष्ट सहन करता हूं कि किसी प्रकार वह सुख को प्राप्त हो जाए। जिससे मेरी अभिलाषा पूर्ण हो।

अत सिद्ध हो जाता है कि मैं जो कुछ-भी चिन्तन-यत्न करता हूं अपने ही सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये। स्त्री को तो अपना साधनरूप बना लेता हूं।

(५. सम्पर्क से पहले भी अपने ही सुखके लिये यत्न करना)—

—(अन्तिम प्रेयसी के प्राप्त होने से, पूर्व-प्रेयसियों को भूल जाना)—मेरा अमुक स्त्री से पहले जब बोलचाल तथा व्यवहार भी न था और जानकारी भी न थी, उस समय मैं अपने ही सुख की प्राप्ति और दु.ख की निवृत्ति के लिये यत्न-प्रयत्न कर रहा था। मैं अपने सुखों को ढूंढ़ रहा था। जिस-जिस स्त्री में मैं अपने सुखों को देखता गया, उस-उस स्त्री की ओर आकर्षित होता गया और उस-उस के हित-चिन्तन में लगा रहा। परन्तु जिस स्त्री से मेरा सम्बन्ध होने वाला था, उसके हितों का मुझे ध्यान भी न था। पर जब उस स्त्री से सम्पर्क हुआ तो मैं उसकी ओर आकर्षित हो गया और उसके ही सुख का दिन-रात चिन्तन करने लगा। साथ ही पूर्ववर्ती स्त्रियों को भूल गया कि वे किस अवस्था में हैं? उन्हें किस-किस वस्तु की आवश्यकता है? वे किसी चिन्ता या दुःख में तो नहीं पड़ी हुई हैं? भूलना ही था—क्योंकि मुझे जिस वस्तु की; जिस सुख की और जिस आनन्द की अभिलाषा थी; वह पूर्ण हो गई।

—(मोह उत्पन्न होना पश्चात् विचारोदय)—अपनी अभिलाषा केन्द्रित प्रेयसी के मिल जाने से उसी के हित-चिन्तन में संलग्न रहने लगा। इस संलग्नता में मुझे समय बीतने का ज्ञान भी न होता था। दिन-रात यों ही सरकते चले जाते थे। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं अपनी प्रेयसी के सुख के लिये ही कर रहा हूँ। अपने सुख की प्राप्ति के लिए भी जो करता हूँ, वह-भी मुख्य रूप से अपनी ही प्रेमिका के लिए। परन्तु जब कभी उसे अपने विरुद्ध देखता हूँ, तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानों मुझ पर वज्रपात हो गया हो और मेरे शरीर की शक्ति निकल गई हो। किसी प्रकार अपने को संभालकर अपनी रक्षा में तत्पर होता हूँ और मैं भी उसके विरुद्ध होने लगता हूँ। ऐसी अवस्था में अभिलाषा केन्द्रित प्रेयसी अपनी स्नेह भरित चेष्टाओं, संकेतों, व्यवहारों और मधुर शब्दों से आकर्षण करती है तो मैं विरोध भूलकर उसका हो जाता हूँ। इस प्रकार की अवस्थाएं जब बारंबार होने लगीं, तो 'मैं निश्चय नहीं कर सका कि मैं अपने सुख के लिये कर रहा हूँ या प्रेयसी के सुख के लिये'। इस विषय के निश्चय करने की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना निश्चय किये न-तो मुझे शान्ति मिलेगी और न हि कर्म-मार्ग पर अग्रसर हो सकूंगा। यदि गहराई के साथ विचार किया जाए, तो सब ज्ञात हो जाएगा कि वास्तव में मैं किसके सुख के लिये यत्न-प्रयत्न कर रहा हूँ।

—(**सम्पर्क से पहले भी अपने ही सुख के लिये यत्न करना**)—अन्तिम-अभिलाषा-केन्द्रित प्रेयसी का जब सम्पर्क नहीं हुआ था,तो उस समय उसके सुख का स्वप्नमें भी चिन्तन न होता था। मुझे इस बात की चिन्ता न थी कि उसे किस वस्तु की आवश्यकता है ··? वह किसी दुःख या चिन्ता मे तो नहीं पड़ी हुई है··? वह चाहे नरक में ही क्यों न पड़ी हुई हो ? परन्तु मुझे इस बात का कुछ भी ध्यान न था। उस समय मैं अपने ही सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति का यत्न कर रहा था। मैं अन्य-अन्य स्त्रियों की ओर आकर्षित हो रहा था और उनके सुख-साधन मे लगा हुआ था। पश्चात् जब उससे मिलन हुआ, तो सब को छोड़कर उसके सुख का चिन्तन करने लगा और जब-जब उसको अपने विरुद्ध देखता था, तो मुझे अपने सुख की चिन्ता होने लगती थी और अपने सुखों की प्राप्ति तथा रक्षा के लिए अभिलाषा-केन्द्रित-प्रेयसी का भी विरोध करने लगता था।

अतः सिद्ध हो जाता है कि अपनी अभिलाषा-केन्द्रित-प्रेयसी के सम्पर्क होने से पहले-भी अपने सुख को चाहता था। उसके प्राप्त होने पर और उपरान्त भी अपने ही सुख को चाहता था। परन्तु अभिलाषापूर्ण होते रहने से अपना सुख पृथक् रूप मे प्रतीत नहीं होता था। जब उसमें न्यूनता आती थी, तब ही मुझे अपना सुख पृथक प्रतीत होता था।

(६. कुटुम्ब के सुख के लिये न करना)—

साधक विचार करता है कि अनेक बार ऐसा होता है कि मैं अपने कुटुम्ब के लिये दुःख-निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिये यत्न नहीं करता, परन्तु अपनी प्रेमिका के लिये प्रत्येक बार सुख की रचना किया करता हूं। कभी-कभी तो अपनी प्रेमिका के सुख के लिये कुटुम्ब को भी छोड़ने के लिए तैयार हो जाता हूँ। ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक पुरुष तो अपनी प्रेयसी या पत्नी के लिये अपने कुटुम्ब को छोड़ भी देते हैं।

अब यह देखना है कि मैं जो बारंबार कुटुम्ब के सुखों को छोड़कर अपनी प्रेयसी के सुखों को करता हूँ अथवा उसके सुखों की प्राप्ति के लिये अपने कुटुम्ब के लोगों को भी छोड़ने के लिये तैयार हो जाता हूँ। क्या वास्तव में ऐसा अपनी प्रेयसी के सुख के लिये ही करता हूँ··? अथवा अपने सुख-साधन निमित्त उसके सुख के लिये करता हूँ?

मैं जो अपनी प्रेयसी के सुख के लिये करता हूं, तो बतलाओ कि उसमें क्या विशेषता है, जो मैं उसी के सुख के लिये करूं?

कुटुम्ब की दृष्टि से कहा जाए तो जैसे कुटुम्ब के अन्य सदस्य हैं, उसी प्रकार वह-भी सदस्य है। उसमें कोई विशेषता नहीं। इस आधार से अन्य सदस्यों के सुखों को छोड़कर,

प्रेयसी सदस्य के सुख के लिये करना नहीं बनता। दूसरे, कुटुम्ब के अन्य सदस्यों का सम्बन्ध प्रेयसी के सम्बन्ध से पहले का है। इससे भी अन्यों का सुख छोड़कर केवल उसी के सुख के लिये करना नहीं बनता। फिर भी मैं उसके के सुखके लिये करता हूं। तीसरे, यह कहा जाए कि सामाजिक लोग या सिद्धान्त कहता है कि कुटुम्ब के अन्य सदस्यों की अपेक्षा अपनी प्रेयसी या पत्नी के लिये अधिक सुख की रचना करनी चाहिए। यह ठीक है। परन्तु सामाजिक सिद्धान्त यह नहीं कहता कि अपने माता-पिता आदि को छोड़ दो अथवा उनकी सेवा मत करो। किन्तु अपनी प्रेयसी की प्रसन्नता के लिये यह सब कुछ कर लिया जाता है। क्यों···? क्या कर्तव्य दृष्टि से···? नहीं। कर्तव्य दृष्टि से तो अपने माता-पिता आदि के सुख के लिये भी करना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं किया जाता। इस लिये मैं अपने प्रेयसी के लिये कर्तव्य दृष्टि से भी उसके सुख के लिये नहीं करता।

जबकि मैं सदस्यता, पूर्व के नाते और कर्तव्य दृष्टिसे घर-वालों के सुख के लिये नहीं करता, तो मैं अपनी प्रेयसी के सुख के लिये भी नहीं करता। जबकि मैं घरवालों के सुख के लिये भी नहीं कर सकता तो उसके ही सुख में क्या विशेषता है, जो प्रेयसी ही के सुख के लिये करूं···? जबकि प्रेयसी सुख में कोई विशेषता नहीं है, तो मैं उसके सुख के लिये

नहीं कर रहा। जबकि मैं किसी को भी सुख पहुंचाने का यत्न नहीं करता तो किसको सुख पहुंचाने का यत्न करता हूं ? यदि-मैं किसी को भी सुख पहुँचाने का यत्न नहीं करता, तो किसीको तो सुख पहुँचानेका यत्न करता ही हूं · ? इसके उत्तर में अपना-आपा रह जाता हैं। बस, सिद्ध हो जाता है कि मैं अपने ही सुखके लिये करता हूं। अपनी प्रेयसी के सुख के लिये जो करता दृष्ट आता हूं, वह भी परिणाम स्वरूप अपने ही सुख के लिये है। पर प्रतीत ऐसा होता है कि मैं अपनी प्रेयसी के सुख के लिये करता हूं।

(७. करोड़ो स्त्री-पुरुषों के सुख के लिये भी न करना)—

संसार में करोड़ों स्त्री-पुरुष हैं। उन सब को दुख-निवृति और सुख-प्राप्तिकी इच्छा है। वे चाहते हैं कि हमें कोई सुख दे। परन्तु मैं उनके लिये ऐसा नहीं कर रहा, किन्तु अपनी प्रेयसी के निमित्त सुख की रचना करने के लिये तन, मन और धन से अवश्य प्रयत्न कर रहा हूं। मैं उसके सुख-साधन में सदा लगा रहता हूं। ऐसा क्यों ?

क्या ममत्व की दृष्टि से मैं अपनी प्रेयसी के सुख के लिए यत्न करता हू ··। यदि मैं ममत्व की दृष्टि से उसके सुख के लिये करता हूं, तो क्या मैं संसार के करोड़ों स्त्री-पुरुषों से ममत्व नहीं कर सकता · ? कर सकता हूं···। किन्तु ममत्व अपना सुख जानकर होता है। संसार के करोड़ों स्त्री-पुरुषो में

मैं अपना सुख नहीं जानता । इस लिये मेरा उनसे ममत्व नहीं होता। मेरा उन से ममत्व नही होता, इसलिये मै उनके सुख के लिये नहीं करता । परन्तु प्रेयसी मे मै अपना सुख जानता हूं, इस लिये उसमे मेरा ममत्व हो जाता है। ममत्व हो जाता है, इस लिए मै अपनी प्रेयसी के सुख के लिये करता हूं।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि संसार के करोडों स्त्री-पुरुषों के सुख के लिये न करके अपनी प्रेयसी के सुख के लिये जो करता हू—वह अपने ही सुख के लिये, न-कि प्रेयसी के सुख के लिए।

(८. मै अधिक दुखियों के लिये भी नहीं करता)—

साधक अपने अन्तःकरण मे विचार करता है कि तू प्रेयसी को सुख इसलिये पहुँचाता है कि वह उसके बिना दुःखी रहती है। परन्तु वह-तो अन्यों की अपेक्षा बहुत सुखी है। जब उसकी अपेक्षा दूसरे लाखो व्यक्ति बहुत दुःखी रहते है, तो उनके सुख के लिये करना अत्यावश्यक है; फिर-भी उनके सुख के लिये नहीं करता। ऐसा क्यों··? वह मुझे प्रिय लगती है और लाखों अत्यधिक दुःखी व्यक्ति मुझे प्रिय नहीं लगते। प्रिय लगना ही सुख है। इसी कारण मैं उसके सुख के लिये करता हूं।

अतः सिद्ध होजाता है कि लाखों अत्यधिक दुःखी व्यक्तियों के सुख के लिये न करके, अपनी प्रेयसी ही के सुख के लिये

करना—अपने ही सुख के लिये करना है, न-कि प्रेयसी के सुख के लिये करना। मैं जो उसके सुख के लिये करता दृष्ट आता हू, वह केवल दिखावे-मात्र है। उसे तो अपने सुख के लिये साधन बना रखा है।

(६. दैनिक व्यवहार की दृष्टि से)—

दैनिक व्यवहार मे भी देखा जाए, तो-भी मैं अपने ही सुख के लिए करता हुआ दृष्ट आता हू।

जब तक प्रेयसी मधुर-मधुर और सुखदायक वचन बोलती है, जब तक वह सुखदायक और अनुकूल व्यवहार करती है, तब-तक मैं उसके सुख का चिन्तन और यत्न करता रहता हूं। जब वह मधुरता से बोलना छोड़ देती है, जब वह अनुकूल व्यवहार करना छोड देती है और जब वह सन्मान करना छोड़ देती है; तभी से मैं भी उसको सुख पहुचाने की इच्छा करना छोड़ने लगता हू। यदि वह मेरे विरुद्ध हो जाती है और हानि पहुँचाने लगती है तो मैं भी उसके विरुद्ध हो जाता हूं और उसे हानि पहुंचाने का यत्न करने लगता हूं ··। जिससे पहले अभिन्न प्रेम था, उस से अब स्वाभाविक शत्रुता हो जाती है। जिस पर मैं पहले—उसे सुख पहुंचाने के लिये—तन, मन और धन न्यौछावर करता था, अब उसे दु:ख-क्लेश पहुचाने के लिये तन, मन और धन का उपयोग करता हू।

अत दैनिक व्यवहार की दृष्टि से भी सिद्ध हो जाता है

कि मै जो अपनी प्रेयसी के सुख की प्राप्ति के लिए यत्न करता हूं, सो वास्तव मे अपने ही सुख की प्राप्ति के लिए है।

(१० कार्मिक दृष्टि से)—

मनुष्य मात्र कर्म करते हैं। उसी के अनुसार वे फल को प्राप्त होते है। दूसरे तो निमित्तमात्र बनते हैं, सुख-दुःख नहीं देते।

उक्त सिद्धान्त के अनुसार मैं भी अपनी प्रेयसी को सुख-दुख नही देता, केवल निमित्त मात्र बनता हूं। परन्तु प्रकट ऐसा करता हूं कि मैं अपनी प्रेयसी के सुख के लिए यत्न करता हूं। ऐसा असत्य या भ्रान्तिजनक प्रकटीकरण क्यों करता हूं ··? यदि कहा जाए कि उसके सुख के लिए ऐसा करता हूं, तब-तो असत्य या भ्रान्तिजनक प्रकटीकरण की आवश्यकता नहीं। उसकी आवश्यकता तभी होती है, जब कि स्वयं मुझे बिना कर्म किये या कुछ कर्म करके ही उसके फल को भोगने की इच्छा हो। अथवा मैं मोह या अज्ञानता से ऐसा असत्य या भ्रान्तिजनक प्रकटीकरण कर सकता हूं। यदि मोह या अज्ञान से भी ऐसा प्रकटीकरण करता हूं, तो-भी उसके मूल मे अपने-ही सुख का भाव छिपा रहता है। चाहे वह किसी भी काल का हो और चाहे किसी भी प्रकार का। चाहे वह वर्तमानकाल के स्वार्थ का हो। चाहे भूतकाल

में कोई स्वार्थ प्राप्त किया हुआ हो, जिसके वशीभूत होकर ऐसा करने के लिये बाध्य होता हूं। चाहे भविष्यत्काल में अपना कोई स्वाथ प्राप्त करना हो। चाहे शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक आदि किसी भी प्रकार का स्वार्थ हो—किसी-न-किसी काल का और किसी-न-किसी प्रकार का होता है अवश्य जिसके वशीभूत होकर मोह, अज्ञान या ज्ञान से असत्य या भ्रान्तिजनक प्रकटीकरण करता हूं। नहीं-तो कार्मिक सिद्धान्त की दृष्टि से मैं अपने कर्मों के अनुसार सुख-दु.ख आदि फल को भोगता हूं और वह अपने कर्मों के अनुसार। इस आधार से असत्य या भ्रान्तिजनक भाव के प्रकट करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस पर भी मैं असत्य या भ्रान्तिजनक भाव प्रकट करता हूं, तो सिद्ध हो जाता है कि मै अपना ही स्वाथ सिद्ध करना चाहता हूं।

(११ प्राकृतिक दृष्टि से)—

प्रकृति ने पृथक्-पृथक् शरीर का निर्माण किया है। जिनमें इन्द्रिया और चतुष्टय अंत करण पृथक्-पृथक् हैं। जो अपना-अपना कर्म करते हैं और अपना-अपना फल भोगते हैं। इन शरीरों, इन्द्रियो, अन्त करणों, कर्मों और फलों को प्रकृति ने सृष्टि के आरम्भ से पहले ही निर्माण कर रखा है।

इस प्राकृतिक रचना के अनुसार भी मै अपने ही सुख के

लिए कर सकता हूं, प्रेयसी के सुख के लिए नहीं। उस के प्रति-तो केवल कर्तव्यपालन ही कर सकता हूं।

(१२. काम-क्रीड़ा की दृष्टि से)—

साधक अपने-आप ही विचार करता है कि यदि तू कहता है कि 'मैं प्रेयसी के अन्य सुखों के लिए-तो नहीं करता, परन्तु काम-क्रीड़ा का सुख-तो उसे पहुंचाना चाहता ही हूं'।

जब कि तू प्रेयसी के अन्य किसी भी सुख के लिये नहीं करता, तो तू उसके काम-क्रीड़ा के सुख के लिये भी नहीं करता क्योंकि जैसे उसके अन्य सब सुख, वैसे-ही उसका यह सुख भी। जब कि तू उसके किसी भी सुख के लिये नहीं करता, तो यह-सुख अपने लिये ही रह जाता है। अर्थात् अपनी प्रेयसी के साथ जो काम-क्रीड़ा के सुख-आनन्द का अनुभव करना चाहता है, वह वास्तव में अपने लिये ही है।

यदि तू काम-क्रीड़ा का आनन्द अपनी प्रेयसी के लिये करना चाहता है, तो उसके बारंबार अनिच्छा प्रकट करने पर उसे क्रीड़ा करने के लिये प्रेरित नहीं करता। परन्तु तू लुकछिपकर, प्रकट होकर, अनुनय से, विनय से, मनोरंजन से, छल से, बल से, कपट से और चतुरता आदि से जिस प्रकार भी हो सके अपनी अभिलाषा पूरी करना चाहता है। इस उदाहरण से सिद्ध हो जाता है कि तू जो काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त करना

चाहता है; वह अपने ही आनन्द के लिये है, न कि अपनी प्रेयसी के आनन्द के लिये ।

यदि तू काम-क्रीड़ा का आनन्द स्त्री ही के सुख के लिये चाहता है, तो उसके दूसरे से प्रेम करने पर कभी अप्रसन्न नहीं होता । परन्तु उसके ऐसा करने पर तू अप्रसन्न हो जाता है । इससे सिद्ध हो जाता है कि तू उसके काम-क्रीड़ा के आनन्द को नही चाहता । तू अपने ही आनन्द को चाहता है, इसलिये ही उसके दूसरे पुरुष से प्रेम करने पर अप्रसन्न होता है । क्योंकि उसके दूसरे पुरुष से प्रेम करने पर अपने काम-क्रीड़ा के आनन्द में वाधा पहुंचती दिखाई देती है । इस कारण से तू उससे पृथक् होने लगता है या उसके मनोवांछित कार्य में वाधा डालता है । अत. स्पष्ट हो जाता है कि काम-क्रीड़ा का आनन्द अपनी ही तृप्ति के लिये उत्पन्न करना चाहता है, न कि स्त्री के सुख के लिये ।

यदि तू काम-क्रीड़ा का आनन्द स्त्री ही की तृप्ति के लिये करना चाहता है, तो सब से पहले यह देखता कि काम-क्रीड़ा की किस स्त्री को आवश्यकता है और किसको नहीं··? किन्तु तू यह भी नहीं देखता । तू तो यह देखता है कि मुझे कौन प्रिय है· ? मुझे किससे अधिक आनन्द होगा ··? बस, तू उसी ओर प्रवृत्त हो जाता है; जिस ओर अधिक आनन्द देखता । इससे स्पष्ट हो जाता है. कोई बात छिपी नहीं रहती कि तू

अपने-ही आनन्द के लिये काम-क्रीड़ा करना चाहता है, न-कि स्त्री या प्रेयसी के आनन्द के लिये।

सत्रहवें अध्याय पर विहगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस सत्रहवें अध्याय की विवेचना से सिद्ध हो जाता है कि तू स्त्री के किसी भी प्रकार के सुख या आनन्द को नहीं चाहता, अपने ही सुख-आनन्दको चाहता है। तू जो स्त्रीके सुखको चाहता है, वह भी वास्तव में अपने ही सुख और आनन्द के लिए है।

तू यह प्रकट करता या समझता है कि मैं 'स्त्री के सुख-आनन्द के लिये करता हूँ'। यदि तू ऐसा जानकर प्रकट करता या कहता है, तब तो तेरी उसे फँसाने की इच्छा है। यदि तू ऐसा अनजान से कहता है तो तुझे अज्ञान है, मोह है। यदि तू ऐसा जानकर कहता है तो अनुचित है, अन्याय है और असत्य है। ऐसा कभी न कहना चाहिए और न हि प्रकट करना चाहिए। ऐसा करने से अपने वास्तविक आनन्द में बाधा पहुँचेगी और उसकी ओर प्रगति में रुकावट उत्पन्न होगी। यदि तू अनजान से ऐसी बात कहता है, तो तुझे अपने अज्ञान या मोह को दूर करना चाहिए।

(कर्मयोग)—

यह अध्याय कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखता है, क्योंकि

कर्मयोग में इस बात को जानने की अत्यधिक आवश्यकता है कि 'मैं किसके सुख के लिये करता हूँ'। इस समस्या का समाधान इस अध्याय मे सम्यक् रूप से किया गया है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रन्थके सत्रहवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

सत्रहवा अध्याय समाप्त

शुभम्

अठारहवां अध्याय

साधक की जब विचार धारा चल जाती है तो अनेक ऐसी समस्याओं का समाधान हो जाया करता है, जो जीवन से महत्व पूर्ण सम्बन्ध रखती है। उन समस्याओं मे एक यह भी समस्या है कि 'मुझे किसके सुख के लिये करना चाहिए ?' वैसे तो यह विषय अभी पिछले १७ वे अध्याय मे वर्णन करके आया हूं तथा और भी अनेक अध्यायों में जहां तहा संक्षिप्त तथा विस्तृत रूप मे वर्णन किया गया है परन्तु साधक का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने के लिये इस विषय को फिर से वर्णन किया जाता है। जिससे इस विषय पर कुछ विशेष प्रकाश पड सके।

मुझे किसके सुख के लिये करना चाहिये ?—

साधक विचार करता है कि अनेक स्त्री-पुरुष, विद्वान और महात्मा कहा करते है कि 'दूसरों के सुख के लिये किया करो। अपने सुख के लिये तो सभी किया करते हैं।' पशु-पक्षी भी अपने सुख का निर्माण करते है। यदि मनुष्य भी उसी प्रकार, अपने ही सुख के लिये करता रहे, तो उसमे और पशु-पक्षियों

से भेद ही क्या रहे ? मनुष्य की तो विशेषता यही है कि वह दूसरे का हित सम्पादन करता रहे। महात्माओं ने परोपकार ही को सज्जनों की सम्पत्ति कहा है—

"परोपकाराय सतां विभूतयः"

उपरोक्त विचार या वचन कितने सुन्दर तथा उच्च हैं, परन्तु मैं उनका पालन नहीं कर सकता। मैं अपने सुख के लिये न करूँ और दूसरों के सुख के लिये करता रहूँ। यह मेरी सामर्थ्य के बाहर है। मैं जब "परोपकाराय सतां विभूतयः" के सिद्धान्त को अपनाने का यत्न करने लगता हूं, तो वह मेरी स्वार्थ-भावना से जा टकराता है। दोनों मे संघर्ष होने लगता है। इस संघर्ष मे मेरा निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए मुझे विचार करके निर्णय करना पड़ेगा कि 'मुझे किसके सुखके लिये करना चाहिए ?'

———

१. मुझे अपने सुख के लिये करना चाहिए—

(मुझे मेरे ही भावों के सुख-दुखों का अनुभव होताहै)—

मुझे मेरे ही भाव का अनुभव होता है, दूसरों के भाव का नहीं। मेरे भावों मे जो सुख-दुःख और व्याकुलता-आनन्द होता है, उन्हीं का मुझे अनुभव होता है। दूसरों के भावों मे जो सुख-दुःख और व्याकुलता-आनन्द होता है, उनका नहीं। इस-

लिये मुझे अपने ही सुख के लिये करना चाहिए, दूसरों के सुख के लिये नहीं ।

---

२. दूसरों के सुख के लिये करने की आवश्यकता भी नहीं—

(मेरी जैसी इन्द्रियां दूसरों के पास भी हैं)—

मुझे दूसरों के सुख के लिए कर्म या यत्न करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि मेरा जैसा ही शरीर दूसरों के पास भी है। दूसरों के पास मेरी जैसी ही इन्द्रियां, मन, बुद्धि और चित्त भी हैं। दूसरों की अपेक्षा मेरे मे कुछ विशेषता नही है, इसलिये मुझे दूसरों के सुख के लिये कर्म या यत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

---

३. अपने सुख के लिये कर सकना और दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन—

(१. अपने ही भाव और उनमें स्थित दुःख-सुख व्याकुलता-आनन्द का अनुभव होने से)—

जब कि मुझे अपने ही भाव और उन में स्थित दुःख-सुख तथा व्याकुलता-आनन्द का अनुभव होना है, दूसरों के भाव और उन में स्थित दुःख-सुख तथा व्याकुलता-आनन्द का नहीं।

तो मैं अपने ही सुख के लिये कर सकता हूं, दूसरों के सुख के लिये नहीं। हां, अपने सुख की प्राप्ति के लिये, दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन कर सकता हूं। इससे अधिक और कुछ नहीं।

(२. दूसरों के दुःख-सुख का ज्ञान लक्षणों के द्वारा होने से)—

मुझे अपने दुःख-सुख तथा व्याकुलता-आनन्द का अनुभव प्रत्यक्ष होता है, और दूसरों का लक्षणों से। इस आधार से भी मैं अपने ही सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये यत्न कर सकता हूँ। इस यत्न की सफलता के लिये दूसरों को सुख पहुचाना और उनके दुःख दूर करना, आवश्यक हो जाता है।

—(**कर्तव्यपालन का अर्थ**)—इस आवश्यकता को कार्य रूप में लाना ही कर्तव्यपालन कहलाता है।

—(**दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन ही कर सकना**)—मैं दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन ही कर सकता हू, सुख नहीं कर सकता। क्योंकि जब मुझे उनके सुख-दुःख का ज्ञान लक्षणों ही से होता है, प्रत्यक्ष नहीं, तो मैं दूसरों के सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये कर ही कैसे सकता हूं ? उनके लिये तो केवल कर्तव्यपालन ही हो सकता है।

यदि मैं दूसरों को सुख पहुँचाने और दुःख दूर करने का यत्न करूंगा तो उसका परिणाम यह होगा कि मैं अपने को

और दूसरों को, अर्थात् दोनों पक्षों को दुःखी तथा व्याकुलमय बना दूंगा। दूसरे-तो सुखी तथा आनन्दित तभी हो सकते हैं, जब कि अपने सुख के लिये किया जाए और दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन।

—(कर्तव्यपालन में भी कठिनाई)—मैं दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन कर लूं, यही बहुत है। दूसरों को सुख या आनन्द पहुंचाना तो असम्भव है। मैं पूरा-सा कर्तव्यपालन भी नहीं कर सकता। उसमें भी अनेक त्रुटियां रह ही जाती है क्योंकि दूसरों के सुख-दुःखों का ज्ञान लक्षणों से करना पड़ता है। अपने मोह, अज्ञानता, या असमर्थता आदि के कारण यथार्थ लक्षणों का जानना अत्यधिक कठिन है। यदि उन्हे किसी प्रकार जान भी लिया जाए तो मोह, अज्ञान, असमर्थता या आलस्य आदि के कारण उसका पालन करना कठिन है। इस प्रकार मैं पूर्णरूप से कर्तव्यपालन भी नहीं कर सकता। दूसरों को सुख-आनन्द पहुंचाना तो एक असम्भव बात है।

(३, दूसरों ही दूसरों को सुख पहुंचाने की वृत्ति ग्रहण करने से भी)—

—(स्वयं रोगी होकर नष्टहोना)—यदि मैं दूसरों ही दूसरों के सुख के लिये करता रहूं और अपने सुख के लिये न करूं,

तो मैं बहुत शीघ्र क्षीण तथा रोगी होकर नष्ट हो जाऊंगा। जिसका परिणाम यह होगा कि न मैं अपने को सुख पहुँचा सकूंगा और न दूसरों को।

—(दूसरों का सुख करने पर भी, अपने ही सुख की प्रधानता)—यदि संसार में यह प्रथा फैल जाए कि 'दूसरों ही दूसरों के सुख के लिये यत्न किया जाए' तो ऐसी अवस्था मे मेरी अवश्य आवश्यकता पूरी हो सकती है और मैं सुख को प्राप्त हो सकता हूँ। परन्तु इस वृत्ति से भी मेरा अपना सुख ही प्रधान रूप में ठहरता है और दूसरे का सुख गौणरूप धारण कर लेता है।

—(अपनी-अपनी विधिके अनुसार रक्षा और क्षय आदि के होने से भी—क्योंकि मान लिया जाए कि मैं अपने पास से दूसरो को उसकी आवश्यकीय वस्तु देता रहूँ और दूसरा मुझे मेरी आवश्यकीय वस्तु देता रहे तो मेरे पास मेरी आवश्यकीय वस्तु सग्रह होती चली जाएगी और दूसरे के पास उसकी आवश्यकीय वस्तु संग्रह होती चली जाएगी। इन अपनी-अपनी प्राप्त वस्तुओं की रक्षा, वृद्धि, व्यय और क्षय आदि अपने-अपने सामर्थ्य, ज्ञान, स्वभाव और कर्मके आधीन हैं। ई प्राप्त वस्तु को अधिक दिन तक ठहरा सकता है और ई कुछ दिनों ही में समाप्त कर देता है। कोई अपनी चेतना

से उस वस्तु को सुरक्षित रखता हुआ अल्प व्यय करता है, तो कोई अपनी शिथिलता तथा अज्ञानादि से अधिक व्यय करके शीघ्र क्षीण कर लेता है। इस प्रकार अपनी-अपनी विधि ही से सब प्राप्त वस्तु की रक्षा तथा क्षय आदि करते हैं और उसी के अनुसार वे अपने-अपने सुख-दुःख को प्राप्त होते हैं। इनमें से जो व्यक्ति वस्तु के उपयोग का सम्यक् ज्ञान रखकर उसका सम्यक् उपयोग या व्यवहार करता है, वह अधिक सुखी रह सकता है और जो असम्यक् ज्ञान रखता है तथा असम्यक् उपयोग या व्यवहार करता है, उसे अल्प ही सुख मिलता है। और प्राय असम्यक् उपयोग से दुःख, कष्ट तथा असुविधा भी होने लगती है। अत दूसरों ही दूसरों को सुख पहुँचाने की वृत्ति ग्रहण करने पर भी, दूसरों को सुख नहीं पहुंचाया जा सकता। उनके प्रति केवल कर्तव्यपालन ही किया जा सकता है या निमित्तमात्र बना जा सकता है।

—(एक के पश्चात् दूसरे को ग्रहण करने के क्रम से भी)—
चौथे जब मैं अपनी वस्तु दूसरे को देता हूं और दूसरा व्यक्ति अपनी वस्तु मुझे देता है और हम दोनों उन प्राप्त वस्तुओं का उपभोग करके अपने-अपने सुख को प्राप्त होते हैं। कुछ काल पश्चात हमारा एक-दूसरे से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध हो जाता है। उससे अपनी-अपनी आवश्यकीय वस्तुओं का आदान-प्रदान चलने लगता

हैं और हम अपने-अपने सुख को प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् मेरा इस सम्बन्धित व्यक्ति से भी विच्छेद हो जाता है और तीसरे अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध हो जाता है और इसके साथ भी पूर्ववत् व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार इस शैली से भी मेरा अपना ही सुख प्रधान ठहरता है और दूसरे का सुख गौण रूप धारण कर लेता है। अथवा यों कहना चाहिए कि अपने को सुख-सम्पन्न बनाने के लिये दूसरों की आवश्यकता पूरी की जाती है। क्योंकि पहले, दूसरे और तीसरे व्यक्ति से सम्बन्ध करते हुये मेरा सुख धारा रूप में चलता रहता है और दूसरे का मेरे आधार से खण्डित होता रहता है। मैं अपने सुख को खण्डित रूप में नहीं देख सकता, परन्तु दूसरे का सुख यदि खण्डित हो जाए तो मुझे कुछ चिन्ता नहीं रहती। अत दूसरों ही दूसरों को सुख पहुंचाने की वृत्ति ग्रहण करने पर भी मैं उन्हे सुख नहीं पहुंचा सकता, केवल उनके प्रति कर्त्तव्यपालन कर सकता हूँ।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि मेरा सुख मुख्य है और दूसरे का गौण। जबकि मेरा सुख प्रधान है तो मैं अपने ही सुख के लिये कर सकता हूं और दूसरे के सुख के लिये कर्तव्यपालन, अर्थात् अपने सुख की प्राप्ति के लिये ही दूसरे के सुख के लिये यत्न कर सकता हू ।

(४. कार्मिक दृष्टि से)—

समस्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने कर्मानुसार फल को प्राप्त होते है। यदि किसी के कर्म मे दु:ख भोगना है, तो मै उसे सुख नहीं दे सकता। यदि मै उसे सुख देनेका यत्न करूंगा, तो मेरा परिश्रम व्यर्थ होगा। व्यर्थ ही व्यर्थ, नहीं, सभवत: वह मेरे विरुद्ध ही हो जाए और मुझे हानि उठानी पड़े। यदि किसी के कर्म में सुख प्राप्त होना है, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। उसके सुख के लिये कोई-न-कोई निमित्त बन ही जाएगा।

उपरोक्त कार्मिक सिद्धान्त से मै किसी को सुख-दु:ख नहीं दे सकता। केवल दूसरों के प्रति अपना कर्तव्यपालन ही कर सकता हूं।

(५. प्राकृतिक दृष्टि से)—

प्रकृति ने पृथक्-पृथक् शरीर, इन्द्रियां और अंत:करण की रचना की है। जिसके अनुसार पृथक्-पृथक् कर्म और भोग होता है।

इस प्राकृतिक सिद्धान्त से भी मै दूसरों के सुख के लिये नहीं कर सकता। उनके प्रति केवल कर्तव्यपालन ही कर सकता हूं।

(६. दैनिक व्यवहार की दृष्टि से) —

प्रतिदिन के व्यवहार से भी देखा जाए, तो यही ज्ञात

होता है कि मै अपने सुख के लिये कर सकता हूं और दूसरों के प्रति तो कर्तव्यपालन ही हो सकता है।

यदि मुझसे कोई प्रेम करता है और मुझे सुख पहुंचाता है, तो मेरे मे भी उसके प्रति प्रेम हो जाता है और मै भी उसे सुख पहुचाने का यत्न करने लगता हूं। यदि किसी में मुझे सुख पहुंचाने की इच्छा नहीं है, तो मेरे मे भी उसे सुख पहुं- की इच्छा नहीं होती। यदि कोई मेरे विरुद्ध होता है और मुझे हानि पहुंचाने का यत्न करता है, तो मैं भी उसके विरुद्ध हो जाता हूं और उसे हानि पहु चाने का यत्न करने लगता हू।

उपरोक्त दैनिक व्यवहारों के उदाहरणों से ज्ञात हो जाता है कि मै दूसरों को सुख नही दे सकता, अपने सुख की प्राप्ति के लिये ही दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन कर सकता हू। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

---

४. दूसरों को सुख पहुंचाने की चिन्ता भी न करनी चाहिये —

(१. सबके पृथक् पृथक अनुभव और इन्द्रियां आदि हैं)—

मुझे अपने ही सुख-दुःख का अनुभव होता है, दूसरे के का .ीं। इसलिये मुझे दूसरे को सुख पहुचाने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। दूसरे, मेरी जैसी ही इन्द्रिया और अन्त करण

दूसरों के पास भी हैं, तो फिर दूसरों के सुख की प्राप्ति की चिन्ता करने की आवश्यकता भी क्या है''? इसलिये मुझे दूसरों के सुख की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मुझे तो अपने ही सुख की प्राप्ति के लिये दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन करना चाहिए।

(२. कर्तव्यपालन की दृष्टि से)—

जीवन का उद्देश्य कर्तव्यपालन करना है, न-कि दूसरों को सुख पहुँचाना। इस सिद्धान्त से भी मुझे दूसरों को सुख पहुँचाने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

(३. मृत्यु के पश्चात् की दृष्टि से)—

मरने के उपरान्त देखा जाए, तो ज्ञात होता है कि 'जीवन और सुख का होना' 'न-होने' के बराबर है।

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार मैं 'नहीं के बराबर' जीवन को रखना भी नहीं चाहता, परन्तु 'रखना-न रखना' मेरे आधीन नहीं है। यदि यह रहेगा, तो मुझे कर्म भी करना पड़ेगा। कर्म अपने और दूसरों के सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से ही किया जा सकता है। इन दोनों पक्षों में भी अपना ही सुख प्रधान है और उसकी साधना के लिये दूसरों के सुख को निमित्त बनाया जा सकता है। किन्तु अनेक ऐसे अवसर आ जाया करते हैं कि उस निमित्त की साधना के लिये अपने

तन, मन और धन का बलिदान भी कर दिया जाता है। पर वह रहता है निमित्त ही, प्रधान नहीं। यदि अपने और दूसरों को सुख प्राप्त हो जाए तो बहुत-अच्छा, अन्यथा कोई चिन्ता नही। क्योंकि ऐसा तो मृत्यु के पश्चात् अनन्तकाल के लिये होना ही है।

मरने के उपरान्त सुख-दु:ख की अनुभव-हीनता अनन्त काल तक रहती है। उसके सामने हजार वर्ष का जीवन-काल भी 'नहीं के बराबर' है। किन्तु हजार वर्ष भी जीवन नहीं रहता। लगभग ५०-६० वर्ष ही जीवन रह पाता है। इस 'नही के बराबर' जीवन मे सुख हुआ तो क्या···? और नहीं हुआ तो क्या ···? इसलिये जबतक जीवन है तबतक दूसरोंको सुखी बनाने के लिये कर्तव्य-पालन करना चाहिए, नहीं हो-तो कोई चिन्ता की बात नही। क्योंकि ऐसा-तो अनन्त काल तक होना ही है।

(४. कार्मिक दृष्टि से)—

समस्त मनुष्य अपने-अपने कर्मानुसार फल भोगते है। इस सिद्धान्त के अनुसार दूसरे तो अपना कर्तव्यपालन ही करते हैं। कर्तव्यपालन मे दूसरों को सुख प्राप्त हो जाए तो बहुत-अच्छा, नहीं हो-तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

(५. प्राकृतिक दृष्टि से)—

प्रकृति ने मनुष्यों को दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन के लिये रचा है, सुख देने के लिये नही। यदि कर्तव्यपालन से

दूसरो को सुख पहुँच सके तो पहुँचा देना चाहिए, नहीं पहुँच सके तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

—(व्यक्तिगत रूपमें)—दूसरे संसार में जितना भी व्यक्त रूप दिखाई देता है, वह सब प्रकृति का ही रूप है। मै या दूसरा तो कुछ वस्तु ही नही है।

व्यक्ति गत रूप मे प्रकृति का स्वभाव उत्पन्न, वृद्धि, क्षीण, सुख-दुःख और नष्ट आदि होना है। वह होता ही रहेगा। इसके लिये चिन्ता की क्या बात है ?

—(समष्टिगत रूपमें)— समष्टिगत रूप से प्रकृति का एक व्यक्त रूप नष्ट होता है, दूसरा उत्पन्न होता है, एक क्षीण होता है, दूसरा वृद्धि पाता है, एक दुःखी होता है तो दूसरा सुखी होता है। इस समूह रूप मे भी प्रकृति का क्या हानि हुई ? अर्थात् कुछ नही। यदि प्रकृति के समष्टिगत रूप मे मेरे द्वारा अन्य को सुख प्राप्त न हो, तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

(६. अद्वैत दृष्टि से)—

अद्वैत विषय मे दूसरा कोई रहता ही नहीं है, तो फिर सुख-दुःख का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? कि अमुक को सुख प्राप्त हो और अमुक को दुःख प्राप्त हो। सुख-दुःख तो द्वैत अवस्था मे ही रहते है, अद्वैत में नही।

अत इस अद्वैत सिद्धान्त के आधार से दूसरों को सुख प्राप्त हो या न-हो, इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

(७, मानसिक दृष्टि से)—

जैसा-जैसा मन का स्फुरण होता है, वैसा-वैसा ही भासने लगता है। मन का स्फुरण मनुष्य के आधीन होता है। वह जैसा भी चाहे, कर सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार दूसरे को सुख पहुचाने की चिन्ता तभी होती है, जबकि दूसरे को सुख पहुँचाने के स्फुरण का अभ्यास कर लिया जाता है। यदि दूसरे को सुख पहुँचाने के स्फुरण का अभ्यास हटा दिया जाए या किसी प्रकार से दूसरेको सुख पहुँचानेका स्फुरण रोक दिया जाए तो चिन्ता न होगी। दूसरे शब्दों मे यों कहना चाहिए कि चिन्ता का स्फुरण रुकने से चिन्ता होने-से रह जाएगी। जबकि मन के स्फुरण ही से चिन्ता होती है तो उस स्फुरण को रोक देना चाहिए, अर्थात् कर्तव्य-पालन करते-करते दूसरे को सुख न हो, तो चिन्ता का स्फुरण न करना चाहिए।

हमारे कर्तव्य का चार प्रकार से बनना—

हमारा कर्तव्य इस प्रकार बनता है कि (१) भूतकाल मे हमें

किसी ने सुख दिया हो, (२) कोई वर्तमानकाल मे दे रहा हो, (३) जिससे भविष्यत् मे आशा हो अथवा (४) सामान्य रूप से दूसरों को सुख दिया जा सकता है। क्योंकि हमें भी सामान्य रूप से सुख मिलता है। इस प्रकार हमारा कर्तव्य चार प्रकार से बनता है।

आदर्श के अनुसार कर्तव्यपालन करना—

हमे इस आधार से कर्तव्यपालन करना है कि जिसको आदर्श रूप कह सकते है। आदर्श के अन्तर्गत (१) सिद्धान्त, (२) बन्धन, (३) नियम, (४) नीति, (५) अधिकार, (६) आवश्यकता, (७) निर्दोषिता, (८) निर्लेपता और (९) भौतिक-मानसिक समीपता-दूरता है।

अठारहवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग)—

यह अठारहवाँ अध्याय कर्मयोग से महत्वपूर्ण सम्बन्ध रखता है। जिसके अन्तर्गत मानसिक ब्रह्मचर्य का विषय भी आ जाता है।

इस अठारहवे अध्याय में साधक इस उलझन मे उलझजाता है कि 'मुझे दूसरों के सुख के लिये करना चाहिए अथवा

अपने सुख के लिये।' साधक किसी प्रकार से अपनी बुद्धि का सम्यक संतुलन करके और बहुत परिश्रम के उपरांत इस उलझन को इस प्रकार सुलझाता है कि—

"मुझे अपने ही सुख के लिये करना चाहिये"

क्योंकि मुझे अपने ही भाव और सुख-दुःख का अनुभव होता है, दूसरोंके तो केवल लक्षणों ही से जाने जाते हैं।

दूसरों के सुख के लिये करने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि मेरी जैसी ही इन्द्रियां दूसरों के पास भी हैं।

मै दूसरों के सुख के लिये कर भी नहीं सकता, क्योंकि मुझे अपने ही भाव और उनमें स्थित सुख-दुःख तथा व्याकुलता आनन्द का अनुभव होता है। दूसरे, दूसरों के सुख-दुःख का ज्ञान लक्षणों से होता है। तीसरे, दूसरों ही दूसरों को सुख पहुँचाने की वृत्ति ग्रहण करने से भी यही सिद्ध होता है कि मै अपने ही सुख के लिये कर सकता हूँ, दूसरों के सुख के लिये नहीं। चौथे कर्म का सिद्धान्त भी यही कहता है कि समस्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने कर्मानुसार फल को प्राप्त होते हैं। इस आधार से भी मै दूसरों को सुख नहीं दे सकता। पाचवें प्रकृति ने समस्त शरीरो की रचना ही इस प्रकार से की है कि सब अपना-अपना कर्म करें और उसके अनुसार सुख-दुःख तथा उत्थान पतन आदि को प्राप्त हों। मै तो दूसरों के प्रति अपना

कर्तव्यपालन ही कर सकता हूँ। यही बात मै दैनिक व्यवहारों मे भी देखता हूँ।

मुझे अपने ही सुख-प्राप्ति, दुःख-निवृत्ति और उत्थान आदि का चिन्तन करना चाहिए। दूसरों के सुख की चिन्ता करना अनधिकार चेष्टा है। अपना सुख या उत्थान तभी होगा, जबकि दूसरों को सुख पहुंचाया जाएगा और उनका उत्थान किया जाएगा। अत अपने सुख के लिये करने से दूसरों का सुख स्वयं ही बन जाता है। अपने को सुखी तथा आनन्दित बनाने के लिये दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन अवश्य करना चाहिए, परन्तु मूल रूप मे दूसरों के सुख की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि—

सबके पृथक् अनुभव और इन्द्रियां आदि है। दूसरे कर्तव्यपालन की दृष्टि से, तीसरे मृत्यु के पश्चात् की दृष्टि से, चौथे कार्मिक दृष्टि से, पांचवे प्राकृतिक दृष्टि से, छठे अद्वैत दृष्टि से और सातवें मानसिक दृष्टि से।

हमारा कर्तव्य चार प्रकार से बनता है; (१) जिसने भूतकाल में सुख या सुविधा पहुंचाई हो, (२) या जो वर्तमान काल मे पहुचा रहा हो, (३) जिससे भविष्यत् मे पहुंचने की संभावना हो और (४) सामान्य रूप से।

हमें अपने कर्तव्य का अपने आदर्श के अनुसार पालन करना चाहिए।

अठारहवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के अठारहवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

अठारहवा अध्याय समाप्त

शुभम्

उन्नीसवाँ अध्याय

निश्चय की दृढ़ता के पश्चात् मनोवेग से मंथित आपत्तियों से आशंकित साधक का क्षीण विचारों का ग्रहण करना—

साधक विचार करता है कि मैं बारंबार विचार करता हूँ, निश्चय करता हूँ और दृढ़ता करता हूँ कि स्त्री की ओर प्रवृत्त न होऊंगा क्योंकि मैंने मन को वश में करने के उपाय जान लिये हैं। यह जानकर मैं एक प्रकार से निश्चित-सा हो जाता हूं। फिर अकस्मात् देखता हूँ कि मेरे सन्मुख कोई परिचित-सी स्त्री आई कि मैं उस ओर प्रवृत्त हुआ। उस समय मैं अपने मन को रोकने के लिये अपनी समस्त शक्ति को लगा देता हूं और अपने सारे विचारों को मनोवेग से भिड़ा देता हूं। परन्तु किया हुआ निश्चय, अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है और दृढ़ता धूल मे मिल जाती है। मनोवेग मुझे मथने लगता है। मैं व्याकुल हो जाता हूं। मेरे शरीर का सार तत्व क्षीण होने

लगता है। मेरा मस्तिष्क पहले ही से अत्यधिक निर्बल है। मुझ में विचार-शक्ति अत्यधिक कम है। मुझे कुछ स्मरण भी नहीं रहता। मैं रोगी बना रहता हूं। मुझे वैयक्तिक और कौटम्बिक आदि के कार्य भी करने पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति मे मेरी क्या दशा होगी ? मनोवेग अब मुझ से क्या करवाएगा ? वह कहीं मुझे उस स्त्री की ओर तो प्रवृत्त न कर देगा ? वह कहीं मुझ से अवांछित कर्म न करवा डाले ? वह कहीं मुझे कुकर्म मे न डाल दे ? वह कहीं मुझ से धर्म, समाज और राजनियम के विरुद्ध कर्म न करवा डाले ? जिससे मैं कहीं पापी और अपराधी न बन जाऊ ? समाज के लोग मेरे शत्रु न बन जाएं और राजकर्मचारी मुझे कहीं बड़े-घर न पहुँचा दे ? उस समय लोग मुझे न जाने क्या-क्या लाछन लगाएंगे। इस प्रकार चिन्तन करते-करते मेरा हृदय कापने लगता है और मन को धीरज नहीं होता। मैं मन-ही-मन रोने लगता हूं। जिसको अकेला मैं ही सुन पाता हूं और उस रोने को मैं किसी को सुना भी तो नहीं सकता। क्योंकि उसे दूसरा सुनेगा तो हंसेगा, निंदा करेगा, शत्रुता निकालेगा और अन्य लोगो से कहेगा। जिससे मेरी प्रतिष्ठा भंग होगी। मैं जहां जाऊंगा; अपमान होगा, उपहास होगा और कोई मेरी सहायता न करेगा। इस प्रकार चिन्तन करते-करते मैं दीन हो जाता हूँ। मेरी अवस्था दयनीय बन जाती है। फिर-भी मैं

देखता हूं कि मेरे पास विचार के अतिरिक्त अन्य कोई सहारा नहीं है। यदि मेरा उद्धार हो सकता है, तो इसी का आश्रय लेने से। अतः मैं सब ओर से निराश होकर अपने अत्यधिक निर्बल मस्तिष्क पर आधारित क्षयशील, खण्डशील, क्षीण और अस्थायी विचारों की रेखाओं को पकड़ता हूं क्योंकि मुझ डूबते हुये को तिनके का सहारा यही है।

विचार-पथ पर अग्रसर होना—

साधक अब अपने क्षीण क्षयशील, खण्डशील और अस्थायी विचारो की रेखाओं को पकड़कर अपने कर्म-पथ पर अग्रसर होता है। वह विचार करता है कि 'मैं स्त्री की ओर क्यों प्रवृत्त हुआ ?'

(मैं स्त्री की ओर क्यों प्रवृत्त हुआ ?)—

मैंने विचार करके देखा है कि स्त्री से जो सुख होता है, उसका देने वाला मन है। उसमे तो केवल भासता है, फिर भी मैं उस ओर प्रवृत्त हुआ। मैंने देखा कि वह कर्मों की पूर्ति करने से प्राप्त होगी। मैंने यह भी विचारा कि किस प्रकार के कर्मों मे पूर्ति करनी चाहिए। मैंने यह भी देखा कि किस प्रकार के कर्मों मे पूर्ति न करनी चाहिए। मेरे ध्यान मे यह भी आया कि मै बारंबार क्यों प्रवृत्त हो जाता हूं।

प्रवृत्त न होने के उपायों को भी सोचा और यह भी विचार किया कि अपने को सफल बनाने के लिये किन-किन कर्म तत्वों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है और उन तत्वों का गुण या क्रिया क्या है एवं उनको प्रयोग में किस प्रकार लाया जाए? इत्यादि विचार करते-करते सोचता हूं कि अब मनोवेग मुझे क्यों मथ रहा है, जबकि मैंने सब विचार कर लिया है…? मैंने अपनी बहुत-कुछ शंकाओं का समाधान किया। फिर-भी अभी एक तत्व पर विचार करना बाकी है और वह तत्व है 'स्त्रियों के काम-क्रीड़ा के भाव जानना'।

स्त्रियों के काम-क्रीडा के भाव जानना—

मैं जानना चाहता हूं कि स्त्रियों में मुझ से काम-क्रीड़ा करने की इच्छा है या नहीं…? वे मुझ से मैथुनादि करना चाहती हैं या नहीं…? वे मुझे किस भाव से देखती हैं और समझती हैं…? मुझ में यह प्रश्न उठता है। मनोवेग मुझे इसी तत्व को समझने के लिये प्रेरणा कर रहा है। इसलिये अब इसी प्रश्न का समाधान करने के लिये यत्न करना चाहिए।

१. स्त्री में काम-क्रीडा के भाव हैं किन्तु बन्धन के कारण करना नहीं चाहती—

मैं देखता हूँ कि स्त्रिया मैथुनादि करती हैं पर नियत पुरुप

के साथ, प्रत्येक पुरुष के साथ नहीं। क्योंकि ऐसा सामाजिक या राजनियम है। नियम यह कहता है कि जिसके साथ बन्धन हो चुका है उसीके साथ मैथुनादि करना चाहिए, अन्य के साथ नहीं। स्त्री को बन्धन के नियम का पालन करना पड़ता है। अतः वह बन्धन के नियम के अनुसार अन्य किसी भी पुरुष से काम-क्रीड़ा नहीं कर सकती। यह बन्धन मनुष्यकृत है, प्रकृतिकृत नहीं। इस बन्धन में मनुष्यों की ओर से रुकावट है, प्रकृति की ओर से नहीं। अतः किसी भी स्त्री का किसी भी पुरुष से काम-क्रीडा करने का भाव होना स्वाभाविक है, परन्तु वह मानुषिक बन्धन के कारण नहीं करना चाहती।

(१ स्त्री में किसी भी पुरुष से दृष्ट या अदृष्ट रूप में काम-क्रीडा करने के भाव हैं)—

उपरोक्त मानुषिक बन्धन में समस्त पुरुषों से काम-क्रीड़ा करने का नियम नहीं है, नियत पुरुष ही से करने का नियम है। परन्तु प्रत्येक पुरुष से काम-क्रीड़ा करने का भाव अवश्य है। वह भाव चाहे दृष्ट रूप में हो, चाहे अदृष्ट रूप में। दृष्ट भाव अपने या दूसरे को दिखाई देता है और अदृष्ट-भाव अपने या दूसरे को दिखाई नहीं देता।

(२. दमनशक्तिके बाहर होने पर स्त्रीके काम क्रीडा के भाव प्रकट होने लगते हैं)—

जिस स्त्री का किसी पुरुष से बन्धन हो जाता है, तो वह उसी पुरुष से काम-क्रीड़ा करती है। उसका उसीसे काम-क्रीडा करने का भाव होता है। वह यह समझती है कि मुझे अन्य पुरुष से काम-क्रीडा करने का अधिकार नहीं। इस लिये वह अन्य पुरुष से काम-क्रीड़ा करने का भाव भी नही रखती। यदि उसमें वह-भाव जागृत भी होता है, तो वह उसे दमन करती रहती है। यदि वह-भाव या मनोवेग दमन की शक्ति से बाहर या बलवान हो जाए, तो इन्द्रियों से काम-क्रीडा करने की क्रियाएं करवाने लगता है। उसका देखना और उसकी अन्य इन्द्रियों का व्यापार उस क्रीड़ा से सम्बन्ध रखने लगता है। यदि काम-क्रीड़ा का भाव और-भी अधिक प्रबल हुआ, तो वह बन्धन के नियम का कुछ ध्यान नहीं रखता। अर्थात स्त्री वैयक्तिक, सामाजिक और राजनियम को तोड़कर किसी भी पुरुष से काम-क्रीडा करने लगती है। परन्तु स्त्री मे काम-क्रीडा करने के भाव की यह चरम स्थिति है। इस स्थिति में कोई ही पहुंचती है, किन्तु यह-तो सिद्ध हो-ही जाता है कि स्त्री मे स्त पुरुषों के प्रति काम-क्रीड़ा करने के भाव है।

(३. अधिक दमनशीला होने पर स्त्री काम-भाव का उत्थान नहीं होने देती)—

जब स्त्री अपने को अनधिकारिणी देखती है, तो वह अन्य पुरुष से काम क्रीड़ा करने के भाव का दमन करती रहती है। और जो अधिक दमन शीला या विचार शीला होती है, वह उक्त भावों का उत्थान ही नहीं होने देती। अथवा किसी भी कारण से उसका वैसा स्वभाव बन जाता है, जिससे उसका अन्य पुरुष से काम-क्रीड़ा का भाव न रहे। पर इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि स्त्री में समस्त पुरुषों से काम-क्रीड़ा के करने का भाव रहता है। जबकि उसका समस्त पुरुषों से काम-क्रीड़ा करने का भाव है तो मेरे से भी उसका काम-क्रीड़ा करने का भाव है। वह (स्त्री) चाहे बन्धन के कारण उसे प्रकट न करे अथवा चाहे वह उसका उत्थान ही न होने दे।

———

भाव

भाव का अर्थ अनेक स्थानों पर प्रकट किया गया है और यहाँ पर भी उसे प्रकट करके, उस पर विशेष प्रकाश डाला जाएगा। क्योंकि प्रसंग के अन्तर्गत जब कोई विषय आ जाता है तो उस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। और जब विचार किया जाता है तो कोई न कोई नई बात निकल ही आती है। जिससे हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है और उद्देश्य

साधना मे प्रगति। इस 'भाव' के विषय मे अनेक स्थानो पर वर्णन करने के पश्चात् भी, यहा भी वर्णन किया जाता है।

(भाव की परिभाषा)—

इन्द्रियो के द्वारा अन्त करण पर पड़े हुये प्रतिबिंब के स्फुरण और अस्फुरण को 'भाव' कहते है या उन पड़े हुये प्रतिबिंब के स्फुरण होने पर विचार होने के उपरात जो मानसिक परिवर्तन होता है, उसे 'भाव' कहते है।

(छायॉवत् भाव और उसका शरीर पर प्रभाव)—

ये भाव छायाँ के समान होते है। जैसे धूप या दर्पण मे मनुष्य की छाया होती है, उसी प्रकार सासारिक पदार्थों, उनके गुणो और क्रियाओं की अ.तस्चेतना(अन्त करण)मे छायॉ पडती है और वह ग्रहण हो जाती है। तदनन्तर वह जब-तब या समय असमय स्फुरण होकर, भासने लगती है और सुख-दु ख का कारण बनती है। यही मनुष्य के क्रिया की प्रेरक होती हैं। इसी के कारण जड़-पिण्ड चेतन कहलाता है। इसी छायॉ या प्रतिबिंब का चेतन पिण्ड या मनुष्य के शरीर पर प्रभाव पड़ता है। जो उसके शब्दो, नेत्रो तथा दूसरे अंगों के द्वारा व्यक्त होता है।

सांसारिक छायॉ और मानसिक छायॉ में भेद —

ये भाव सांसारिक छायॉ के समान इन्द्रियों के विषय

नही होते, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा नही जाने जा सकते। क्योंकि ये छायॉ से भी अत्यन्त सूक्ष्म है या यों कहना चाहिए कि ये छायॉ की भी छायाँ है क्योंकि ये छायॉ के भी प्रतिबिम्ब है।

दूसरे सांसारिक छायॉ और मानसिक छायॉ में यह भेद है कि सांसारिक छायॉ जबतक वस्तु रहती है, तभी तक रहती हैं। परन्तु मानसिक छायाँ जगत की वस्तु न रहने पर भी विद्यमान रहती है।

तीसरा यह भेद है कि सांसारिक- छायॉ मनुष्य की परि- चालक नहीं होती परन्तु मानसिक-छायॉ मनुष्य का परिचालन करती रहती है ।

ऊपर कह आए हैकि सांसारिक-छायॉ से मानसिक छायॉ अत्यन्त सूक्ष्म है। इसके विषय में विशेष बात यह है कि यह इन्द्रियों से न जानी जाकर लक्षणों से जानी जाती हैं, जो शरीर के अंगों मे प्रकट होते हैं।

(भावों के दो भेद)—

इन भावो के दो भेद है, तात्कालिक और शृंखला जनित। तात्कालिक भाव वे कहलाते है, जो भाव अंतः करण मे काम करने लगा कि वह शरीर पर प्रभावित हो गया, अर्थात् शरीर से कर्म होने लगा।

दूसरे भाव शृंखला जनित होते है, जो कर्मों की शृंखला या परपरा से जाने जाते हैं ।

अब भाव सम्बन्धी सामान्य ज्ञान के विपय को यहाँ पर स्थगित करके अपने विपय 'स्त्रियों के काम-क्रीडा के भाव जानने' पर आते है ।

---

२ स्त्री, निश्चय न करने से, काम- क्रीड़ा और उसके भाव नहीं करती—

(१ स्त्री निश्चयानुसार व्यवहार करती है)—

प्रत्येक स्त्री की इन्द्रियों के सामने जगत के पदार्थ आने से वह लक्षणों के द्वारा उनका निश्चय करती रहती है कि यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है। इस मे यह आकृति, यह गुण तथा यह क्रिया है और इसमे यह आकृति, यह गुण तथा यह क्रिया है। इसके साथ इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए और इसके साथ इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार जब वह निश्चय या स्थिर कर लेती है तो जब-जब भी वह वस्तु उसकी इन्द्रियों के सामने आती है, तब-तब ही वह स्थिर किये हुये निश्चय के अनुसार कर्म करने लगती हैं।

इसी प्रकार उसकी इन्द्रियो के सामने मनुष्य आते रहते हैं, जिन के विपय मे निश्चय करके स्थिर कर लेती है कि अमुक स्त्री या पुरुप मे यह भाव है, यह आकृति है यह गुण है।

और यह क्रिया है। एवं उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना है ? उसी निश्चय के अनुसार वह व्यवहार करती है। उसकी इन्द्रियों के सामने माता-पिता, ताऊ चाचा, भाई-बहिन, अड़ोसी-पड़ोसी, निरपेक्ष-सापेक्ष और शत्रु-मित्र आदि सभी आते रहते है। उसकी इन्द्रियों के सामने पति, देवर, जेठ, सुसरा, पीतसरा, देवरानी-जिठानी, पुत्र-पुत्री और पशु-पक्षी आदि सभी आते है और किस के साथ किस प्रकारका व्यवहार करना चाहिए.. ? वह इस प्रकार विचार से, अविचार से, परंपरा से या प्रसंग से निश्चय करके स्थिर करती है। फिर वह किये हुये स्थिर या निश्चयके अनुसार कर्म करने लगती है। जब कभी वह अपने किये हुये निश्चय मे परिवर्तन कर लेती है, तो फिर वहपरिवर्तित निश्चयके अनुसार व्यवहार करने लगती है।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि जब स्त्री की इन्द्रियों के सामने कोई वस्तु या मनुष्य आता है, तो वह अपने किये हुये स्थिर या निश्चय के अनुसार उसके साथ व्यवहार करने लगती है।

(२.स्त्री, निश्चय न करने से काम-क्रीड़ा और उसके भाव नहीं करती)—

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार स्त्री मैथुनादि का व्यवहार करने के लिये किसी विशेष व्यक्ति को स्थिर कर लेती है। जब वह व्यक्ति उसकी इन्द्रियों के सामने आता है

जब भी उसे अवसर मिलता है, वह उसके साथ काम-क्रीड़ा का व्यवहार करने लगती है, अन्य के साथ नहीं।

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि स्त्री मे काम क्रीड़ा करने के के भाव हैं, परन्तु करती है उसी के साथ, जिसके साथ उसने निश्चय कर लिया है। यदि वह मेरे साथ काम-क्रीड़ा करने के भाव को स्थिर या निश्चय कर ले, तो वह मेरे साथ भी काम-क्रीड़ा करने लगे। मेरे साथ वह जो काम-क्रीड़ा नहीं करती है, उसका कारण यही है कि उसने मेरे साथ ऐसा करने का निश्चय नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि स्त्री मे मेरे साथ काम-क्रीड़ा करने क भाव तो हैं परन्तु उसने निश्चय या स्थिर नही किया, इस लिये वह ऐसा व्यवहार नहीं करती और न-हि वह इस प्रकार का भाव प्रकट करती है।

(३ स्त्री का अपने उद्देश्य के अनुसार निश्चय करना)—

स्त्री स्थिर या निश्चय तब करेगी जब कि सुख रूप जानेगी। वह सुख रूप तब जानेगी, जबकि मेरे मे शक्ति गुण तथा अपनी अनुकूलता देखेगी और वह-अनुकूलता अपने-अपने सिद्धान्त या उद्देश्य के अनुसार होती है। यदि उसके सिद्धान्त या उद्देश्य के अनुसार मैं हुआ तो वह मेरे साथ काम-क्रीड़ा करने का निश्चय करेगी, अन्यथा नहीं। परन्तु

इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि स्त्री में मुझ से काम-क्रीड़ा करने के भाव तो हैं, यदि वह निश्चय न करे तो बात दूसरी है।

---

३. पड़दा-प्रथा से काम-क्रीड़ा के भाव की सिद्धि —

—(पड़दा का अर्थ)—पड़दा आवरण को कहते हैं।

—(पड़दे की व्याख्या)—किसी वस्तु के आगे आवरण आने से वह ढक जाती है और दिखाई नहीं देती। जब किसी मनुष्य को अपनी या दूसरे की किसी वस्तु को कोई व्यक्ति दिखलाना नहीं चाहता है, तो वह उस वस्तु के आगे आवरण कर देता है। आवरण का अर्थ होता है कि दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को न देख सके और उस की ओर आकर्षित न हो सके। जिससे वह उसे किसी प्रकार की हानि न पहुँचाने पावे। अथवा वह किसी प्रकार का अपहरण न कर सके।

(१. स्त्रियोंमें पड़दा होने का कारण, अपहरण)—

उपरोक्त सामान्य सिद्धान्त के आधार पर स्त्रियाँ पुरुष के सामने अपने शरीर के आगे पड़दा कर लेती है जिससे पुरुष उसके अंगों को न देख सके और उसकी ओर आकर्पित न हो। जिससे वह उसे किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके या उसका अपहरण न कर कर सके।

अब यह देखना है कि पुरुष स्त्री के अंगों को देखकर क्या-हानि पहुंचा सकता है ··? और वह क्या-अपहरण कर सकता है ?

पुरुष स्त्री के अंगों से काम-क्रीड़ा कर सकता है, जिससे उसकी तृप्ति हो। पुरुष आनन्द का इच्छुक है और वह काम-क्रीड़ा से आनन्द प्राप्त करना चाहता है। इसलिये जब वह स्त्री के अंगों को देखेगा तो वह उस ओर उसे पाने के लिये लालायित हो जाएगा, क्रियाशील हो जाएगा।

—(अपहरण का अर्थ)—जब उसे काम-क्रीड़ा करने में किसी प्रकार की रुकावट होगी तो वह उसे अनुचित रूप से पाने का यत्न करेगा, जो अपहरण कहलाता है अथवा यों कह सकते हैं कि वह उसे हानि पहुचाने का यत्न करेगा। इस अपहरण या हानि से बचने के लिये ही स्त्री अपने अंगों को ढकती है। इस प्रयोजन के अतिरिक्त स्त्री के अंगों को पुरुष के आगे ढकने का और कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।

(२.अपहरण के दो प्रकार धोखा और बलात्)—

उपरोक्त अपहरण दो प्रकार का होता है, धोखा देकर और बलात्। छल-कपट से धोखा देकर कोई ही पुरुष किसी ही स्त्री से काम-क्रीड़ा कर सकता है, क्योंकि स्त्री मे भी विचार शक्ति है। यदि यह कहा जाए कि पुरुष बल पूर्वक स्त्री या उसके

अंगों का अपहरण कर सकता है, तो-भी संभव नहीं क्योंकि मनुष्य मात्र उसकी रक्षा में तत्पर होते है। दूसरे उसमें भी चल-बुद्धि होती है। अतः सिद्ध हो जाता है कि सामान्य रूप से कोई भी पुरुप किसी भी स्त्री का उक्त दोनों प्रकार से अपहरण नहीं कर सकता।

(३. आवरणसे काम-क्रीडा के भाव की सिद्धि)—

जबकि सर्व-साधारण पुरुप सर्व-साधारण स्त्रियों का सर्व-समय में अपहरण नहीं कर सकता तो कोई ही पुरुष, किसी ही स्त्री का, किसी ही समय मे अपवाद रूप से अपहरण कर सकता है। जबकि अपवाद रूप में ही अपहरण हो सकता है, तो करोडों स्त्रियों के लिये उनके अंगों को आवरण से ढकने के लिये नियम क्यों बना ?

इस नियम के बनने के दो कारण हो सकते हैं। एक-तो यह कि पहले-कभी (भूत काल में) अपहरण का आधिक्य हो, जिसके कारण आवरण प्रथा आरम्भ हो गई हो। दूसरा कारण यह हो सकता है कि स्वेच्छा से काम-क्रीडा के उत्पन्न होने वाले भावों मे रुकावट डालना।

अब वर्तमानकाल मे आवरण की जो प्रथा है, उसका मुख्यतः दूसरा ही कारण हो सकता है। यदि स्त्री में स्वेच्छा से सब पुरुषों से काम-क्रीडा करने के भाव नहीं होते, तो

पुरुषों के आगे आवरण करने की प्रथा न रखी जाती। आवरण प्रथा वर्तमान है, इससे सिद्ध होता है कि स्त्री में स्वेच्छा से पुरुषों के साथ काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं। इस भाव की पुष्टि इस कारणसे भी हो जाती है कि स्त्री स्त्रीके आगे आवरण नहीं करती, क्योंकि उनमें परस्पर काम-क्रीड़ा करने के भाव नहीं हैं।

जबकि स्त्री में सब पुरुषों के प्रति स्वेच्छा से काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं, तो मेरे साथ भी उसके काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं।

(४ आवरण प्रथा का एक कारण, रूढ़ि ग्रस्तता)—

आवरण (पड़दा) प्रथा का एक कारण रूढ़िग्रस्तता भी है। जो आवरण प्रथा कभी किसी कारणवश आरम्भ हो गई हो और फिर आवश्यकता न रहने पर परंपराके आधार से अज्ञानवश चलती रहे। इस आवरण-प्रथा का भी प्रचलन है, जो स्त्री- स्त्री में भी पाई जाती है। परन्तु वह काम-क्रीड़ के भाव के होने की सिद्धि नहीं करती।

(५ स्त्री में काम-क्रीड़ा-भाव के होने की सिद्धि अन्य तत्वों से भी)—

स्त्री में समस्त पुरुषों के साथ काम क्रीड़ा करने के भाव के अस्तित्व की सिद्धि अन्य तत्वों से भी होती है। जिनमें से अनेक

का वर्णन किया जा चुका है और अनेक का आगे वर्णन किया जाएगा।

उपरोक्त आवरण- प्रथा की विवेचना से सिद्ध हो जाता है कि स्त्री अपने अंगों को पुरुष को इसलिये नहीं दिखाना चाहती जिससे पुरुष, उस ओर आकर्षित होकर, उन से क्रीडा करने के लिये उसे (स्त्री को) प्रेरित करे। यदि पुरुष स्त्री के अंगों को देखेगा, तो वह उधर प्रेरित होकर स्त्री को प्रेरित करेगा और स्त्री भी स्वेच्छा से उधर प्रेरित हो जाएगी। स्वेच्छा से प्रेरित होना ही स्त्री में काम-भाव होने की सूचना देता है।

---

४ स्त्री के पृथक रहने से भी उसमें काम-भाव होने की सिद्धि—

(स्त्री-पुरुषों को परस्पर पृथक् रखने का कारण, आलिंगन न होने देने की इच्छा)—

प्रायः पुरुषों को प्रायः स्त्रियों से या प्रायः स्त्रियों को प्रायः पुरुषों से पृथक् रखा जाता है। अनेक बार ऐसी अवस्था आ जाती है कि पुरुष को स्त्री के व्यवहार की और स्त्री को पुरुष के व्यवहार की अत्यधिक आवश्यकता होती है। उसके बिना उनका जीवन बहुत दुःखदायी होता है। परन्तु धार्मिक या सामाजिक प्रथा की ऐसी रुकावट है कि पुरुष स्त्री के पास नहीं जा . और स्त्री पुरुष के पास नहीं जा सकती। इस कार

अत्यधिक आवश्यकता होने पर भी एक-दूसरे की सहायता नहीं कर सकते। अब प्रश्न उठता है कि इतनी कठोर रुकावट धार्मिकों और सामाजिकों ने क्यों उपस्थित कर दी ? ऐसी अत्यधिक दु:खदायी रुकावट किसी अत्यधिक भारी हानि से बचने के लिये ही हो सकती है। वह चाहे शारीरिक हो, आर्थिक हो या और अन्य किसी प्रकार की हो। है अवश्य।

अनेक वार देखा जाता है कि स्त्री-पुरुष परस्पर एक-दूसरे की हानि करना तो दूर रहा, एक-दूसरे को लाभ पहुंचाना चाहते हैं। फिर-भी दोनों को पृथक् रखा जाता है। इसका कारण क्या है ?

ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि स्त्री और पुरुषों के अगों मे इस प्रकार की बनावट है कि दोनों का परस्पर आलिंगन हो सकता है। उस आलिंगन को रोकने के लिये ही स्त्री और पुरुषके मिलन मे रुकावट डाली गई है। इस लिये ही स्त्री और पुरुषों को पृथक्-पृथक् रखा जाता है। जिससे वे आपस मे आलिंगन न कर सकें। इस आलिंगन ही को काम-क्रीड़ा कहते हैं।

(स्त्री के पृथक् रहने से भी उसमें काम-भाव होने की सिद्धि)—

उक्त काम-क्रीड़ा दोनों की इच्छा के बिना नहीं हो सकती।

वह धोखा देकर या बलपूर्वक भी हो सकती है परन्तु ऐसा होना अकस्मात् ही होता है। इस अकस्मातिक या अत्यल्प हानि से बचने के लिये समस्त स्त्री-पुरुषों और सदैव के लिये इतना कठोर प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। इतना कठोर प्रतिबन्ध है, इससे सिद्ध होता है कि वह धोखा या बलात् के कारण नहीं है। इस कठोर प्रतिबन्ध का कारण अन्य ही है और वह हो सकता है, स्वेच्छा का। अर्थात् स्त्री और पुरुष की परस्पर स्वेच्छा से काम-क्रीड़ा करने की भावना है। इस लिये ही परस्पर एक-दूसरे को न-मिलने देने के लिये ही सदा के लिये रुकावट डाली गई है। इसके अतिरिक्त प्रतिबन्ध का अन्य कोई कारण नही है, जो इतना कठोर प्रतिबन्ध रखा जाए।

हमारे प्रसंग मे—'स्त्री में मेरे प्रति काम-क्रीड़ा के भाव हैं या नहीं' यह विषय जानने का है। उपरोक्त विवेचना के आधार पर सिद्ध हो जाता है कि प्रायः समस्त स्त्रियों को मुझ से पृथक् रखा जाता है, इसका कारण यही है कि उनका मेरे प्रति स्वेच्छा से काम-क्रीड़ा करने का भाव है, पर प्रतिबन्ध होने के कारण वह व्यक्त नहीं होने पाता।

---

५ देखने, सुनने और पढ़ने से भी काम-भाव के अस्तित्व की सिद्धि—

(१, स्त्री-पुरुषों के अंगों का निर्माण काम-क्रीडा के लिये है)—

साधक विचार करता है कि संसार में देखा जाता है कि चेतन जीवों के शरीर के दो भेद हैं, पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। इन दोनों भेदों के शरीर वाले जीवों को अपनी-अपनी जाति मे मैं ने काम-कीडा करते हुये देखा है। इसी प्रकार के अग, जिनसे काम-कीड़ा करने का व्यवहार पाया जाता है, मनुष्यों मे भी देखे गये हैं। मनुष्यों के इन अंगों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रकृति ने इन अंगों का निर्माण काम-कीडा करने के लिये भी किया है।

(२ मैथुन प्रकृतिस्थ होने पर, मनुष्य को उसे करना पड़ेगा)—

जबकि प्रकृति ने मैथुन करने के लिये अंगो का निर्माण किया है, तो मनुष्य को भी मैथुन अवश्य करना पड़ेगा। वह उसके बिना रह नहीं सकता।

—(काम-क्रीड़ा की परिभाषा)— जब प्राकृतिक इस मैथुन क्रिया में सौन्दर्य ले आया जाता है या उसे मनोरंजक बना दिया जाता है, तो वह काम कीडा कहलाने लगती है।

जब मनुष्य मैथुन-क्रीड़ा के बिना नहीं रह सकता, तो उसमें उसके भाव अवश्य हैं और वह उनका उचित या अनुचित रूपमें प्रयोग अवश्य करेगा।

(३. स्त्री-पुरुष परस्पर काम क्रीड़ा करते हैं)—

स्त्री-पुरुष परस्पर काम-क्रीड़ा करते हैं, पर वह देखने में नहीं आती। क्योंकि वह इतनी गुप्त रखी जाती है कि किसी अन्य मनुष्य को वह-क्रीड़ा देखने का अवसर सरलता से नहीं मिलता। परन्तु उस क्रीड़ा के होने का उसके परिणाम से ज्ञात होता है कि काम-क्रीडा हुई है। किन्तु फिर-भी अनेक अवसर आ जाया करते है कि स्त्री-पुरुषों की काम-क्रीड़ा को देखा जाता है और जहां संकोच नहीं है या कम है, वहां तो उस क्रीड़ा को देखने का अवसर बराबर मिला करता है। अतः इन बातों से सिद्ध हो जाता है कि स्त्री-पुरुष काम-क्रीड़ा करते हैं।

(४. सजातियों में काम-क्रीड़ा होना जानकर स्त्री में उसका भाव होना स्वाभाविक)—

जब स्त्री और पुरुष स्त्री लिंग तथा पुलिंग जगत को काम-क्रीडा करते देखते है तो उनमे उस क्रीड़ा के भाव का होना स्वाभाविक है, क्योंकि उनके उन अंगों में समानता है। दूसरे, मनुष्य चेष्टा तथा वचन से भी सजातीय व्यक्तियों में काम-क्रीड़ा के भाव देखता है, सुनता हैं और अनुमान करता है।

इन कारणों से उनमें काम-क्रीड़ा के भाव का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जिस भाव का प्रकटीकरण प्रभावित इन्द्रियों के व्यापार और शब्दों से होता है। अतः सिद्ध हो जाता है कि समस्त स्त्री-पुरुषों में काम-क्रीडा करने के भाव है।

(५. काम-क्रीडा में आनन्द जानकर स्त्री में भी काम क्रीड़ा के भाव का होना स्वाभाविक है)—

साधक विचार करता है कि मैं देखता हूं कि समस्त स्त्री और पुरुषों के शरीर पृथक्-पृथक् है। उनके भाव पृथक्-पृथक है। उनके सुख-दुःख पृथक्-पृथक् हैं और वे पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी आवश्यकताएं पूरी करते हैं। सब अपने-अपने आनन्द को चाहते है। यदि दूसरे के सुख या आनन्द के लिये कोई करता है तो उसके मूल में अपना सुख-आनन्द निहित होता है।

उपरोक्त विचार से ज्ञात होता है कि स्त्री में जो काम-क्रीडा करने के भाव हैं, वे अपने ही सुख-आनन्द के लिये हैं, न-कि पुरुष के सुख-आनन्द के लिये। उसे क्या आवश्यकता है कि वह जो पुरुष के आनन्द के लिये काम-क्रीड़ा करे...? वह गर्भ और प्रसव की अपार पीड़ा को क्यों सहन करे...? उसे पुरुष से ऐसा क्या अनन्त-लाभ या आनन्द होता है, जो वह उसके लिये अपार पीड़ा को सहन करे...? उत्तर में कहा जा सकता

है कि स्त्री को पुरुष से ऐसा कोई लाभ या आनन्द नहीं होता, जिसकी प्राप्ति के लिये स्त्री पुरुष के लिये अपार कष्ट या दुःख सहन करे। फिर-भी वह गर्भ, प्रसव और बालकों के लालन-पालन के अपार-पीड़ा की कोई चिन्ता नहीं करती।

इससे स्पष्ट होता है कि वह जो अपार कष्ट या दु ख सहन करती है, अपने ही काम-क्रीड़ा के सुख-आनन्द के लिये। जिसके आगे वह अपने भावी कष्टों और दुःखों को भूल जाती है। जब कि स्त्री काम-क्रीड़ा अपने ही आनन्द के लिये करती है, तो सिद्ध हो जाता है कि उसमे किसी भी पुरुष से काम-क्रीड़ा करने के भाव है। परन्तु किसी भी कारण से वह काम-क्रीड़ा न करे या वह भाव प्रकट न करे, यह दूसरी बात है।

(देखने से, स्त्री मुझ से भी काम कीड़ा करना चाहती है)—

जब कि स्त्री काम-क्रीड़ा अपने सुख या आनन्द के लिये करती है, तो उसे तो वह क्रीड़ा करनी ही पड़ेगी। जबकि उसे वह करनी ही पड़ेगी, तो उसे किसी न किसी पुरुष की आवश्यकता अवश्य पड़ेगी। जब तक उसकी आवश्यकता पूरी न होगी, तब तक वह किसी न किसी पुरुष की खोज में अवश्य रहेगी। अत इस विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि स्त्री की मुझसे काम-क्रीड़ा करने की अवश्य इच्छा है।

अब प्रश्न यह होता है कि जब कि उसमें भाव है, तो वह काम-क्रीडा करती क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जहां उसे काम-क्रीडा के सुख-आनन्द की इच्छा है, वहां उसे अन्य प्रकार के सुखों और आनन्दों की भी इच्छा है। अत वह अपने सब प्रकार के सुखों और आनन्दों का सन्तुलन करके ही काम-क्रीड़ा करना चाहेगी। यदि उसके सन्तुलन में मुझ से 'काम-क्रीड़ा करना' नहा हुआ, तो वह नहीं करेगी परन्तु इतना तो संसार को देखने से सिद्ध हो ही जाता है कि स्त्री का मुझ से काम क्रीड़ा के करने का भाव है। वह चाहे लीन या अप्रकट रूप में ही हो।

(सुनने और पढने से, स्त्री मुझ से काम क्रीड़ा करना चाहती है)—

किसी की बात सुनने, कहानी सुनने और पुस्तकों तथा जन-पत्रों को पढने से ज्ञात होता है कि किसी भी देश और किसी भी जाति की स्त्री क्यों न हो ? उन सब मे काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं। वे किसी भी देश या जाति के पुरुष से काम-क्रीडा कर सकती हैं परन्तु उसमें शक्ति, गुण, उसकी अनुकूलता और कर्मों की पूर्ति होनी चाहिए।

इस आधार से स्त्री, किसी भी देश या जाति की हो, मुझ से काम-क्रीड़ा कर सकती है और उसके मुझ से काम-कीडा

करने के भाव हैं। मुझ मे शक्ति, गुण, उसकी अनुकूलता और कर्मों की पूर्ति होनी चाहिए।

अत देखने, सुनने और पढ़ने से ज्ञात होता है कि स्त्री किसी भी देश और जाति की हो। यदि मेरे पास शक्ति, गुण, उसकी अनुकूलता और कर्मों की पूर्ति एवं किसी प्रकार का प्रतिवन्ध न-हो, तो वह मुझ से काम-क्रीड़ा अवश्य करेगी। और उस क्रीड़ा के भाव बनाये रखकर उसे प्रकट करती रहेगी।

---

६. अन्य सब सुखों को चाहने और ग्रहण करने से भी काम भाव के अस्तित्व की सिद्धि —

स्त्री किसी भी पुरुष से अन्य किसी भी प्रकार के सुखों को ग्रहण कर लेती है, केवल मैथुनादि सुख को ही ग्रहण नहीं करती। उसमें किसी भी प्रकार के सुखों का, किसी भी पुरुष से, ग्रहण करने का भाव है, परन्तु उसमें, नियत-पुरुष के अतिरिक्त अन्य किसी से भी मैथुनादि-सुख ग्रहण करने के भाव नहीं पाये जाते।

अब यह देखना है कि स्त्री, किसी भी पुरुष से काम-क्रीड़ा को छोड़कर, अन्य किसी भी प्रकार के सुखों को ग्रहण कर लेती है और उसमें उनके ग्रहण करने के भाव भी हैं। जैसे अन्य सब प्रकार के सुख, उसी प्रकार का मैथुनादि सुख। जब कि सब सुख सामान्य रूप से हैं तब यह कैसे संभव है कि अन्य

सब प्रकार के सुखो को तो ग्रहण कर ले और मैथुनादि सुख को ग्रहण न करे एव उसके ग्रहण करने का भाव न हो ? जब कि स्त्री, किसी भी पुरुष से, किसी भी प्रकार के सुख को ग्रहण कर लेती है और उनके ग्रहण कर लेने का भावभी है तो वह काम-क्रीड़ा के सुख को भी किसी भी पुरुष से ग्रहण कर लेगी और उसके ग्रहण करनेका भाव भी है। तो फिर प्रश्न उठता है कि वह उसे ग्रहण और उसका भाव क्यों नहीं प्रकट करती ? इसका कारण यही हो सकता है कि उसे—ऐसा करने के लिये—सिद्धान्त, बन्धन, नियम और नीति आदि रुकावट डालते हैं। जिन के कारण वह न काम-क्रीड़ा कर सकती है और न-हि उसके भाव प्रकट कर सकती है। परन्तु उसमे किसी भी पुरुष से काम-क्रीडा करने के भाव है अवश्य।

जब कि किसी भी स्त्री मे किसी भी पुरुष से काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं तो वह-भाव मेरे से भी है, पर वह किसी कारणवश उन भावों को प्रकट न करे और न-हि काम-क्रीड़ा करे, यह दूसरी बात है।

---

७. अन्य सब व्यवहार करने के कारण भी, काम भाव का पाया जाना—

कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष से किसी भी प्रकार का व्यवहार ग्रहण कर लेती है तथा कर सकती है और उसके ग्रहण

करने का भाव है, यदि कोई उसे धोखा न दे। परन्तु वह काम-क्रीड़ा का व्यवहार प्रत्येक पुरुष से नहीं कर सकती, न-हि करती है और न-हि उसके ग्रहण करने का भाव है। ऐसा क्यों है··? जैसे अन्य प्रकार के व्यवहार है, वैसा ही काम-क्रीड़ा का व्यवहार भी। काम-क्रीड़ा का व्यवहार ऐसा नहीं है, जो नियत व्यक्ति को छोड़कर, अन्य किसी भी पुरुष से किया जा सकता न हो। या उसके करने मे स्वाभाविक रुकावट हो अथवा प्राकृतिक प्रतिवन्ध हो, ऐसी कोई बात नहीं है। यह जो रुकावट है, मानुषिक है। यदि मानुषिक प्रतिवन्ध न हो और अपने उद्देश्य या लक्ष्य के विरुद्ध न हो और अपने अनुकूल हो तो यह काम-क्रीड़ा का व्यवहार किसी भी पुरुष से किया जा सकता है। और ऐसा कर भी लिया जाता है। ऐसे उदाहरण बराबर मिलते है। अनेक यूरोपियन लड़किया भारतीय पुरुषो से विवाह कर लेती है और भारतीय लड़किया यूरोपियनों से प्रेम करती देखी गई है। अनेक हिन्दू लड़कियां मुसलमानो से विवाह कर लेती है और अनेक मुसलमान लड़किया हिन्दुओं को ग्रहण कर लेती हैं। इसी प्रकार अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्जातीय भी विवाह होते है। मद्रास प्रांत के ब्राह्मण कुल चक्रवर्ती-राजगोपालाचार्य की लड़की से गुजरात के वैश्यकुल के महात्मा गांधी के लड़के देवीदास गांधी का विवाह हुआ है। इस प्रकार मैथुनादि का व्यवहार किसी भी पुरुष से किसी भी

स्त्री का हो सकता है और उस व्यवहार के करने का भाव भी स्त्री मे है। परन्तु वह उस व्यवहार को किसी भी कारणवश न करे अथवा उसके करने के भाव को प्रकट न करे, यह दूसरी बात है।

जब कि किसी भी स्त्री का किसी भी पुरुष से मैथुनादि का व्यवहार करना सिद्ध हो जाता हैं और उसमें उस व्यवहार को करने का भाव भी है, तो यह नही हो सकता कि किसी भी स्त्री का मुझ से काम-क्रीड़ा करने का भाव न हो। परन्तु किसी कारण से वह न करे अथवा मै न करूं, यह दूसरी बात है।

---

८. वातावरण से भी काम-भाव की सिद्धि—

(१. वातावरण की परिभाषा)—

वातावरण का अर्थ है कि वायु का पड़दा अथवा वायु के समान अन्य सूक्ष्म तत्वों या विषयों का व्यापक सर्वत्र फैलाव।

—(व्याख्या)—संसार में मिट्टी होती है, वह सूक्ष्म होकर आकाश मे फैल जाती है और मीलों स्थान को घेर लेती है। ससार में जल होता है, वह मेघ के रूप मे मीलों आकाश को घेर लेता है। संसार मे अग्नि होता है, उसका ताप दूर-दूर तक छाया रहता है और सूर्य के रूप मे असख्य मीलों मे छाया हुआ है। ससार मे वायु होता है, वह आकाश में मीलों तक

फैला रहता है। संसार में आकाश होता है, वह भी इसी प्रकार अनन्त स्थान को घेरे रहता है। यही वातावरण है।

—(वातावरण का अर्थ)—संसार में समुद्र, नदी, तालाब, पहाड़, खाई, वन, उपवन, मरुभूमि, पशु, पक्षी, कीड़, मकोड़ मनुष्य, नगर, ग्राम, औषधियां, अनेक प्रकार के यान, गाडी-घोडा, रेल, मोटर, विमान और अनेक प्रकार की सामग्री जो मनुष्य के सम्पर्क मे आती है। वे और उनकी आकृति, गुण और क्रिया आदि की बाते संसार मे फैल जाती है। जहा जाओ, उनकी ही बाते सुनाई देती है, वे ही पढ़ी जाती हैं। बस, इस प्रकार मे सर्वत्र व्यापक भाव या बात को ही उसका वातावरण कहा जाता है।

—व्याख्या—जो वस्तु, गुण और क्रिया आदि होती है, उसी के अस्तित्व की बात फैलती है, व्यापक होती है। और जो वस्तु, गुण और क्रिया आदि नहीं होती—उसकी बात का व्यापक आवरण नहीं होता।—

(२. असत्य वातावरण)—

—परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो जाया करता है कि कोई वस्तु, गुण और क्रिया आदि नहीं होती, फिर भी उसका वातावरण हो जाता है या प्रतीत होने लगता है। ऐसा वातावरण स्थिर नही रहता या वह विश्लेषण के द्वारा असत्य सिद्ध हो जाता है।—

(३, सत्य वातावरण)—

—परन्तु जो सत्य वातावरण होता है, वह कभी नाश नहीं होता। किन्तु कभी-कभी वह असत्य वातावरण से ढका जा सकता है।

—(विषयानुसार सत्य)—किन्तु सत्य विषय के अनुसार लेना चाहिए अथवा शब्दो का परिवर्तन करके यों कह सकते है कि जैसा विषय, वैसा सत्य। यदि हमारा विषय पारमार्थिक हो तब-तो हमें संसार के विषय में निर्णय करना पड़ेगा कि वह सत्य है या असत्य, वह स्थायी है या अस्थायी। यदि इस पद्धति के द्वारा उसके अस्तित्व की सिद्धि हो तो सत्य, अन्यथा असत्य।

यदि हमारा विषय भौतिक विज्ञान है तो हमें सृष्टि की उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय परमाणुओं के योग से देखना होगा। यदि हमें परमाणुओं के योग से अपने लक्ष्य वस्तु की प्राप्ति हो जाए, तब-तो सत्य और हमे कुछ प्राप्त न-हो, तो असत्य।

यदि हमारा विषय राजनैतिक है तो हमें लक्ष्य, मार्ग और राजशासन की ओर प्रगति देखनी होगी। सब से पहले हमें . ने लक्ष्य को देखना पड़ेगा कि हम राजशासन के किस पद . चाहते है? दूसरी बात यह देखनी पड़ेगी कि हम उस .द को पाने के लिये किस मार्ग को अपनाते हैं? वह हमें

लक्ष्य स्थान को प्राप्त करा सकता है या नहीं। तीसरी बात यह देखने की आवश्यकता है कि हम उस पद की ओर अग्रसर भी हो रहे हैं या नही ? यदि तीनों बातें सिद्ध होती है तो हमारा राजनैतिक विषय सत्य, अन्यथा असत्य।

यदि हमारा विषय वैयक्तिक है तो हमें वैयक्तिक रूप से देखना पड़ेगा कि वातावरण के अनुसार उसका व्यवहार मिलता है या नहीं। यदि वातावरण के अनुसार व्यवहार, क्रिया, आकृति और गुण आदि मिल जाते है तो सत्य—अन्यथा असत्य। अथवा किसी मनुष्य के विचार या वचन के अनुसार वस्तु, गुण,क्रिया और व्यवहार मिल जाए तो सत्य—अन्यथा असत्य।

यदि हमारा विषय सामाजिक है तो हमें उसकी प्रथाओं को देखना पडेगा कि जिस उद्देश्य के लिये जो प्रथा बनाई गई है, वह उद्देश्य उससे सिद्ध या प्राप्त होता है या नहीं ? अथवा जिस समाज के लिये जो वातावरण है; उस वातावरण के अनुसार उसमे वह प्रथा, गुण, क्रिया या व्यवहार मिलता है या नही ? यदि वातावरण के अनुसार प्रथा, गुण और क्रिया आदि मिल जाए तो सत्य—नहीं मिले तो असत्य।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि विषय के अनुसार सत्य और असत्य समझा जाता है, परन्तु हमारा यह मुख्य विषय नहीं था। यह तो प्रसंगवश आ गया, इसलिये

वर्णन कर दिया है। अब हम अपने मुख्य विषय पर, वातावरण सम्बन्धी भेद बतलाकर, जाएंगे।

इस प्रसग का हमारा मुख्य विषय यह था कि संसार में जो वस्तु, गुण या क्रिया आदि होती है; उसी के अनुसार वातावरण होता है। इस वातावरण के दो भेद हैं, स्थायी और अस्थायी। स्थायी वातावरण सत्य होता है और अस्थायी असत्य। जिनका वर्णन किया जा चुका है।

(४. वातावरण से भी काम-भाव की सिद्धि)—

काम-क्रीड़ा के भाव होने सम्बन्धी यह वातावरण है कि समस्त स्त्रियों मे समस्त पुरुषों के साथ काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं। यदि कोई पुरुष स्त्री के अनुकूल है और वह आवश्यक कर्मो की पूर्ति कर मकता है, तो वह स्त्री को प्राप्त कर सकता है और स्त्री भी उससे काम-क्रीड़ा करने के लिये तैयार हो जाएगी। यह वातावरण स्थिर है जो ग्रन्थो, मनुष्यों के वचनो या कहावतों और सृष्टि के स्त्रीलिग तथा पुल्लिंग के व्यवहार आदि से सिद्ध होता है। यह वातावरण स्थिर है, ःस लिये सत्य है।

उपरोक्त विषय पर विचार करने के पश्चात् इस परिणाम ःहुँच जाता है कि वातावरण से सिद्ध होता है कि मुझ ःी के काम-क्रीडा करने के भाव हैं। यदि मै उसके अनु-

कूल हुआ और कर्मों की पूर्ति कर सका, तो मुझ से वह काम-क्रीड़ा अवश्य करेगी।

---

६. स्वभाव से काम-भाव के अस्तित्व की सिद्धि —

(१. स्वभाव की परिभाषा)—

स्वभाव वस्तु, उसके गुण और क्रिया के उस अस्तित्व को कहते हैं जिसका परिवर्तन न हो सके या उसका परिवर्तन दुस्साध्य हो।

ऐसे असाध्य या दुस्साध्य अस्तित्व का भी अकस्मात् या किसी घटना विशेष को लेकर भी परिवर्तन हो जाया करता है।

(२. स्वभाव के दो भेद, वैयक्तिक और जातीय)—

संसार जड़-चेतनात्मक रूप है। जड़ के विभिन्न रूप है और चेतन जगत के भी विभिन्न रूप हैं। उनके विभिन्न स्वभाव है। इन स्वभावो के भी दो भेद है, वैयक्तिक और जातीय।

—(वैयक्तिक स्वभाव)—वैयक्तिक स्वभाव तो एक वस्तु या एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। और—

—(जातीय स्वभाव)— जातीय स्वभाव (एक प्रकार

की आकृति, गुण और क्रिया आदि)—एक प्रकार की समस्त वस्तुओं या व्यक्तियों में पाया जाता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश की पृथक्-पृथक् आकृति, गुण और क्रिया आदि है। अर्थात उनका पृथक्-पृथक् स्वभाव है। वे अपने-अपने स्वभाव में स्थिर हैं। उनके स्वभाव में अन्तर नहीं आता। यदि उनके स्वभाव में कभी अन्तर आ भी जाता है, तो वह अन्तरित-स्वभाव होता है।

—(स्वभाव का लक्षण)—चिरकाल तक किसी वस्तु का अपनी आकृति, गुण और क्रिया आदि में रहना ही स्वभाव कहलाता है।

(३. उदाहरण)—

—(पृथ्वी का स्वभाव)—पृथ्वी में 'धारण करने का स्वाभाविक गुण है। वैयक्तिक या खण्ड रूप में उसके गुण पृथक्-पृथक् हैं। वैयक्तिक या खण्ड रूप में कहीं अन्नादि उत्पन्न होता है-कहीं नहीं, कहीं उसका ठोस रूप है—कहीं भुर-भरा। इस प्रकार पृथ्वी के खण्ड रूप में पृथक्-पृथक् गुण हैं, परन्तु जातीय या अखण्ड रूप में 'धारण करने' का गुण सर्वत्र पाया जाता है।

—(जलका स्वभाव)—जल का स्वाभाविक गुण किसी को 'भिगोना' या 'सरस करना है। इसके खण्ड रूप

का गुण तो पृथक् पृथक् होता है; कहीं मीठा, कहीं नमकीन कहीं मटीला, कहीं स्वच्छ और कहीं ठण्डा-कहीं तत्ता। परन्तु जातीय या अखण्ड रूप में उसका गुण 'भिगोना' या 'सरस' करना ही है।

—(अग्नि का स्वभाव)—अग्नि का स्वभाविक गुण 'जलाना' 'प्रकाश करना' और 'उष्णता पहुँचाना' ही है। वैयक्तिक या खण्ड रूप में तो उसके भिन्न-भिन्न रूप हैं या उनका भिन्न-भिन्न स्वभाव है। कहीं वह अधिक जलाता है-कहीं कम, कहीं अधिक ताप देताहै- कही कम और भिन्न-भिन्न स्थानों में उसकी आकृति और रंग में भी भिन्नता आ जाया करती है। परन्तु जातीय या अखण्ड रूप में अग्नि का गुण 'जलाना' 'प्रकाश' करना और 'उष्णता' पहुँचाना ही है।

—(वायु का स्वभाव)—वायु का स्वाभाविक गुण 'संचरन शील है। इसके खण्ड या वैयक्तिक रूप का स्वभाव भिन्न- भिन्न है। यह कहीं उड़ता और उड़ाता है, कहीं निश्चल रहना और करता है और कहीं इसकी परिधि छोटी होती है तथा कही बड़ी। परन्तु जातीय या अखण्ड रूप में वायु का गुण 'संचरनशील' ही रहना है।

—(आकाश का स्वभाव और सृष्टि की उत्पत्ति)— पृथ्वी का स्वाभाविक गुण 'धारण करना' जल का 'सरस

करना' अग्नि का 'ताप देना' और वायु का 'संचरन' गुण हैं। जब चारों गुण एकत्र हो जाते हैं तो जड़- चेतन जगत की उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति और वृद्धि होने के लिये आकाश उन्हे अवकाश देता है। इस प्रकार 'अवकाश' या स्थान देना आकाश का स्वभाविक गुण है। यह रूप जातीय या अखण्ड रूप का है। खण्ड रूप मे आकाश का भिन्न-भिन्न रूप या स्वभाव है, जिस प्रकार उक्त अन्य भौतिक तत्वों का उसी प्रकार आकाश का भी।

—(पक्षियों का स्वभाव)— पक्षियों का सामुदायिक स्वभाविक गुण' उड़ना' क्रिया होता है। जब किसी पक्षी का नाम सुना या पढा जाता है तो समझा जाता है कि उसमें 'उड़ने' का गुण है। यह उस मे स्वभाविक गुण है। इस में परिवर्तन नहीं होता। जब पक्षी की किसी जाति का नाम लिया जाता है, नो उस जाति में रहने वाले सभी पक्षियों मे एक प्रकार के गुण का बोध होता है। क्योंकि उस जाति के सभी पक्षियों मे उस गुण का रहना स्वाभाविक है। इस लिये उस गुण का होना स्वाभाविक है। जब उस जाति के खण्ड रूप, अर्थात् वैयक्तिक नाम लिया जाता है तो उसमें जो विशेप गुण होता है वह समझा जाता है। जो स्वाभाविक और भिन्न-भिन्न होता है।

—(पशु स्वभाव)—जब पशु की किसी जाति विशेष का नाम लिया जाता है, तो उस जाति मे आने वाले सभी पशु समझ लिये जाते हैं और उस जाति मे रहने वाली आकृति, गुण और क्रिया आदि उस जाति के समस्त पशुओं मे समझी जाने लगती है क्योंकि वे अपने स्वभाव रूप मे स्थित है।

—(मनुष्य स्वभाव)—जब हम मनुष्य का नाम लेते है, तो दो हाथ और दो पैर वाले विशेष पिण्ड के जीव का बोध होता है। जिस मे अन्य प्रकार के जीवोंकी अपेक्षा अधिक ज्ञान हैं और हो सकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है।—

—और यह गुण प्रत्येक व्यक्ति मे पाया जाता है। जब हम उसकी किसी जाति का नाम लेते है, सुनते है या पढ़ते है तो उस जाति की आकृति, गुण, क्रिया और परिमाण आदि का उस जाति के प्राय प्रत्येक व्यक्ति मे अनुमान करते हैं और निश्चय या विश्वास करके कम करते हैं तथा अपने वांछित-फल को प्राप्त होते है। यह सब-कुछ स्वभाव के आधार पर ही होता है, क्योंकि स्वाभाविक बात मे अन्तर नहीं आने पाता।

मनुष्यमें काम,क्रोध,लोभ,मोह और अहंकारके भाव सामान्य रूप से पाये जाते है। इसलिये इनका होना स्वभाव है। इस स्वभाव से रिक्त कोई भी व्यक्ति नहीं है। हां यह हो सकता है कि वैयक्तिक रूप मे ये भाव न्यूनाधिक और पद्धति विशेष में

पाये जाए। काम-भाव रावण में भी था और मर्यादा पुरुषोत्तम राम में भी। काम-भाव शूर्पणखा मे भी था और महारानी सीता मे भी। था इन सब मे, परन्तु अपनी-अपनी मात्रा और पद्धति विशेष मे। यह मात्रा और पद्धति ही उनका स्वभाव थी, जिसका वे परिवर्तन नहीं कर सकते थे। उसी स्वभाव के अनुसार ही वे तथा अन्य लोग उनका निश्चय करते थे और अब भी करते हैं। यह काम-भाव हिन्दुओं मे भी है, मुसलमानो मे भी और अंग्रेजो मे भी। परन्तु उनकी अपनी-अपनी पद्धति विशेष मे उसका प्रकटीकरण होता है। जब हम किसी भी जाति या व्यक्ति का नाम लेते हैं तो उसके स्वभाव ही से उसके भाव या गुण की मात्रा और रूप जान लेते हैं और सरलता से किसी के चरित्र को जानकर कर्मों का योग कर देते है।

(४ स्वभाव जानकर मनुष्य का लाभ उठाना)—

उपरोक्त पृथ्वी आदि महाभौतिक तत्वों और उन से उत्पन्न जड़-चेतन जगत के गुण अपने स्वभाव रूप में स्थिर हैं। उन में परिवर्तन नहीं होता। यह जानकर जीव अपनी आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करते हैं और मनुष्य विशेष ...र उन से लाभ उठाते हैं। मनुष्य उन तत्वों के स्वाभाविक गुणों ... समझकर, उनका ऐसा योग करते है कि उनसे नई उपयोगी वस्तु बन जाती है। जिसका गुण और क्रिया आदि अपनी ही

होते है। उसका वह-अपनापन ही उसका स्वभाव होता है। उस स्वभाव मे परिवर्तन नही होता और उस स्वभाव ही से उसकी आकृति, गुण, क्रिया और परिमाण आदि का बोध होता है। अथवा जब उस वस्तु के प्रति सुना या पढ़ा जाता है, तो-भी उसमे उक्त गुण ही समझा जाता है। यह स्वभाव ही की महत्ता है।

(५. स्वभाव सेजाति-सज्ञा और स्वभाव बनने की अवस्था)—

स्वभाव ही से जाति-संज्ञा दी जाती है। यदि स्वभाव प्रकृति-कृत हो, तब-तो उसके द्वारा ही वह परिवर्तित हो सकता है। इसलिये प्राकृतिक स्वभाव मे मनुष्य द्वारा परिवर्तन होना असम्भव है और जो स्वभाव मनुष्यकृत है, उसका भी परिवर्तन दुस्साध्य तथा असाध्य है। जब किसी प्रकार से मनुष्य का स्वभाव परिवर्तित हो जाता है और अन्य किसी प्रकार का गुण तथा क्रिया आदि दृढ़ हो जाते है तो स्वभाव बन जाता है।

(६. सृष्टि में स्वभावकी आवश्यकता)—

यदि संसार में स्वभाव न रहे, तो हम किसी बात का न-तो निश्चय कर सकते है और न-हि निस्सन्देह होकर कर्म कर सकते है। साथ ही न हमको वांछित-फल मिल सकता है। इस प्रकार की परिस्थिति में हमारा जीवन चिंतित, द्विविधाजनक

और दुःखात्मक हो जाएगा। परन्तु सृष्टि में स्वभाव होने से हम किसी भी वस्तु या व्यक्ति की आकृति, गुण, क्रिया तथा परिमाण आदि सरलता से जानकर और कर्मों का योग करके वांछित-फल को प्राप्त हो सकते हैं और होते हैं। कहा जा सकता है कि सृष्टि के संचालन के लिये ही ईश्वर या प्रकृति ने 'स्वभाव' की रचना की है।

(७. स्वभाव एक तत्व)—

उपरोक्त स्वभाव की विवेचना से हम इस निश्चय पर पहुचे हैं कि सृष्टि में स्वभाव भी एक तत्व है। जिस से किसी भी बात का अस्तित्व ज्ञात होता है और उस अस्तित्व का परिवर्तन नहीं होता। यदि होता है तो अपवाद रूप में। उस परिवर्तन होने में समय और परिश्रम अत्यधिक लगता है। ऐसा परिवर्तित रूप भी स्वभाव का रूप धारण कर देता है। फिर इस स्वभाव में भी परिवर्तन करने में अत्यन्त कठिनाई उपस्थित होती है। इस प्रकार स्वभाव एक तत्व बन जाता है और इस स्वभाव को जानकर ही मनुष्य कर्म करते हैं।

(८ सृष्टि में काम-भाव स्वभाव रूप में) —

सृष्टि में काम-क्रीड़ा का भाव विद्यमान है। उसे देख, सुन और पढ़कर स्त्री और पुरुषों में भी काम-क्रीड़ा का भाव उत्पन्न हो जाता है। परन्तु वह भिन्न-भिन्न मात्रा और रूप में

निरन्तर रहने के कारण इतना दृढ़ हो जाता है कि वह स्वभाव का रूप धारण कर लेता है।

अतः स्वभाव तत्व से भी सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियों में भी काम-क्रीड़ा के करने का भाव है परन्तु हो वह किसी भी रूप, मात्रा और पद्धति विशेष में। पर है अवश्य।

(६. स्त्री का मुझ से भी काम-भाव है)—

स्वभाव सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है कि जब कि स्त्री में किसी भी पुरुष से काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं, तो उसके मेरे साथ भी काम-क्रीड़ा करने के भाव है। क्योंकि जैसे वे पुरुष उसी प्रकार का 'मैं' भी। परन्तु वह काम-क्रीड़ा करे या नहीं अथवा मैं करूं या नहीं, यह दूसरी बात है।

वैयक्तिक रूप में स्त्री के काम-भाव जानना—

साधक विचार करता है कि मैंने अबतक तो समष्टि के रूप में 'स्त्री के काम-क्रीड़ा के भाव' जाने है। अब मैं उसके वैय-क्तिक रूप में काम-क्रीड़ा करने के भाव जानना चाहता हूँ।

जब स्त्री मुझ से प्रेम-सम्बन्ध करेगी, व्यवहार करेगी और अपने को बारंबार मेरे समीप लाने का यत्न करेगी—उस समय उसमें अन्य किसी भी प्रकार के फल या उद्देश्य को प्राप्त करने की इच्छा न होगी, तो उस समय उसमें मुझसे काम-क्रीड़ा करने के ही भाव होंगे। क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी कर्म की ओर प्रवृत्त होता है, किसी न किसी उद्देश्य को लेकर। बिना

उद्देश्य का कर्म पागलों का होता है। जो व्यक्ति पागल नहीं है, उसका कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होगा। जब कि स्त्री सेवा, सहायता और सहानुभूति रखती है. करती है और उसका अन्य किसी भी प्रकार का) उद्देश्य नहीं है तो यही एक (काम-क्रीड़ा का) उद्देश्य बाकी रह जाता है और कहा जा सकता है कि अमुक स्त्री में मेरे से काम-क्रीडा करने का भाव है।

जब स्त्री में मेरे साथ काम-क्रीडा के करने का भाव होगा, तो वह उस सम्बन्धी भाव प्रकट करेगी। वह उसके सम्बन्ध में सीधे या लाक्षणिक रूप में वचनों या क्रियाओं से अपने भाव प्रकट करेगी। वह इस प्रकार बोलेगी, उन अंगों को बार बार देखेगी, उन अंगों को क्रियाशील करेगी, इस प्रकार से सचेष्ट होगी और इस प्रकार मनोरंजन करेगी कि जिससे मुझ में कामोत्तेजना के भाव प्रदीप्त हो।

स्त्री अपने काम-क्रीड़ा के भाव प्रकट करती हुई, इस प्रकार का कर्म कर सकती है या हो सकता है कि मुझे या पुरुष को उसके भाव का निश्चय करने में सन्देह या भ्रम भी हो जाए।

स्त्री के भाव जानने में चेतावनी —

पुरुष को स्त्री का उद्देश्य भली प्रकार से समझ लेना चाहिए क्योंकि उद्देश्य जानने में भ्रम या सन्देह हो जाया करता है। क्योंकि वह लक्षणों से जाना जाता है और अनेक

उद्देश्यों के लक्षण मिलते-जुलते होते हैं। इस लिये सम्यक् रूप में लक्षणों को देख, सुन और जानकर निर्णय करके उद्देश्य का निश्चय करना चाहिए। स्त्री के उद्देश्य के निश्चय करने के उपरान्त मुझे उससे अपने आदर्श या उद्देश्य की अनुकूलता देखनी चाहिए। तत्पश्चात् कर्म पूर्ति करना चाहिए, अन्यथा विरुद्ध फल के प्राप्ति की अधिक संभावना है।

उन्नीसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

साधक ने इस उन्नीसवें अध्याय में स्त्री के काम-क्रीड़ा के भाव जानने का यत्न किया है कि 'वह मुझ से काम-क्रीडा करना चाहती है या नहीं'। साधक ने निश्चय किया है कि 'स्त्री में मुझ से काम-क्रीड़ा करने के भाव है परन्तु वह मानुषिक बन्धन के कारण नहीं करने पाती'।

यदि स्त्री मुझ से काम-क्रीड़ा करने का निश्चय कर ले तो वह उसे अवश्य करे और उसके करने का भाव भी प्रकट करे, परन्तु वह मुझ से ऐसा करने का निश्चय ही नहीं करती। निश्चय न करने का कारण चाहे कुछ-भी हो। यह उसकी इच्छा के आधीन है। वह चाहे निश्चय न करे, परन्तु उसके अंत करण में काम-भावना है अवश्य ।

स्त्री मुझ से पडदा करती है और पृथक् रहती है। इससे भी स्त्री मे मेरे प्रति काम-भावना का अस्तित्व पाया जाता है।

ससार को देखने से, उनकी बाते सुनने से और पुस्तकें पढ़ने से भी ज्ञात होता है कि किसी भी स्त्री मे मेरे साथ काम-क्रीडा करने की इच्छा है परन्तु मेरे में शक्ति-गुण, उसकी अनुकूलता और कर्मों की पूर्ति होना आवश्यक है। यदि इन मे एक भी तत्व की कमी होगी, तो न-तो वह मुझ से काम-क्रीड़ा करेगी और न-हि उस सम्बन्धी भाव प्रकट करेगी।

स्त्री मुझ से अन्य किसी भी सुख या व्यवहार को ग्रहण कर लेती है और कर सकती है एवं उनके ग्रहण के भाव भी हैं, तो यह नहीं हो सकता कि वह मुझ से मैथुनादि सुख या उसके व्यवहार को न करे और उसके ग्रहण का भाव न हो। परन्तु वह किसी कारणवश न करे या भाव प्रकट न करे, यह दूसरी बात है।

वातावरण और स्वभाव के सिद्धान्त से भी स्त्री मे काम-क्रीड़ा' का भाव पाया जाता है।

उपरोक्त नवों आधारों से स्त्री मे मेरे साथ काम-क्रीडा रने के भाव पाये जाते हैं। यदि वह किसी कारणवश काम-ड़ न करे या मै न करूँ अथवा हम ऐसा करने के लिये असमर्थ हों यह दूसरी बात है।

(कर्मयोग)—

यह अध्याय कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखता है, क्योंकि इसमे कुछ मनोविज्ञान का वर्णन है। इसमें भाव का विषय कुछ खोलकर समझाया गया है। भाव की परिभाषा देकर, उसे छायाँवत् और उसका शरीर पर प्रभाव दिखाकर, छायाँ तथा भाव मे भिन्नता दिखाई है। साथ ही तात्कालिक और शृंखला जनित भाव के ये दो भेद भी बतलाये हैं।

इस अध्याय मे यह भी दिखलाया है कि दृढ़ता कर लेने के उपरान्त भी मनोवेग से मनुष्य किस प्रकार पछाड़ खाकर शोचनीय अवस्था मे प्राप्त होता है और वह, अपने को चारो ओर से निस्सहाय पाकर, क्षीण - खण्डित विचारों ही का आश्रय लेकर अपने विचार तथा कर्म-मार्ग पर अग्रसर होता है।

इस उन्नीसवे अध्याय मे यह भी बतलाया गया है कि हमे सुख-सुविधा पहुँचाने के दूसरो में भी भाव है। हम मे शक्ति-गुण, दूसरों की अनुकूलता और कर्मों की पूर्ति होनी चाहिए।

इस अध्याय में दूसरों के भावों के जानने का मार्ग-दर्शन भी कराया गया है। इन्हीं कारणो से यह उन्नीसवाँ अध्याय कर्मयोग से सम्बन्धित हो जाता है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रथ के उन्नीसवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

उन्नीसवॉ अध्याय समाप्त

शुभम्

बीसवां अध्याय

शक्ति का संचार होने पर मन और बुद्धि का कार्य आरम्भ—

साधक विचार करता है कि 'स्त्री का मेरे प्रति काम-क्रीड़ा का का भाव है।' यह—अत्यधिक परिश्रम करने के उपरांत—जानने के पश्चात् मस्तिष्क थक गया, मन का काम-वेग उतर गया और बुद्धि काम करने से रह गई। परन्तु कुछ काल बीतने पर मस्तिष्क में शक्ति का संचार हुआ। मैं मार्ग में चला जा रहा था और ऐसे स्थान पर पहुँच गया कि वहाँ स्नेह सिंचित किसी परिचित स्त्री के नेत्रों से सम्मिलन हुआ और मन वीणा के तार झंकृत हो उठे। मनोवेग प्रवाहित हो चला और अंतर्लीनित बुद्धि ने भी वहीं से अपना मन्द-मन्द कार्य उसके वेग को रोकने के लिये आरम्भ कर दिया।

प्रेयसी को छोड़कर स्वतन्त्र होने की भावना में अन्तःकरण का विलोडन—

पथिक विचार करने लगा कि मैं जिस मार्ग पर जा रहा हूँ,

उस पर इसे नहीं ले जा सकता। इसका साथ छोड़ना पड़ेगा और मुझे अपने मार्ग पर स्वतन्त्र होकर विचरना होगा। ऐसी अवस्था में इसके कोमल और स्नेह सिंचित हृदय मे एक कठोर तथा रूखी ठेस पहुँचेगी। जिस से यह तिलमिला उठेगी, घबरा जाएगी और यह सोचेगी कि यह क्या हुआ ? इस (पुरुष) ने मुझ से विश्वासघात क्यों किया ? क्या यह इतना स्वार्थी था कि मुझे मंझधार में छोड़कर, अपने उद्देश्य या स्वार्थ पूर्ति के लिये, चल दिया ? इस प्रकार यह बारंबार पश्चात्ताप करेगी, मुझे घृणापूर्ण दृष्टि से देखेगी और मुझे पतित हुआ जानेगी। यदि मैं इस व्यक्ति से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेती, तो भविष्य मे न जाने मेरी क्या दशा होती ? इस प्रकार पथिक अपनी प्रेयसी की मनोवृत्ति का चिन्तन कर रहा था कि उसके अतःकरण मे फिर विचार उठा कि क्या मैं ऐसा नीच हूँ ? क्या मै विश्वासघाती हूं ? क्या मै निरास्वार्थी हूँ ? ऐसा करना अत्याचार है। विश्वासघात करना पाप है। इस प्रकार से तो पतन के खड्ड मे धड़ाम से गिरना है। जिस मे गिरकर मेरी हड्डी-पसलिया चूर-चूर हो जाएंगी। अत मै विश्वासघाती नहीं बनना चाहता! केवल स्वार्थी नही होना चाहता और मझधार मे उसे नहीं छोडना चाहता!

विलोडन में बुद्धि का प्रकट होना—

उपरोक्त प्रकार से पथिक के अन्तःकरण मे मनोवेग प्रवा

हित होने लगा और उस प्रवाह ही में अंतर्लीनित बुद्धि प्रकट होकर आगे बढ़ती हुई उक्त प्रवाह पर नियंत्रण करती हुई उसे सुमार्ग पर लाने का यत्न करने लगी।

---

१. सत्पथ पर चलना और चलाना—

(१. साधक स्वयं को सत्पथ पर चलना चाहिए)—

पथिक विचार करता है कि मैं जिस मार्ग पर चल रहा हूँ या चलना चाहता हूँ, वह सत्मार्ग है। उसके छोड़ने मे मेरा कल्याण नहीं है। यदि मैं सत्मार्ग को छोड़ दूंगा, तो असत्मार्ग को अपनाऊंगा। जिसमे सबकुछ झूठा ही झूठा है, दुःख ही दुःख और नाश ही नाश है। मै जिस आवश्यकता को पूरी करने के लिये जिस कर्म को ग्रहण करूंगा, उसी मे असत्यता होगी—तो हमे वाञ्छित-फल की प्राप्ति कहां से होगी ? जहा वांछित-फल की प्राप्ति न हो, वहा धोखा ही धोखा होगा और पश्चात्ताप के अतिरिक्त वहा कुछ न निकलेगा। वहा सन्ताप तथा चिन्ता के अतिरिक्त और-कुछ न होगा। वहां जहाँ मानसिक क्लेश तो होगा ही, वहां शरीर भी रोगो से खाली न रहेगा। हम जिस वस्तु को लेंगे, वही वाञ्छित-गुण को प्रकट न करके विपरीत गुण को प्रकट करेगी। परिणाम यह होगा कि शरीर और अन्तःकरण अनेक भयंकर रोगों का घर हो जाएगा।

यदि मैं सत्पथ को अपनाऊंगा, तो उपरोक्त चिन्ता तथा सन्ताप से विमुक्त रहता हुआ निरोग रहूँगा और मुझे सदा वाञ्छित-फल की प्राप्ति होती रहेगी। जिससे मैं सन्तुष्ट रहता हुआ सुख, हर्ष और आनन्द से पूर्ण हूँगा।

यदि म सत्पथ को छोड़ दूंगा, तो इसका अर्थ यही होता है कि असत्पथ को ग्रहण करूँगा। जब मैं असत्पथ (कर्म) को ग्रहण कर लूंगा तो कोई भी अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, मुझ पर आक्रमण करने लगेगा और जीवन सामग्रियों का अपहरण करके मेरे जीवन को भयात्मक तथा दु:खात्मक बना डालेगा और मैं अपने किये हुये कुकर्मों पर स्वयं रोता रहूँगा। इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिये मुझे सत्पथ को ही अपनाना पड़ेगा। इस बिना मेरा उद्धार होना संभव नहीं है।

(२. प्रेयसी को सत्पथ पर चलाना)—

मेरी प्रेयसी मुझ पर लांछन लगाती है और मुझ पर दोषारोपण करती है कि "तू विश्वासघाती है, मंझधार में छोड़ने वाला है और केवल स्वार्थी है · ?" उसका कहना ठीक है परन्तु वास्तव मे देखा जाए तो ऐसा नहीं है। क्योंकि मै जिस पथ पर चल रहा हू,वह सत्य है। उस सत्पथ पर उसे भी साथ चल सकता हूं और भरसक उसकी सहायता करूंगा, परन्तु कर्म मे उसका साथ छोड़ना पडेगा। उस कर्म में उसका थ छोड़ने मे कोई आपत्ति भी न होनी चाहिए। क्योंकि

एक-तो हमारा एक-दूसरे के साथ असत् का व्यवहार होने से, चाहे-भी-जब आपस मे विरोध हो सकता है और दूसरे, एक-दूसरे को हानि पहुंचाने के लिये तैयार हो सकते हैं। उस अवस्था मे विश्वासघातकता का दोष भी आ सकता है, जो पहले नही प्रतीत होता । परन्तु सत्पथमे इन सब दोषों से मुक्त रहा जाएगा। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि सत्पथ मे चलने से, असत्पथ के सुखों को तिलांजली देनी पड़े। किन्तु साथ ही यह भी होगा कि सत्पथ के अनेक स्थायी सुखों की प्राप्ति हो सकती है और होगी।

(३. सत्पथ पर चलना और चलाना)—

यदि प्रेयसी को असत्कर्मो के सुखों को छोडना पडे तो कोई चिन्ता की बात नहीं, कोई उसके साथ विश्वासघातकता का दोष नहीं आ सकता, कोई मंजधार मे छोड़ना नही और कोई केवल स्वार्थता का दोष भी नहीं आ सकता। वरन् प्रेयसी ने जो दोष जाने है, वे ही सत्पथ में जाकर गुण रूप दिखाई देने लगेगे। इसीलिये सत्पथ पर चलना और चलाना चाहिए। यदि कोई उसे दोष रूप बताए, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। हमारे विचार की पुष्टि मे संस्कृत शास्त्र का एक प्रमाण भी मिल जाता है कि—

"न हि सत्यात्परो धर्मो
ना नृतात्पातकम् परम् ।
न हि सत्यात्परो ज्ञानम्
तस्मात् सत्यं समाचरेत् ॥"

इसका अर्थ यह है कि सत्य के बराबर धर्म नहीं है, झूठ के बराबर पाप नहीं है सत्य जान लेने पर उसके परे ज्ञान नहीं है इसलिये सदा सत्य का आचरण करना चाहिए।

उपरोक्त गुण-दोष और हानि-लाभादि पर विचार करने के उपरान्त इस निश्चय पर पहुंचा जाता है कि सत्य मार्ग ही से उद्धार होना सम्भव है और उसका ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। इसलिये सत्पथ पर चलना और चलाना चाहिए।

२, असत्मार्ग में प्रवृत्त न करना, यह भी एक प्रकार से सत्पथ पर ही चलाना है—

(१, प्रेयसी को सत्मार्ग में न ले चल सकने का कारण)—

साधक विचार करता है कि मैंने किसी स्त्री से प्रेम किया है या कर रहा हूं और सत्मार्ग में चलना चाहता हूं, परन्तु उस मार्ग में अपनी प्रेमिका को लेकर चल नहीं सकता, क्योंकि सत्मार्ग के कर्मों में किसी से कोई बात छुपा नहीं सकता। उसमें नहीं छिपने से मेरे कर्म सब लोगों को ज्ञात हो जाएंगे। वे

कर्म या व्यवहार उन्हे अप्रिय होंगे, इस लिये मैं सत्पथ के कर्मों में अपनी प्रेयसी को अपने साथ नहीं ले चल सकता।

(२. असत्मार्ग में प्रवृत्त न करना, यह भी एक प्रकार से सत्पथ पर ही चलाना है)—

—और मुझे अपने सत्पथ के कर्मो को अपनाना है। ऐसी अवस्था मे यही हो सकता है कि मै अपनी प्रेयसी को असत्मार्ग के कर्मों मे प्रवृत्त न करू। असत्कर्मो मे प्रवृत्त न करना, यह भी एक प्रकार से सत्पथ पर ही चलाना है। क्योंकि उसे कुकर्म मे तो प्रवृत्त न करूंगा ? यदि अपने लिये सत्कर्म करने मे, उसका साथ न दूंगा तो इसका परिणाम यह होगा कि मेरा उसके साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाएगा। जब मेरी उसको किसी भी प्रकार की सहायता न मिलेगी, तो वह अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिये स्वयं प्रवृत्त होगी। यदि उसे अन्य कुकर्म-संचालक न मिला, तो वह बहुत-कुछ सत्पथ पर चलकर सत्कर्म सम्रहिता बन जाएगी। जो कर्म उसे, समय-असमय पर उदय होकर उन्नत चरित्र और यश का भागी बनाते हुए, हर्ष तथा आनन्द से पूर्ण करेंगे।

आरम्भ मे जब कि मैं अपनी प्रेयसी का साथ न दूंगा, तो न-जाने वह मेरे को कितने-कितने उलहाने दे ? न-जाने वह कितना कोसे ? न-जाने वह कितना लाञ्छन लगाए ? परन्तु

परिणाम उसके लिये लाभकारी ही होगा। वह चाहे मेरी सद्भावना को न समझे, परन्तु उससे उसे लाभ तो होगा ही। वह चाहे मेरे कर्तव्य-कर्म को न समझे, किन्तु मैं अपने कर्तव्य-कर्म का पालन कर रहा हूं।

अत यदि मैं अपनी प्रेयसी को सत्पथ के कर्म में साथ नहीं दे सकता तो उसे असत्मार्ग मे प्रवृत न करना भी, एक प्रकार से सत्मार्ग पर ही चलाना है।

---

३. दोष को त्यागने में समय और क्रम की आवश्यकता नहीं—

(१. दोष का स्वभाव दुःख देना और पतन करना है)—

दोष चाहे शरीर का हो या मनका, वह-तो दु ख देता ही है। उसका स्वभाव ही दु ख देना है, तो वह सुख कहा से देगा ? दोष उसके कर्ता को तो दु ख देता रहता ही है, साथ ही वह अन्य लोगों के दु.ख का भी कारण बन जाता है।

—शरीर का दोष—अनेक रोग उत्पन्न करके, पीडित करता हुआ इन्द्रियों को निर्बल बना देता है। जिससे शरीर कर्म करने मे असमर्थ बन जाता है।

—मानसिक दोष--अन्त करण मे अनावश्यक, अनियन्त्रित और असार्जित भाव उत्पन्न करके—भ्रम, संदेह और क्लेश

उत्पन्न करता है। साथ ही वह चरित्र में भ्रष्टता भी ले आता है। जिससे कर्ता का तो पतन होता ही है, साथ ही उसके प्रति दूसरों में भी घृणा और क्षोभ आदि विकार उत्पन्न कर देता है। ऐसे दोष को त्यागने मे संकोच नही करना चाहिए।

(२. दोष त्यागने में कठिनाई और उपाय)—

—परन्तु दोष का त्यागना कोई सरल काम नही है। यदि साधारण दोष हो, वह-तो, युक्त (सत्य) उपाय होने पर कुछ कठिनाई के साथ, दूर हो सकता है। परन्तु जिस दोष ने अपना स्थान बना लिया है, उसको उस स्थान से निकालना कोई साधारण बात नहीं है। उसे निकालने के लिये निरंतर तथा दृढ़ता से सत्य या युक्त यत्न करना पड़ेगा, तब जाकर वह अपने स्थान से धीरे-धीरे हटेगा। यदि उस दोष ने अपने परिपोषक तत्त्वों को अपने चारों ओर दृढता से स्थापन कर लिया है, तो संभव है कि उसे दूर करना मनुष्य की शक्ति से बाहर हो जाए और वह मनुष्य को, अत्यन्त पीड़ित करता हुआ, सर्वनाश के मुख में डाल दे। अतः साधक को चाहिए कि जब दोष शरीर या मन (या समाज या राष्ट्र) में प्रवेश करे तभी से उसे निकालने का यत्न करना चाहिए। उसे अपना घर न बनाने देना चाहिये। यदि वह अपना घर बनाले, तो दृढ़ता से निरंतर सत्य या युक्त प्रयत्न करना चाहिए।

(३. दोष को त्यागने में समय और क्रम की आवश्यकता नही)—

कर्म करने मे समय और क्रम की आवश्यकता हुआ करती है कि किस समय क्या-कर्म करना चाहिए और उसे किस प्रकार करना चाहिए ? इसका सम्यक् तथा विस्तृत रूप मे निश्चय करना प्रत्येक मार्ग-दर्शक आचार्य का काय है और प्रत्येक कर्म-कर्ता या दोष निकालने वाले को भी कुछ-न-कुछ या अधिक रूप मे स्वयं निश्चय करना पड़ेगा।

समय का अर्थ परिस्थिति का भी लिया जा सकता है। हमारे "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र में दोष को दूर करने तथा सत्य को प्राप्त करने के लिये परिस्थिति और क्रम दोनों का सम्यक् प्रकार से वर्णन कर दिया गया है। उसी के अनुसार साधक को अपने दोष दूर करने चाहिए। यदि वह किसी कारणवश समय या क्रम का पालन न कर सके और ऐसा अवसर आ जाए कि बिना समय और बिना क्रम के ही दोष दूर होता हो, तो उनके बिना ही दोष छोडने मे संकोच नही करना चाहिए।

---

४. सब स्त्रियाँ मुझे छोड़ देती हैं तो मुझे भी उन्हें छोड़ने में संकोच क्या ? —

साधक विचार करता है कि मैं देखता हूँ कि अनेक स्त्रियां मुझ से प्रेम करती हैं और मै उनसे प्रेम करता हूँ या करना चाहता हूँ, परन्तु जब तब स्त्रियां यह देखती हैं कि उनका-अपना-स्वार्थ अन्य पुरुष से अधिक सिद्ध होता है तो वे मुझे छोड़ देती हैं। अथवा जब वे यह देखती हैं कि मुझ मे कुछ चरित्र दोष आ गया है, तो वे उसका बखान करने लगती है। साथ ही जब भी उनका मन चाहे, मुझ पर आक्रमण भी करने लगती है। जब-कि उनकी ऐसी स्थिति है, तो मुझे भी अपने सुख-आनन्द की प्राप्ति और सत्य चरित्र के उत्थान के लिये यत्न करना चाहिए। उस यत्न मे जब मैं सत्पथ पर चल रहा होता हूं या उस पर चलना चाहता हूँ और उस मार्ग में स्त्री बाधक है, तो मुझे उग्र उस बाधा को हटा देना चाहिए। अर्थात् स्त्री को छोड़ देना चाहिए। जबकि सब स्त्रियां अपने प्रयोजन सिद्धि के लिये मुझे छोड़ देती है, तो मुझे भी सत्कर्म संग्रह करने के लिये स्त्री को छोड ने में संकोच क्या है ..?

सत्यासत्य कर्म की परिभाषा —

अब यह जानने की आवश्यकता है कि दोष किसे

सत्य या युक्त उपाय (कर्म) किसे कहते हैं ? इनका इस अध्याय के अतिरिक्त अन्य अध्यायों में भी जहाँ-तहाँ वर्णन है। इनके ज्ञान बिना दोष को दूर करना असम्भव-सा है।

(१. दोष या असत्कर्म की परिभाषा)—

जो दृष्ट या अदृष्ट वस्तु और क्रिया आदि शरीर या अन्तःकरण में उत्पन्न हो या प्रविष्ट होकर वेदना, असमर्थता या शक्ति के बाहर समर्थता की प्रतीति उत्पन्न करे अथवा दोनों को एक साथ उत्पन्न करे। अथवा जो अंतःकरण में चिन्ता शोक, जड़ता और क्षोभ आदि उद्वेग उत्पन्न कर के शांति और निश्चयता को भंग कर दे — वह दोष या असत्कर्म कहलाता है।

जब मनुष्य असत्कर्म बराबर करे चला जाए या ऐसी प्रणाली को असत् कर्म-मार्ग कहा जाएगा।

यह दोष की परिभाषा है परन्तु पूर्ण परिभाषा करना अत्यंत कठिन है। अपने उद्देश्य पूर्ति या आवश्यकता पूर्ति के लिये परिभाषा करना अत्यावश्यक हो जाता है। इसलिये सर्वांगपूर्ण न होने पर भी उसे दिखा दिया गया है। अतः सरल वाक्य में कहा जाए कि दोष क्या है तो कहा जाएगा कि—

'जो हमें सत्य से विमुख करे, वही दोष है'।

(२. सत्य कर्म या युक्त उपाय की परिभाषा)—

सत्य कर्म या युक्त उपाय उसे कहना चाहिए जिन कर्मों

से उक्त वेदना आदि दोष दूर हों। अथवा जिन कर्मों से सत्य की प्राप्ति होकर चिन्ता, शोक और क्षोभ आदि विकार दूर हो जाएं; एवं अंतःकरण में शांति और निश्चयता आजाए।

बीसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस बीसवें अध्याय में यह वर्णन किया गया है कि जब साधक सत्मार्ग पर चलता है या चलना चाहता है तो प्रेयसी का प्रेम, लाछन और फटकार आदि उसे उस मार्ग पर चलने से रुकावट डालते हैं। परन्तु भली प्रकार से विचार करने के पश्चात् वह इस परिणाम पर पहुचता है कि —

सत्य-मार्ग ही से उद्धार होना संभव है और उसका ग्रहण करना नितांत आवश्यक है। प्रेयसी के मुख पर जो दोषारोपण हैं, वे केवल रागात्मक हैं। वास्तव मे मेरे सत्मार्ग पर चलने से उसका भी लाभ ही है। वह मेरे असत् व्यवहार और अनेक हानियो से छूट जाएगी। उसे अनेक स्थायी लाभ भी हो सकते हैं और इसके साथ ही उसके भी सत्कर्म-संग्रहिता बनने की बहुत कुछ सभावना है।

यह निश्चय करके साधक अपनी प्रेयसी को असत्मार्ग में प्रवृत्त न करना भीअपना अपनी-प्रेयसी के प्रति कर्त्तव्य समझता है। साथही अपने दोष त्यागने मे कठिनाईका भी अनुभव करता

है। परन्तु वह धैर्य रखता हुआ, उसके दूर करने का उपाय भी जान लेता है। अंत मे साधक इस निश्चय पर पहुंचता है कि जब कि समस्त स्त्रिया अपने-अपने स्वार्थों को प्राप्त करने के लिये मुझे छोड़ देती हैं, तो मुझे भी चाहिए कि सत्कर्म संग्रह करने के लिये मै भी उसे छोड़ दूं।

(कर्मयोग)—

यह वीसवां अध्याय कर्मयोग से भी सम्बन्ध रखता है। जिसका ज्ञान इसके शीर्षकों ही से हो जाता है। इस अध्याय में दोष या असत्कर्म और सत्कर्म या युक्त उपाय के लक्षण भी दिये है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के वीसवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

वीसवां अध्याय समाप्त

शुभम्

———

इक्कीसवां अध्याय

साधक का आनन्द-प्राप्ति की लालसा में समय व्यतीत करना—

साधक "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" के बीस अध्याय समाप्त करके इक्कीसवे अध्याय मे प्रवेश कर रहा है। वह विचार करता है कि — मै चाहता हूँ कि मुझे सुख हो। मेरा समय आनन्द से व्यतीत हो। मै जिस वस्तु में सुख जानता हूं, उस ओर आकर्षित हो जाता हूं और उसे पाने के लिये दौड़ता हूँ। जब वह नहीं मिलता तो निराश होकर अपने किये हुए कर्मों पर पश्चात्ताप करने लगता हूँ कि मैंने जो किया व्यर्थ ही किया। यदि मै दूसरी प्रकार से कर्म करता तो मुझे सुख की प्राप्ति हो जाती! मुझे, उस वस्तु की प्राप्ति हो जाती, जिस मे आनन्द है।! जिसको पाने के लिये मै छटपटाता हूँ, दीन होता हूं और दोषी बनता हूं। इस प्रकार मै सुख या आनन्द के प्राप्ति की लालसामे अपना समय व्यतीत करता हूं।

रोकक न होने पर नव-उत्फुल्ल-यौवना की ओर आकर्षित हो ही जाना—

जब मैं अपना सुख या आनन्द स्त्री मे देखता हूँ तो मुझसे उस ओर झुके बिना नहीं रहा जाता। यदि किसी नवउत्फुल्ल-यौवना को देख लेता हूँ, तब - तो वह मुझे अपने सुख तथा आनन्द का केन्द्र प्रतीत होने लगती है। उस समय मैं उस ओर उसकी प्राप्ति के लिये आकर्षित हुये बिना कैसे रह सकता हूं ··? उस समय मुझ से, उस ओर से, रुकना असंभव है। यदि मैं देखता हूं कि मुझे कोई रोकने वाला नहीं है, तो मैं उस ओर प्रवृत्त हो ही जाता हूँ। मेरी वह क्रिया चाहे उचित हो या अनुचित, न्याय युक्त हो या अन्याय युक्त अथवा स्वर्ग में ले जाने वाली हो या नरक में — मुझे इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं ·। मुझे तो केवल प्रयोजन है सुख से, आनन्द से ·? वह जिस प्रकार से भी हो, प्राप्त कर लेना चाहिए। परन्तु चाहने से या प्रवृत होने से कुछ नही होता। जब तक विधि मे सब प्रकार के कर्मों की परिमाण मे पूर्ति न की जाए, तब तक इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है। व्यर्थ ही व्यर्थ नहीं, अन्य सब सुखो को भी व्यर्थ क्षीण तथा नष्ट करना है।

साधक का अपने विचारों की कुछ पुनरावृत्ति करना और अग्रसर होना—

अपनी विचार धारामे चलते हुये, मैंने सुख और आनन्दको प्राप्त करनेके लिये यह विचार किया कि स्त्रीमें सुख है या नही। उसमें सुख है या दुःख अथवा अमृतहै या विष। विचारोपरांत यह सिद्ध हुआ कि मुझे कुछ ज्ञान नहीं। परन्तु संसार कामोपभोग करके आनन्द का अनुभव करता है। इसलिये मैंने भी विचार किया कि मैं भी उसी मार्ग पर चलूं। मैं ने देखा कि वांछित-वस्तु कर्मों की पूर्ति करनेसे प्राप्त होगी और उनकी पूर्ति कर्म-संग्रहसे होगी। कर्म करते हुये लक्ष्य स्थापित करना होगा। जबतक पूर्ति न होगी तब तक कामवेग को सहन करना पडेगा। सहन करनेके उपायों पर भी विचार किया गया है। किस प्रकारके कर्मों मे पूर्ति करनी चाहिए तथा किस प्रकार के कर्मों मे नही। और उसके लिये किस प्रकार के कर्म ग्राह्य हैं तथा किस प्रकार के त्याज्य हैं। यह भी देखा गया है कि मन किस-किस प्रकार स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त होता है और किस-किस प्रकार उसे वश मे किया जा सकता है। इत्यादि अनेक बातो को बहुत गंभीरता के साथ विचारा है, फिर भी मन स्त्री या काम-क्रीडा की ओर निकल जाता है। वह रोकने से नही रुकता, तो विचार उठता है कि अब मनोवेग क्यो प्रबल हुआ है ? अब वह भागीरथ परिश्रम को क्यों धूल मे मिलाता है ? अब वह मेरे

विचारों को क्यों असत् ठहराता है ···? इसका कारण क्या है ··? इस प्रकार चिन्तन करते-करते ध्यान में आया कि 'क्या जीवन मे कामोपभोग करना ही है ··?' जो समस्त ज्ञान को, समस्त परिश्रम को, समस्त आशा और विश्वास को व्यर्थ किये डालता है। अत अब इसी तत्व पर विचार करना है कि 'क्या जीवन का उद्देश्य कामोपभोग करना है?'

---

१. क्या जीवन का उद्देश्य कामोपभोग करना है?—

(पूर्व बालावस्था)—

मनुष्य अपनी पूर्व-बालावस्था मे होता है, उस समय वह काम-क्रीड़ा के नाम को भी नहीं जानता। वह अपनी पूर्व की अवस्था खाने, पीने और क्रीड़ा मे ही व्यतीत करता है। उस समय उसे कामोपभोग की इच्छा से स्त्री आनन्दमय प्रतीत नही होती। उसे-तो वही अच्छा लगता है और वह उसी को चाहता है, जो उसे अच्छा या मन चाहा खानेको दे, मन चाहा पीने को दे, और मन के अनुसार क्रीड़ा करने दे। उस अवस्था मे पुरुष काम-क्रीड़ा के लिये छटपटाता नहीं। काम-विषय प्राप्त होने पर भी वह—बिना कष्ट के, सरलता से और ऐसी सरलता से, जो उसे प्रतीत भी न हो—स्त्री का परित्याग कर देता है। उस समय उसकी अवस्था काम-क्रीडा

के बिना ही आनन्दमय बीतती है, अर्थात् पुरुष अपनी पूर्व-बालावस्था में न काम-क्रीड़ा करता है, न उसको उसके करने की इच्छा होती है और न-हि वह उसके लिये छटपटाता है।

यदि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना होता, तो पुरुष पूर्व-बालावस्था में भी करता। परन्तु उस समय उसे इच्छा भी नहीं होती। अतः कहा जा सकता है कि 'जीवन का उद्देश्य कामोपभोग करना नहीं है'।

(उत्तर-बालावस्था)—

बालावस्था के पिछले भाग में मनुष्य संसार का अध्ययन करने लगता है। वह किसी विषय का विशेषज्ञ बनने की इच्छा करने लगता है, अर्थोपार्जन करने का चिन्तन करने लगता है और उसके अन्तःकरण में काम-क्रीड़ा करने के संस्कार बढ़ने लगते हैं, जो पहले ही से पड़े हुये होते हैं। परन्तु वह काम-क्रीड़ा के बिना भी आनन्द से समय व्यतीत करता है और खेल-कूद, हँसी तथा अध्ययन में ही अपना समय बिताता है। वह प्राय स्त्री को पाने तथा उसके साथ काम क्रीड़ा करने के लिये व्याकुल नहीं होता।

यदि जीवन का उद्देश्य स्त्री-सेवन और कामोपभोग करना ही होता तो उत्तर-बालावस्था में भी करता। परन्तु नहीं करता है, इससे सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना नहीं है'।

(यौवनावस्था)—

उत्तर बालावस्था को पार करने के उपरान्त यौवन की अवस्था आती है। इस अवस्था मे शरीर के समस्त अंग सुन्दर, सुडोल और दृढ़ होते हैं। यह अवस्था अपने को सुन्दर बनाने मे तत्पर होती है। इस अवस्था मे पुरुष को स्त्री-सेवन और उसके साथ काम-क्रीडा करने की तीव्र पिपासा हो जाती है। वह उसके बिना व्याकुल हो जाता है। वह उन्हे उचित और अनुचित उपाय से प्राप्त करना चाहता है। वह चाहता है कि मै दिन-रात काम-क्रीड़ा करता रहूं और मेरा एक क्षण भी उसके बिना न बीते। परन्तु जब उसका विवाह हो जाता है, तो वह दिन-रात काम-क्रीड़ा नही करता। वह २४ घण्टों मे कुछ ही समय काम-क्रीडा का बिताता है। बाकी का समस्त समय अर्थोपार्जन, खाने-पीने और सोने आदि मे व्यतीत करता है। यदि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा ही करना होता तो पुरुष (मनुष्य) दिन-रात काम-क्रीड़ा ही करता रहता परन्तु वह ऐसा नहीं करता. इससे सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा करना नही है'।

यौवन अवस्था मे जब पुरुष के साथ स्त्री हो जाती है तो उसे अर्थोपार्जन करने की इच्छा हो जाती है। यदि जीवन निर्वाह के लिये उसके पास धन नहीं हुआ, तो वह उसके उपार्जन मे लग जाता है। इस उपार्जन मे उसे अपनी प्रेयसी

से पृथक् होना पड़ता है। यह पृथकृता दिनों, महीनो और वर्षों की भी हो जाया करती है। इस अवसर में मनुष्य को काम-क्रीड़ा से पृथक् रहना पड़ता है। उसे उसके करने की इच्छा होने पर भी, नहीं कर सकता। इस दूसरे उदाहरण से भी सिद्ध हो जाता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना नहीं है'। यदि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना होता तो स्त्री-पुरुष उक्त रूप में पृथक् नही होते परन्तु होते है और साथ ही काम-क्रीड़ा करने से भी रहित होते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा करना नहीं है'।

जब पुरुष अपनी स्त्री से जितने काल के लिये पृथक् होता है, उस काल में उसे अनेक स्त्रियाँ मिलती हैं। जो काम-क्रीडा के लिये सम्पन्न शरीर को रखती हैं परन्तु पुरुष की इच्छा होने पर भी वह उन से काम-क्रीड़ा नहीं कर सकता क्योंकि उसका विवाह हो चुका है और उनसे हुआ नही है। यदि वह उनसे काम-क्रीड़ा करनेकी चेष्टा करता है तो उसकी बुरी अवस्था होती है। वह गाली खाता है, पिटता है और धिक्कारा जाता है। जिससे उसे अपने किये हुये पर पश्चात्ताप करना पड़ता है। अत सिद्ध हो जाता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा करना नहीं है।

अब यौवन अवस्था का चौथा उदाहरण लीजिए। जब

पुरुष या स्त्री दोनों में से एक रोगी हो जाता है, तो-भी कामोपभोग नहीं किया जाता। दूसरे काम-क्रीड़ा करते-करते पुरुष क्षीण होता रहता है। इस क्षीणता से उसे असमर्थता आ जाती है और वह काम-क्रीड़ा करने से रहित हो जाता है। तीसरे अनेक लोग काम-क्रीडा करने के उपरान्त पश्चात्ताप करते हुये पाये जाते हैं। इन उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना नहीं' है।

जब मनुष्य के सन्तानें हो जाती है तो उसका समय उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और रोगावस्था में शुश्रुपा में बीतता है। साथ ही उसे सामाजिक कार्य और राज नियम आदि अधिक घेरे रहते हैं। इत्यादि कार्यों के कारण उसे काम-क्रीड़ा करने का अवसर बहुत कम मिलता है। इन बातों से ज्ञात होता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा करने का नहीं है'। यदि उसका यह उद्देश्य होता तो उसे इस प्रकार अनवसर नहीं मिलता।

यौवनावस्था के पाँचों परिच्छेदों से ज्ञात होता है कि 'जीवन का उद्देश्य कामोपभोग करना नहीं है'।

(वृद्धावस्था)—

वृद्धावस्था में वल क्षीण हो जाता है, इन्द्रियों की शक्ति घट जाती है और पुरुष की काम-क्रीड़ा करने की इन्द्रिय शिथिल पड़ जाती है। परिणाम यह होता है कि वह काम-

क्रीड़ा करने से रहित हो जाता है। यहां भी यही सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना नहीं है'।

उपरोक्त विस्तृत विवेचना के उपरांत इस परिणाम पर पहुँचा जाता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना नहीं है'।

२. क्या जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा को त्यागना है ?—

जब कि जीवन का उद्देश्य कामोपभोग करना नहीं है, तो क्या जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ाको त्यागना है ? यदि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा को त्यागना होता, तो मनुष्य लाख यत्न करके भी उसे प्राप्त करने का उद्योग नहीं करता ? परन्तु वह प्रत्येक संभव और असंभव उपायों को उसे प्राप्त करने के लिये काम मे लाता है। वह उसे प्राप्त करने में उचित और अनुचित, न्याय-अन्याय और अन्य किसी की हानि-लाभ भी नहीं देखता। इस से ज्ञात होता है कि 'जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा के त्यागने का भी नहीं है'।

जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा के ग्रहण का भी नहीं और त्याग का भी नहीं है, तो फिर जीवन का उ... क्या है ..?

३. जीवन का उद्देश्य क्या है?—

जबकि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा के ग्रहण का भी नहीं है और त्याग का भी नहीं है, तो प्रश्न उठता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है ?

(जीवन का उद्देश्य है कर्तव्य करना)—

उपरोक्त "क्या जीवनका उद्देश्य कामोपभोग करना है ?" और "क्या जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा को त्यागना है ?" इन दोनों शीर्षकों के विषयों को अध्ययन करने के उपरांत ज्ञात होता है कि—

—(कर्तव्य का अर्थ)—जीवन मे काम क्रीडा का ग्रहण और त्याग दोनों है और दोनों ही मनुष्य को करने पड़ते है। यह 'करना' ही कर्तव्य कहलाता है।

—(२, कर्तव्य करना अनिवार्य)—मनुष्य कर्तव्यपालन स्वेच्छा से करे तो स्वेच्छा से, नहीं तो परेच्छासे अर्थात् प्रकृति वश होकर करना पड़ता है। करना पडता है अवश्य। इसके बिना कोई रह नहीं सकता। मनुष्य यदि स्वेच्छा से कर्तव्यपालन करेगा तब तो उसे सुख, शांति और आनन्द मिलेगा। यदि वह प्रकृतिवश अर्थात् विवश होकर करेगा तो उसे दुःख, अशांति और पश्चात्ताप को पाना पड़ेगा। अतः मनुष्य को चाहिए कि कर्तव्य पालन स्वेच्छा से करे।

—(३. जीवन का उद्देश्य कर्तव्य करना है)— जबकि जीवन में काम-क्रीड़ा का ग्रहण और त्याग दोनों हैं और दोनों ही करने पड़ते हैं, तो दोनों ही करने चाहिए। यह 'करना' या 'कर्तव्यपालन' ही जीवन का उद्देश्य है।

कर्तव्य पालन का मार्ग

अब प्रश्न उठता है कि जब कि जीवन का उद्देश्य यह 'करना' या 'कर्तव्यपालन' है, तो यह किस मार्गसे किया जाए ?

कर्तव्यपालन का सिद्धांतिक मार्ग—

यदि 'करने' या कर्तव्यपालन' को मनमाने, अव्यवस्थित और अलक्ष्य रूप में किया जाए तो उसका फल-भी न-जाने कब, किस प्रकार का और कितने परिमाण में प्राप्त हो ? या यों कहना चाहिए कि 'करने' (कर्म) या 'कर्तव्यपालन' का फल अव्यवस्थित और अवांछित प्राप्त होगा। अकस्मात् ही वांछित और व्यवस्थित फल प्राप्त हो। जबतक वांछित तथा व्यवस्थित फल प्राप्त न हो; तबतक सुख,शांति और आनन्द कहां ··? अतः वांछित, व्यवस्थित और आनन्दप्रद फल पाने के लिये सोद्देश्य, व्यवस्थित और सत्य या युक्ति-से युक्त कर्म-मार्ग की आ कता है।

आचार्यों और देश-काल आदि की पृथकता से कर्तव्य मार्ग की भिन्नता—

कर्तव्य-मार्ग का भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न देश में उत्पन्न होने वाले आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप मे निर्माण किया है। जिसका निर्माण करना सर्व-साधारण जनता का कार्य नहीं। सर्व-साधारण जनता तो आचार्यों द्वारा निर्मित कर्म या कर्तव्य-मार्ग पर ही चल सकती है या कर्तव्यपालन कर सकती है। यह हो सकता है कि आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग मे दोष रह जाएं, क्योंकि वे भी मनुष्य ही हैं। उन मे भी मानव स्वभाव होता है। उस स्वभाव को वे नही छोड़ सकते। दूसरे, कर्म-मार्ग का बनाना देश, काल, आवश्यकता और परिस्थिति आदि के अनुसार होता है। यदि उनमे अतर हो तो उस मार्ग को अपनाने मे दोष आ जाएगा और वाछित, व्यवस्थित तथा आनन्द-प्रद फल के प्राप्ति के स्थान पर विपरीत फल मिलेगा। अत. देश, काल, आवश्यकता और परिस्थिति आदि के अनुसार कर्म-मार्ग का बनना और अपनाना अत्यावश्यक है।

इस ग्रंथ में भी कर्तव्य मार्ग—

इस ग्रंथ मे भी काम-क्रीड़ा के विषय मे कर्म-मार्ग निश्चित किया गया है और अन्य विषयों मे भी यह मार्ग पर्याप्त लाभ-प्रद तथा सुविधाजनक है। अत इस ग्रंथ के अनुसार कर्म

करने या कर्तव्यपालन से मनुष्य वांछित, व्यवस्थित और आनन्दप्रद फल को प्राप्त होगा।

इस ग्रंथ सम्बन्धी साधक को आवश्यक सूचनाएं—

यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथ में वर्णित मानसिक ब्रह्मचर्य के समस्त नियम है या वे पूर्ण है। बहुत-कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अनेक शंकाएं और उनके समाधान छूट गये है। फिर भी साधक इस ग्रन्थ के नियमों का साधन करने से इस अवस्था को पहुँच जाएगा कि उसकी अपनी निजी शंकाएं हुई, तो वह स्वयं समझले और उनका समाधान कर ले। यदि वह आवश्यकता समझे, तो किसी महापुरुष या अन्य ग्रंथ से भी सहायता ले सकता है। अन्त मे यह कह देना आवश्यक है कि यह ग्रंथ मानसिक ब्रह्मचर्य सम्बन्धी है और हमारा मुख्य विषय भी यही है। अतः मन से ब्रह्मचर्य करने के लिये इस ग्रन्थ में वर्णित तत्वों की साधना करनी चाहिए।

कर्तव्य करते हुए काम-क्रीडा कर लेना—

कर्तव्यपालन करते-करते यदि काम-क्रीडा प्राप्त हो तो उसे कर लेना चाहिए और जो अप्राप्त हो तो उसे सरलता से, बिना कष्ट के तथा निर्मम होकर त्याग देना चाहिए। जिस काम-क्रीडा

के ग्रहण और त्याग का नियम इस ग्रन्थ में वर्णन कर दिया गया है।

जीवन के उद्देश्य पर अनेक उदाहरण

काम-क्रीड़ा के प्रसंग मे यह वर्णन कर आया हूं कि "जीवन का उद्देश्य करना या कर्तव्यपालन है"। परन्तु यह एक विषय में सिद्ध हुआ है, अन्य विषयों मे सिद्ध करने का यत्न नहीं कियागया। एक ही विषयमे यह विषय सिद्ध होनेसे अन्तःकरण मे भाव परिमार्जित और पुष्ट होकर स्थिर नहीं होने पाता। इसे परिमार्जित और पुष्ट करने के लिये अन्य विषयों मे भी सिद्ध करना चाहिए।

१. अर्थोपार्जन—

(१. मनुष्य का धनोपार्जन मे अपने को खपाना)—

धन मनुष्य के जीवन मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इससे मनुष्य भाग्यवान समझा जाता है। इस साधन से वह अपने जीवन की समस्त आवश्यक सामग्री संग्रह कर सकता है। इसलिये मनुष्य अपने जीवन मे धन को सबसे अधिक महत्व देता है और इसके उपार्जन में वह अपना तन, मन और धन खपा देता है। वह दिन-रात परिश्रम करके, खून-

पसीना एक कर, चिन्ता-सागर में गोते लगा और अनेक रोगों से ग्रसित होकर धन के सचय करने मे जुटा रहता है। क्योंकि वह अर्थोपार्जन को ही जीवन का उद्देश्य मानता है। इस उपार्जन में वह न्याय-अन्याय और उचित-अनुचित आदि कुछ भी नही देखता। अब यह देखना है कि 'क्या जीवन का उद्देश्य अर्थोपार्जन करना है ..?'

(२. क्या जीवन का उद्देश्य अर्थोपार्जन करना है ?)—

यदि जीवन का उद्देश्य अर्थोपार्जन करना ही है तो अनेक ऐसे जीवन हैं, जो अर्थोपार्जन नही करते और नहीं कर सकते। उनका जीवन धन के अभाव से दुखी रहता है। वे अपने कपड़ों, औषधियों और पौष्टिक अन्न आदि के बिना संसार से विदा हो जाते है। उनका जीवन तड़फ-तड़फ कर व्यतीत होता है। यदि जीवन का उद्देश्य अर्थोपार्जन होता तो वह प्रकृति की ओरसे अवश्य सम्पन्न होता। परन्तु ऐसा होना आवश्यक नही है, इसलिये सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य अर्थोपार्जन करना नहीं है'।

यदि जीवन का उद्देश्य अर्थोपार्जन होता तो अनेक राजा-महाराजा, सेठ और सम्पन्न व्यक्ति अर्थोपार्जन की प्रक्रिया को छोड़ कर भगवद्भजन या देश-भक्ति आदि क्यों करते ? और-तो-क्या धन को तो वे अपने जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति

में बाधा रूप जानते हैं, उससे घृणा करते हैं। यदि जीवन का उद्देश्य धनवान होना ही होता, तो वे धन को क्यों त्यागते ? परन्तु जीवन का उद्देश्य प्रकृति की ओर से धनवान होना नहीं है, अर्थोपार्जन करना नहीं है—इसलिये ही अनेक सज्जन धनका परित्याग कर देते हैं। तो क्या जीवन का उद्देश्य धन का परित्याग करना है''?'

(३, क्या जीवन का उद्देश्य धन का परित्याग करना है ?)—

यदि जीवन का उद्देश्य धन का परित्याग करना होता तो करोड़ों ऐसे व्यक्ति, सज्जन, विद्वान्, महात्मा और राजा-महाराजा पाये जाते हैं; जो धन का संचय करते रहते हैं। यदि जीवन का उद्देश्य धन का परित्याग करना होता, तो धनोपार्जन का कार्य क्यों होता ''? होना है, इस लिये सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य धन के संचय करने का परित्याग करना भी नहीं है' ।—

(४. क्या जीवन का उद्देश्य धन का ग्रहण और त्याग दोनों हैं ?)—

—तो जीवन का उद्देश्य क्या है'' ? न-तो धन का संचय करना है और न उनका परित्याग करना है। परन्तु जीवन में दोनों ही होते हैं। तो क्या दोनों ही को जीवन का उद्देश्य

माना जाए'' ? यदि दोनों ही को उद्देश्य माना जाएगा तो परस्पर विरोध हो जाएगा, जो युक्त या सत्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि किसी के जीवन मे धन संग्रह ही होता रहता है और किसी के जीवन मे धन का परित्याग रहता है। यहाँ दोनों संग्रह तथा परित्याग एक साथ-साथ नहीं है, इस लिये दोनों जीवन के उद्देश्य नहीं हो सकते। दूसरे, एक ही जीवन मे मनुष्य अपने जीवन का उद्देश्य अर्थोपार्जन बना लेता है और उसी जीवन में अपना उद्देश्य, धन को बाधक जानता हुआ, परित्याग का बना लेता है। इससे सिद्ध हुआ कि वास्तव मे जीवन का उद्देश्य धनोपार्जन और परित्याग दोनों नहीं हैं।'

केवल 'करना' या 'कर्तव्य पालन करना' यह तो प्रत्येक मनुष्य को करना पड़ता है, उसका चाहे कैसा-भी उद्देश्य हो और वह किसी भी अवस्था मे हो। अत कहा जा सकता है कि 'जीवन का उद्देश्य करना या कर्तव्य पालन ही है'। अन्य उद्देश्य तो मनुष्य अपनी आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार बना लेता है।

२. जीवन—

(१. क्या जीवन का उद्देश्य जीवित रहना है ?)—

मनुष्य चाहता है कि 'मै सदा जीवित रहूँ, मरूँ कभी नहीं'

यदि जीवन का यही उद्देश्य होता कि मनुष्य सदा जीवित रहे, मरे कभी नहीं तो वह कभी मरता ही नहीं। परन्तु जब मनुष्य मरता है तो लाख यत्न करने पर भी जीवित नहीं रहता। इस बात से सिद्ध हो जाता है कि 'जीवन का उद्देश्य जीवित रहना नहीं है'। जीवन मे अनेक बार ऐसी दुरावस्थाएं आती हैं कि मनुष्य जीवित रहना नहीं चाहता। वह चाहता है कि मैं मर जाऊं और ईश्वर से प्रार्थना करता है कि 'हे राम, मुझे धरती पर से उठा ले'। और अनेक व्यक्ति तो ऐसे होते हैं, जो आत्मघात करके अपनी जीवन-लीला को समाप्त ही कर डालते हैं।

इन घटनाओं को देखते हुये कहना पड़ता है कि 'जीवन का उद्देश्य जीवित रहना नहीं है'।

(२. क्या जीवन का उद्देश्य मरना है ?)—

अब प्रश्न यह उठता है कि जब कि जीवन का उद्देश्य जीवित रहना नहीं है 'तो क्या मरना है ?' यदि जीवन का उद्देश्य 'मरना' होता तो मनुष्य कभी जीवित नहीं रहता। परन्तु वह जीवित रहता है और वर्षों जीवित रहता है। एवं साथ ही वह जीवित रहने के लिये भोजन करता है, औषधियाँ खाता है, कपड़े धारण करता है और भवन आदि बनवाकर रहता है। इन बातों से सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य मरना नहीं है'।

(३. क्या जीवन का उद्देश्य जीवन और मरण दोनों हैं या दोनों नहीं ?)—

अब यह देखना है कि जीवन का उद्देश्य जीवित रहना भी नहीं और मरना भी नहीं तो जीवन का उद्देश्य क्या है···? क्या जीवनके दोनो उद्देश्य हैं या दोनों नहीं ··? इस प्रकार से तो विषय बढ़ जाएगा। संक्षिप्तता ही से अपने परिणाम पर पहुंचना है। इसलिये इसी ओर अग्रसर होना चाहिए।

जबकि जीवन में जीवन और मरण दोनों होना है, तो दोनों ही को रहने दिया जाए। जिस प्रकार भी जीवनकी प्रगति हो, उसी प्रकार उसे चलने दिया जाए। 'जीवन की प्रगति जीवन और मरण दोनों में होती है। इसी के प्रति कर्तव्य-पालन होना चाहिए और होना भी है। यह प्रतिदिन के व्यवहारमें देखा जाता है कि मनुष्य अपने मरने-जीने और सुख-दुःख आदि की कुछ चिन्ता नहीं करता, परन्तु अपने कर्तव्य का पालन दृढ़ता से करता है। बस, यही जीवन का उद्देश्य है।'

इससे अतिरिक्त जीवन में जो जीवित रहने या मरने का उद्देश्य होता है, वह व्यक्तिगत होता है और वह अपनी-अपनी आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार होता है। और इस व्यक्तिगत उद्देश्य के अनुसार कर्तव्यपालन भी किया जाता

है। परन्तु वास्तव में स्थिर रूप से जीवन का यह न उद्देश्य होता है और न-ही यह कर्तव्यपालन।

———

३. भोग—

(१. क्या जीवन का उद्देश्य भोग भोगना है ?)—

अधिकाश मनुष्य यही जानते हैं कि 'जब तक जीते रहो तब-तक पेट भर कर भोग भोगते रहो, मर जाने पर ज्ञात नहीं क्या होगा ? संसार मे खा लिया जाए - पी लिया जाए सो अपना और सब पराया'। इस प्रकार से मनुष्य जीवन का उद्देश्य भोग भोगना मानते हैं, उसकी प्राप्ति के लिये परिश्रम करते हैं, भोगते है और तृप्त होते हैं। फिर भी उनकी भोग को भोगने की तृष्णा बढती ही जाती है। वह ज्यों ज्यों भोग भोगता है, त्यों त्यों उसमें उसे भोगने की व्याकुलता बढ़ती जाती है। भोग के भोगने में जहा शरीरिक व्याधियां उत्पन्न होती हैं, वहां मानसिक आधिया भी उत्पन्न हो जाती हैं। जहा उन भोगों के भोगने मे बाधा पहुँची कि भोगी मे चिन्ता, क्षोभ और क्रोध आदि मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे मनुष्य की बुद्धि मारी जाती है और वह अपने नाश की सामग्री स्वय तैयार कर लेता है। अब यह जान लेने की आवश्यकता कि 'जिस भोग के भोगने को मनुष्य जीवन का उद्देश्य मानता है, क्या वास्तव मे वह जीवन का उद्देश्य है ··?

(२ जीवन का उद्देश्य भोग भोगना नहीं है)—

यदि जीवन का उद्देश्य भोग भोगना होता तो वह सदैव सब प्रकार के भोगों से सम्पन्न रहता। परन्तु बहुत-से मनुष्य तो ऐसे है जिनके पास पेट भरने को अन्न नहीं, शीत निवारण के लिये वस्त्र नहीं और रोग निवारण के लिये औषधी नहीं। फिर भोग भोगनेके लिये सुस्वादु अन्न कहां ··? सुन्दर तथा कोमल वस्त्र कहा ? और सुन्दर भवन तथा सुमधुर गान-वाद्य कहां·? इस प्रकार से बहुत से मनुष्यों का जीवन भोग के भोगने से रहित होता है। यदि जीवन का उद्देश्य भोग भोगना होता तो जीवन इस प्रकार से भोग रहित नहीं होता। परन्तु होता है, इससे सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य भोग भोगना नहीं है'।

दूसरे यदि जीवन का उद्देश्य भोग का भोगना होता तो भोग भोगते-भोगते शरीर क्षीण तथा रोगी कभी न होता। परन्तु ऐसा बराबर होता रहता है और यहा तक हो जाता है कि वे भोग ही भोगी को भोगने के लिये क्षीणता, रोगता, कायरता चिन्ता, क्षोभ और आलस्य आदि विभिन्न रसों से सुस्वादु बनाकर आस्वादन किया करता है। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य भोग का भोगना नहीं है'।

तीसरे अनेक भोग-भोक्ता विद्वान और महात्मा आदि भोगों से घृणा करते हैं। यदि जीवन का उद्देश्य भोग भोगना

हो तो वे भोगों से विरक्त क्यों हों ··? वे विरक्त होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य भोग भोगना नही है'।

(३. क्या जीवन का उद्देश्य भोग त्यागना है ?)—

अब प्रश्न यह उठता है कि जबकि जीवन का उद्देश्य भोगो का भोगना नहीं है तो 'क्या जीवन का उद्देश्य भोगो को त्यागने का है ··?

यदि जीवन का उद्देश्य भोगों को त्यागना होता तो उसे भोग कभी प्राप्त न होते । परन्तु वे उसे प्राप्त होते रहते है। राजा-महाराजा, सेठ, धनी-मानी और विद्वान् आदि जितने भी सम्पन्न व्यक्ति हैं—सब भोग भोगते हैं । जिसके पास भोग भोगने के साधन नहीं हैं, वे भी जैसे-तैसे करके भोगो को भोगने के साधन जुटाने का यत्न करते हैं और उनको प्राप्त करके उनका आस्वादन करते हैं। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि 'जीवन का उद्देश्य भोग त्यागने का भी नहीं है'।

(४. क्या जीवन का उद्देश्य भोग-भोगना और त्यागना दोनों हैं ? या दोनों नहीं ?)—

अब विचारने की बात यह रह जाती है कि जबकि जीवन का उद्देश्य भोग भोगने का भी नहीं है और त्यागने का भी नहीं है, तो जीवन का उद्देश्य क्या है ··?

जीवन में भोग भोगना और त्यागना दोनो हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी बातें है और दोनों एक स्थान पर एक साथ टिक नहीं सकतीं। इस लिये भोगो को भोगना और उनका त्यागना दोनों एक साथ जीवन के उद्देश्य बन नहीं सकते।

अतः कहा जा सकता है कि जीवन का उद्देश्य भोगों को भोगना और उनको त्यागना दोनों नहीं हैं। तो फिर जीवन का उद्देश्य क्या है···?

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि जीवन मे एक समय में एक प्रकार की क्रिया होती है; वह चाहे भोगों को भोगने की हो या त्यागने की। बस, 'यही एक प्रकार की क्रिया या 'करना' ही जीवन में स्थिर और निरंतर रहता है। इस लिये कहा जा सकता है कि—

—(१ जीवन का उद्देश्य और कर्तव्यपालन की परिभाषा)—जीवन का उद्देश्य एक प्रकार की क्रिया है, जो उसके साथ निरन्तर बनी रहती है और जिसका करना जीवन के लिये आवश्यक हो जाता है और जिसे कर्तव्य-पालन के नाम से कहा जा सकता है या कहते हैं। इस कर्तव्य पालन ही को जब तक जीवन रहता है, तबतक वह करता रहता है।

जीवन में भोगने और त्यागने के जो दो उद्देश्य मान

होते हैं, वे वैयक्तिक हैं। व्यक्तिअपनी आवश्यकतानुसार उद्देश्य बना लेता है। वास्तव मे वह जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य मनुष्य नहीं बना सकता। वह-तो स्वय ही होता है या वह प्रकृतिकृत होता है, क्योंकि जीवन प्रकृतिकृत है या वह स्वभाव ही से है।—

–(२. जीवन का उद्देश्य)—प्रकृति या स्वभाव ने जीवन को प्रगतिशील या क्रियाशील रहने के लिये बनाया है। बस, वह क्रियाशील या प्रगतिशील रहना चाहिए, यही जीवन का उद्देश्य है।

(५. जीवन का उद्देश्य, कर्तव्यपालन करते हुये भोग-त्याग दोनों हैं)—

जीवन क्रियाशील प्रगतिशील रहते हुये अथवा कर्तव्य पालन करते हुये जो-भी भोग प्राप्त हों, उन्हे हर्ष के साथ मनुष्य को भोगना चाहिए और जो भोग अप्राप्त हों या उनके त्यागने की आवश्यकता हो, तो उन्हे हर्ष के साथ कर्तव्य बुद्धि से त्याग देना चाहिए। मनुष्य के जीवन में भोग तथा त्याग दोनों हैं और दोनो ही के प्रति मनुष्य का कर्तव्यपालन है। क्योंकि दोनों ही मनुष्य के कर्तव्यपालन के अन्तर्गत आते हैं।

(६. कर्तव्यशील बनने के लिये ग्रन्थ)—

अब प्रश्न यह उठता है कि जीवन को किस प्रकार क्रियाशील करना चाहिए ··?' उसकी किस प्रकार प्रगति हो ? अथवा किस प्रकार कर्तव्यपालन करना चाहिए ··? इसका विधान विभिन्न सम्प्रदायों के अनेक ग्रथों में है और इस ग्रंथ में भी पर्याप्त है। इस ग्रंथ के अनुसार अनुसरण करने पर मनुष्य कर्तव्यशील बनेगा।

उद्देश्य और कर्तव्यपालन

'जीवन का उद्देश्य क्या है ?' इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालने के पश्चात् अब फिर से उद्देश्य का अर्थ, उसके भेद और व्याख्या करते हुये कर्तव्यपालन पर प्रकाश डाला जाता है।

उद्देश्य-कर्तव्यपालन की परिभाषा और उद्देश्य के भेद—

(१. उद्देश्य की परिभाषा)—

उद्देश्य कहते हैं प्रयोजन को, लक्ष्य को। और कर्तव्यपालन कहते हैं कि करने योग्य कर्म को करना। उद्देश्य दो प्रकार के होते हैं व्यक्तिगत और स्वाभाविक या प्रकृतिकृत।

(२ व्यक्तिगत उद्देश्य)—

व्यक्तिगत उद्देश्य में उद्देश्य को मनुष्य बनाना है। यह अनेक प्रकार का होता है। यह कभी सफल होता है और कभी असफल। सफल में व्यक्ति को राग होता है। उसकी ओर आकर्षण होता है और कभी उसकी ओर से उपेक्षा भी हो जाती है। इस व्यक्तिगत उद्देश्य मे परिवर्तन भी हो सकता है और हो भी जाता है। इस मे प्राय सफलता मिलने पर प्रसन्नता और असफलता मिलने पर चिन्ता और क्षोभ आदि व्याकुलता प्रद-क्लेशजनक भाव उत्पन्न हो जाते है।

(३. स्वाभाविक या प्रकृतिकृत उद्देश्य)—

स्वाभाविक या प्रकृतिकृत उद्देश्य एक होता है। इस मे परस्पर विरोध नहीं होता और न-हि इसमे परिवर्तन होता है, क्योंकि यह स्वाभाविक या प्रकृतिकृत है। यह निरंतर बना रहता है। इस उद्देश्य मे सफलता और असफलता दोनों का अन्तर्भाव रहता है।

स्वभाव या प्रकृति का उद्देश्य है कि जीवन को क्रियाशील या प्रगतिशील बनाने के लिये मनुष्य को कर्तव्यपालक बनाना। प्रकृति के उद्देश्य में यह नहीं है कि मनुष्य अपने उद्देश्य मे सफल हो या असफल। वह तो जीवन को क्रियाशील या प्रगतिशील बनाते हुये मनुष्य

से कर्म करवाया करती है। उसने मनुष्य के उद्देश्य की सफ-
लता और असफलता को उसके कर्मों के विधान (रचना)
पर छोड़ दिया है। प्रकृति अपने उद्देश्य को पूरा करवाने मे
सजग है। वह भूल नहीं करती। वह अपने मे पूर्ण शक्ति
रखती है। और मनुष्य प्रकृति के व्यापक तथा निरंतर रहने
वाले उद्देश्य को भूल जाता है, क्योंकि वह अत्यल्प शक्ति है।
मनुष्य के स्थापित किये हुये उद्देश्य मे दोष भी हो सकता है
परन्तु प्रकृतिकृत उद्देश्य निर्दोष रहता है। अतः मनुष्य को
प्रकृति के उद्देश्य को न भूलना चाहिए, क्योंकि वह प्रकृति के
आधीन है।—

(४. वास्तव में जीवन का उद्देश्य)—

—अत प्रकृति के उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुये ही
मनुष्य को अपना उद्देश्य स्थापन और उसके प्रति कर्तव्यपालन
करना चाहिए। वास्तव में जीवन का उद्देश्य यही है और
वास्तव मे यही प्रकृति और अपने उद्देश्य के प्रति कर्तव्यपालन
है। इस प्रकार मनुष्य द्वारा कर्तव्यपालन होने से—वह प्रायः
सफल होता है। यदि असफल भी होता है तब भी वह
रहता है।

इक्कीसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस इक्कीसवे अध्याय मे इस विषय पर विचार किया गया है कि "क्या जीवन का उद्देश्य कामोपभोग करना है ?" इस समीक्षण के उपरान्त इस निचश्य पर पहुँचा गया है कि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा करना नहीं है । वरन् उसका उद्देश्य सक्रिय होना, प्रगतिशील होना या कर्तव्यपालन करना है। काम-क्रीड़ा करने का उद्देश्य मानुषिक या वैयक्तिक है, प्रकृति-कृत या स्वभावकृत नहीं है । मानुषिक या वैयक्तिक उद्देश्य कहीं होता है और कहीं नहीं । वह कहीं सफल होता है और कही असफल । परन्तु प्रकृति या स्वभावकृत उद्देश्य सदा, स्थिर और निरन्तर रहता है । 'काम-क्रीडा करना' सदा, स्थिर और निरन्तर नहीं रहता । इसलिये वह प्रकृतिकृत उद्देश्य नहीं हो सकता । जीवन सदा, स्थिर और निरन्तर चलता रहता है—इसलिये वह प्रकृतिकृत या स्वभावकृत है । इसी कारण उसमे परिवर्तन नहीं होता । प्रकृति अपने उद्देश्य को मनुष्य से किसी न किसी रूप मे पूरा करवा लेती है । मनुष्य उसके उद्देश्य को पूरा प्रसन्नता-सुख से करे या अप्रसन्नता-दुःख से करे, करना पड़ता है अवश्य । उसका उद्देश्य क्रियाशीलता, प्रगतिशीलता या कर्तव्यपालन ही हो सकता है ।

क्योंकि जीवन के साथ यही सदा, स्थिर और निरन्तर रहता है। इसे मनुष्य अपने जीवन मे छोड़ नहीं सकता और नहि वह उसका परिवर्तन कर सकता है।

काम-क्रीड़ा करने का उद्देश्य मनुष्यकृत है। इसलिये वह उसके अधीन है। वह चाहे उसको करे या न करे, अल्प करे या अधिक करे। इसी कारण से मनुष्य अपनी पूर्व बालावस्थामें खाने,पीने और क्रीड़ा करने आदि में ही अपना समय व्यतीत करता है। उस समय उसे काम-क्रीड़ा करने की इच्छा ही नहीं होती परन्तु उसके अंतःकरण में संसार की काम-क्रीड़ा के संस्कार पड़ने लगते है। पश्चात् उत्तर-बालावस्था में वह ज्ञान-वृद्धि के लिये यत्न करता है और उसमे काम-क्रीड़ा करने के संस्कार बढ़ने लगते है किन्तु वह उसके लिये व्याकुल नहीं होता और अपना समय खेल, कूद, हंसी और अध्ययन में ही बिताता है। इसके उपरांत यौवनावस्था आती है। इसमें वह काम-क्रीड़ा करने के लिये व्याकुल हो जाता है और अपनी इच्छा पूरी करता है। परन्तु चौबीसों घन्टों मे कुछ समय ही कर पाता है। बाकी का समय तो अन्य आचार-विचारों ही मे चला जाता है। दूसरे उसे किसी भी कारणवश अपनी स्त्री से न्यूनाधिक काल तक पृथक् रहना पड़ता है और उस काल में यदि अन्य सम्पन्नाग स्त्री आ जाती है तो वह उससे काम-क्रीड़ा नहीं कर सकता, केवल

ललचा कर ही रह जाता है। तीसरे कामोपभोग करते-करते जब शरीर क्षीण हो जाता है तो - भी पुरुष काम-क्रीडा नहीं कर सकता। चौथे जब उसके सन्तानें हो जाती हैं तो वह उनके लालन-पालन आदि में लगा रहता है। साथ ही अनेक सामाजिक और राजशासनिक आदि कामों में भी व्यस्त रहता है। इन कारणों से पुरुष को काम-क्रीड़ा करने का अवसर बहुत ही कम मिलता है। और भी देखिये, अनेक सज्जनों को तो स्त्री तथा काम-क्रीडा से घृणा हो जाती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीड़ा करना नहीं है क्योंकि काम-क्रीड़ा सदा, स्थिर और निरतर नहीं रहती। परन्तु जीवन सदा, स्थिर और निरतर रहता है। जीवन अपने जैसा ही साथी चाह सकता है और वह हो सकता है क्रियाशीलता, प्रगतिशीलता और कर्तव्य-पालनता। यही जीवन के साथ सदैव रह सकते हैं, जो प्रकृतिकृत हैं।

काम-क्रीडा करना केवल वैयक्तिक उद्देश्य है। परन्तु जीवन या मनुष्य को वैयक्तिक उद्देश्य भी बनाना पड़ता है और बनाना चाहिए क्योंकि यह भी प्रकृति का ही स्वभाव है। किन्तु इसका बनाना मनुष्य के अधिकार में दिया ।है। वैयक्तिक उद्देश्य बनाते हुये प्रकृति के भी उद्देश्य रखना चाहिए कि जीवन का उद्देश्य काम-क्रीडा

करना नहीं है। उसका उद्देश्य केवल क्रियाशीलता, प्रगति-शीलता या कर्तव्यपालन ही है।

(कर्मयोग)—

यों तो "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के अब तक वर्णन किये गये समस्त अध्याय कर्मयोग से सम्बन्ध रखते हैं परन्तु यह इक्कीसवां अध्याय अपने विषय में निराली ही छटा रखता है।

बहुत से मनुष्य इस उलझन में उलझे हुए रहते हैं कि 'जीवन का उद्देश्य क्या है?' जिस के कारण वह निश्चित रूप में निरंतर कोई यत्न नहीं कर पाते और संशय में पड़े-पड़े घुटते रहते हैं। इस अध्याय में इसी महत्वपूर्ण विषय की शंका का समाधान किया गया है। जिसका कहुत-कुछ आभास ऊपर के विहंगम दृष्टि के अंतर्गत "मानसिक ब्रह्मचर्य" नाम के शीर्षक के परिच्छेदों से हो जाएगा और इसका विस्तृत स्पष्टी-करण इसी अध्याय में है।

इस महत्वपूर्ण निर्णय के उपरांत अब इस "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्रके इक्कीसवे अध्याय को समाप्त किया जाता है।

इक्कीसवां अध्याय समाप्त

शुभम्

बाईसवां अध्याय

शंका का उत्पन्न होना—

साधक इक्कीसवें अध्याय मे यह निश्चय कर आया है कि जीवन का उद्देश्य कर्तव्यपालन है। कर्तव्यपालन करते-करते यदि काम-क्रीड़ा प्राप्त हो जाए तो उसे कर लेना चाहिए, अन्यथा नहीं। इस निश्चय के उपरात उसे कुछ शान्ति और विश्राम मिला। उसका कुछ कालक्षेप हुआ। किन्तु कुछ समय उपरांत उसे एक संशय उत्पन्न हो गया कि मानसिक ब्रह्मचर्य के नियमों के नियंत्रण से कभी काम-क्रीड़ा के आनन्द से रहित तो नहीं हो जाऊंगा''? अब साधक इसी शंका के समाधान का यत्न करता है।

१. नियमों के नियंत्रण से कभी आनन्द से रहित तो नहीं हो जाऊंगा?—

मैं सुख तथा आनन्द के बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहता और न-हि रहसकता हूँ। जबभी कभी उसके बिना समय

बीतता है, तभी मैं घबरा जाता हूँ और तिलमिलाकर उसे जैसे तैसे प्राप्त करना चाहता हूं। जब वह मिल जाता है तो सन्तोष की सांस लेता हूँ।

जब मै देखता हूं कि स्त्री से मुझे सुख होगा और उसके साथ काम-क्रीड़ा करने में आनन्द; तो बस, मुझ से उस बिना नही रहा जाता। मै उसे प्राप्त करने का यत्न-प्रयत्न करने लगता हूं। इसके साथ ही मैं प्रति दिन काम-क्रीड़ा सम्बन्धी मनोवेग को नियंत्रण करने मे भी लगा हुआ हूं और नये-नये नियम जानकर उन्हें सिद्ध कर रहा हूँ। प्रतीत होता है कि वे सिद्ध होते जा रहे हैं। उन्हे सिद्ध होते जानकर यह आशंका होती जा रही है कि मै कभी स्त्री-सुख या उसके काम-क्रीड़ा के आनन्द से वंचित तो न हो जाऊँगा ? मुझे यही चिन्ता सता रही है। चिन्ता करते-करते मानसिक ब्रह्मचर्य के नियमों पर ध्यान देने से ज्ञात हुआ कि उनमें से कितने ही नियम ऐसे हैं, जो स्त्री-सुख या काम-क्रीड़ा के आनन्द को भोगने से नहीं रोकते। वरन् वे तो अधिक से अधिक उसे भोगने के लिये आकर्षण करते है। अतः उन नियमों से आशंकित न होकर, प्रसन्न होना चाहिए। अब उन नियमों पर दृष्टि निक्षेप कर लेना चाहिए जिन से मै डरा हुआ हूं। और उन तत्वों का भी ज्ञान कर लेना चाहिए, जिन से मुझे अधिक से अधिक काम-क्रीड़ा का आनन्द

(काम-क्रीड़ा के आनन्द से वंचित करनेवाले भय तत्व और उनका निवारण)—

साधक विचार करता है कि स्त्री में सुख या आनन्द का अनुभव करते हुये उसमें यह देखा गया है कि सुख या आनन्द का देने वाला मन है, स्त्री नहीं, केवल उसमे भासता है। यह तत्व ऐसा है, जो काम-क्रीड़ा के आनन्द से पृथक् करने वाला है। यह भय तथा चिन्ता का तत्व है। परन्तु इस तत्व से भय तथा चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। यह तत्व तो वास्तविक परिस्थिति का बोध कराने वाला है और भ्रांति को दूर करता है। जहा भ्रम दूर हो, वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। किन्तु यह तत्व स्त्री की ओर से आकर्षण अवश्य कम करता है। इस आधार से मुझे आशंका होती है कि स्त्री-क्रीड़ा के आनन्द से वचित हो जाऊँगा। किन्तु अन्य अध्यायों में बुद्धि तत्व ऐसा है कि यदि स्त्री मे काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द हुआ तो वह निश्चय अवश्य करेगा और साथ ही उसको प्राप्त करने के साधन का भी। इस लिये इस 'मन के भासने' तत्व से डरने तथा चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। दूसरे स्त्री-क्रीड़ा के अन्य इतने समर्थक तत्व है कि उक्तआशंका निर्मूल हो जाती है। वरन् इतनी अधिक आशा हो जाती है कि यह विश्वास हो जाता है कि अधिक से अधिक काम-क्रीडा का आनन्द अवश्य प्राप्त होगा । यदि किसी

कारणवश वह प्राप्त भी न हो, तो अन्य सभी प्रकार के अत्यधिक सुखों या आनन्दों की तो प्राप्ति होगी ही। यदि एक प्रकार का सुख न-भी प्राप्त हो तो क्या है..? अन्य सब प्रकार के अत्यधिक सुख तो प्राप्त होंगे ही...। व्यवहार में भी देखा जाता है कि अन्य सब प्रकार के सुखों के लिये एक प्रकार का सुख छोड़ दिया जाता है। अत: अन्य सब प्रकार के अत्यधिक सुखों की प्राप्ति के लिये एक प्रकार का काम-क्रीड़ा का सुख तथा आनन्द छोड़ना भी पड़े तो कोई बात नहीं, कोई चिन्ता नहीं..। हमारे काम-क्रीड़ा के समर्थक तत्वों मे यह भी तत्व है कि कर्म करने से उसकी प्राप्ति अवश्य होगी और कर्मके किस परिमाण मे पहुंचने पर मेरी अभिलषित काम-क्रीड़ा की प्राप्ति होगी। कौन कर्म विधान में है और कौन निषेध मे—यह भी वर्णन किया गया है। जिससे वांछित-क्रीड़ा की प्राप्ति में सुविधा रहे और अन्य प्रकार के अधिक सुखों की भी प्राप्ति हो। काम-क्रीड़ा के परिपोषक तत्वों में यह भी तत्व है कि कर्म-पूर्ति करते समय काम-वेग को सहन करना चाहिए। जिसका होना परमावश्यक है और सहन करने का मार्ग भी बतलाया गया है। इत्यादि काम-क्रीड़ा के समर्थक और परिपोषक इतने तत्व है जो उससे पृथक् रहना तो दूर रहा, उल्टे के वे अधिक से अधिक काम-क्रीड़ा के आनन्द का अनुभव करायेंगे। हाँ, एक अध्याय ऐसा है जो काम-क्रीड़ा

की ओर जाने से रोकता है। जिसमें वर्णन है कि यदि स्त्री हो, वह समीप हो, एकान्त हो, भाव हो और जानकारी हो इत्यादि कोई भी तत्व हो परन्तु तुम काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त न हो। ये तत्व अवश्य काम-क्रीड़ा के आनन्द को उठाने से रोकते है, सुख भोगने से रोकते हैं। परन्तु वास्तव मे देखा जाए तो ये तत्व वांछित-क्रीड़ा करने के बाधक नहीं हैं। क्योंकि इन तत्वों में जहाँ भी बाधा दिखाई देती है, वहाँ इसी कारण से दिखाई देती है कि इन मे किसी भी अकेले तत्व के होने से काम-क्रीड़ा की प्राप्ति न होगी। उसकी प्राप्ति तो होगी ही नहीं, हाँ उस सहित सम्पूर्ण सुख नष्ट अवश्य हो जाएँगे। यदि गहराई में जाकर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि ये तत्व बाधक नहीं है, साधक रूप है। क्योंकि मै यह जान गया हू कि इन पृथक्-पृथक् तत्वो के विद्यमान होने से काम-क्रीडा का सुख कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् इस प्रकार यत्न करने से वह सुख-आनन्द नष्ट हो जाएगा। मैं यह भी जान गया हूं कि इन सब तत्वों के एकत्रित होने ही पर वांछित-फल प्राप्त होगा और इन तत्वों का एकत्रीकरण कर्म की विधि मे पूर्ति ही से हो सकता है। इस लिये ये तत्वों का समूह भी हमारी काम-क्रीड़ा का बाधक नहीं, साधक है।

उपरोक्त विवेचना से सिद्ध हो जाता है कि उक्त आशंका—काम-क्रीडा के विषयमे मन पर नियन्त्रण से कभी सुख

तथा आनन्द से वंचित तो न हो जाऊँगा ?—निर्मूल हो जाती है और यह सिद्ध हो जाता है कि इस ग्रंथ के अनुसार मन पर नियंत्रण करने से काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द अधिक से अधिक प्राप्त होगा। अतः भय तथा चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, वरन् हर्ष की बात है। इस लिये मन पर नियंत्रण करने के नियमों का भली प्रकार से पालन करना चाहिए।

---

२. वीर्य के अधिक संचय से कभी रोगी तो न हो जाऊँगा ?—

मेरी यह आशंका तो दूर हो गई है कि 'मन पर नियंत्रण करने के तत्वों को सिद्ध करने से काम-क्रीड़ा करने मे रुकावट होगी'। साथ ही यह भी संतोष होगया है कि वह अधिक से अधिक प्राप्त होगी। किन्तु एक शंका यह उत्पन्न होगई है कि 'नियमों के पालन से कभी वीर्य अधिक संचय होकर शरीर मे किसी प्रकार का रोग उत्पन्न न कर दे ?'

(१. वीर्य का महत्व)—

संसार में देखा, सुना और पढ़ा जाता है कि वीर्य शरीर का राजा होता है। वह शरीर का चर्म सार है। वह सब धातुओं के बनने के पश्चात् बनता है और सब को शक्तिशाली

बनाये रखता है। वे धातुएं रक्त, मांस और अस्थि आदि हैं। जहां वीर्य अधिक मात्रा में और पुष्ट होगा, वहां अपवाद को छोड़ कर शरीर भी निरोग तथा पुष्ट होगा। एवं इन्द्रिया भी अपना-अपना कार्य सशक्त होकर करेंगी। जीवन दीर्घायु बनेगा। वह सदा प्रसन्न चित्त रहेगा। उसमे कायरता कभी न आएगी। वह सदा नवोत्साह से युक्त रहेगा। सफलता उस पुरुष के मुख के दर्शन किया करेगी। इस प्रकार वीर्यवान् पुरुष की महिमा सुनी और पढ़ी जाती है। संसार में प्रतिदिन के व्यवहार से भी देखा जाता हैं कि जो पुरुष जितना भी अधिक वीर्यवान् होता है, वह उतना ही अधिक निरोग और शरीरिक सुख से सम्पन्न होता है। इसके साथ ही सशक्त भी होता है। उसकी इन्द्रियॉं अपना-अपना कार्य बड़ी सुन्दरता के साथ करती हैं। जिस पुरुष का वीर्य क्षीण हो जाता है, वह उसे वृद्धि कराने की इच्छा से चिकित्सकों की शरण मे जाता है और पुष्टिकर औषधी तथा पाक खाकर वीर्य वृद्धि करने का यत्न करता है। इस प्रकार वीर्य का महत्व व्यवहार में भी देखा जाना है।

(२. आशंका का निवारण)—

वीर्य का इतना महत्व जानने के उपरांत यह शंका न रहनी चाहिए कि 'कभी मन को नियंत्रण करने वाले नियमों का पालन करने से वीर्य अधिक संचय होकर वह रोग उत्पन्न

न करदे?' फिर भी मानवीय स्वभाव से शंका हो ही जाती है, तो फिर उसका समाधान भी कर लेना चाहिए।

मान लिया जाए कि शरीर में अधिक वीर्य के संचय से प्रचलित या कोई नवीन रोग उत्पन्न हो जाए अथवा उसके होने की सम्भावना हो, तो वह-वीर्य अनेक प्रकार से क्षीण भी किया जा सकता है और उसका तेज घटाया जा सकता है। शरीर की शक्ति से अधिक कार्य करने से या उपवास आदि करने से वीर्य क्षीण हो जाता है, परन्तु उसकी क्षीणता दृष्ट नहीं आती। इत्यादि उपायों से वीर्य का विकार दूर हो जाता है। यदि वह किसी उपाय से क्षीण न-हो तो उसे क्षीण करने के संकल्प ही से क्षीण किया जा सकता है और एक साधन स्त्री सेवन से भी क्षीण करने का है।

अतः "शरीर मे अधिक वीर्य संचित होकर, वह कभी रोग उत्पन्न न कर दे?" इस आशंका का उपरोक्त उदाहरणों से निवारण हो जाना चाहिए और मन को वश में करने के लिये नियमों का विधिवत् पालन करना चाहिए।

बाईसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग)—

इस बाईसवें अध्याय में—"नियमों के नियंत्रण से कभी काम-क्रीड़ा के आनन्द से रहित तो नहीं हो जाऊंगा?" और

"वीर्य के अधिक संचय से कभी रोगी तो न हो जाऊंगा?" इन दोनों शंकाओं का निवारण किया गया है और नियमों के पालन का समर्थन किया गया है।

यह बाईसवाँ अध्याय भी कई अंशों में कर्मयोग से सम्बन्ध रखता है।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के बाईसवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

बाईसवां अध्याय समाप्त

शुभम्

तेईसवां अध्याय

मैं स्त्री में काम-क्रीड़ा ही क्यों देखता हूं—

साधक मानसिक ब्रह्मचर्य की ओर प्रगति करता हुआ विचार कर रहा है कि जब मेरे सन्मुख कोई स्त्री आती है, तो मैं उसके साथ काम-क्रीड़ा करने की क्रिया ही को क्यों देखता हूं···? क्या उसके अंगों से यही व्यवहार सिद्ध होता है ? अन्य नहीं···?

(१ स्त्री का अस्तित्व)—

मैं देखता हूं कि स्त्री एक पिण्ड है। उसके ज्ञानेंद्रियां हैं; कर्मेन्द्रिया है, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार है। उसमें चेतन-सत्ता विद्यमान है। वह प्रत्येक वस्तु, गुण और क्रिया का अनुभव करती है। उसे सुख-दुःख होता है। वह सुखदायक वस्तु का ग्रहण करती है और दुःखदायक का त्याग। वह अन्य सब प्रकार के चेतन पिण्डों मे श्रेष्ठ है और पुरुष के समकक्ष है, केवल कुछ अंगों या कर्मेंद्रियों मे भिन्नता है। जिनके कारण कर्तव्य-कर्म मे भी कुछ भिन्नता आ जाती है।

(२ मैं स्त्री में काम-क्रीडा ही क्यों देखता हूं?)—

जहां स्त्री के साथ काम-क्रीड़ा होती है, वहां उसके साथ अन्य व्यवहार भी होता है या वह करती है। जहा उसके स्तनों में काम-क्रीड़ा का आनन्द ऊचा उठाकर हिलोरें लेता प्रतीत होता है, वहां उसके स्तन दूध के भण्डार हो जाते हैं। जो सन्तान की भूख और प्यास को शांतकर, उसे पुष्ट करते हुये, उसके आनन्द का कारण बनते हैं। जहाँ मैं स्त्री के स्तनों में सुख तथा आनन्द उछलता हुआ देखता हूँ, वहाँ उन्हे दूध का भंडार और बालकों को प्रसन्नकारक क्यों-नहीं देखता ? इसका कारण यह है कि मुझे काम-क्रीडा ही से सम्बन्ध है और मेरे मे काम-क्रीड़ा करने ही के भाव हैं, इसलिये मैं स्तनों मे काम-क्रीड़ा ही काम-क्रीड़ा देखता हूँ। पर स्त्री को सब व्यवहार करने पड़ते है। यदि मैं सब समय उसमें काम-क्रीड़ा के ही भाव देखता रहूँगा, तो परिणाम मेरे लिये बुरा होगा। मेरे पर दोषारोपण होकर आक्रमण होने लगेगे।

जहाँ मैं स्तनों को काम-कीड़ा के मुख्य अगों में से एक अंग मानता हू, वहा मैं रक्त तथा मांस आदि का पिण्ड मानकर, उसे एक आवश्यक अंग क्यों-नहीं मानता ? क्या वास्तव मे ऐसा नहीं है ? है परन्तु मुझे काम-क्रीड़ा करने की ही इच्छा है, इसलिये मै उसकी अन्य बातो की उपेक्षा कर जाता हूँ और मुझे अन्य उपयोगिता का ध्यान नहीं रहता। कारण यह है कि

मुझे काम-क्रीड़ा करने की ही आवश्यकता है। इसीलिये मैं उन्हें इसी भावनासे देखता हूँ। परन्तु सब समय और सब स्त्रीमें अपनी ही भावना को देखना भयावह है। क्योंकि सब समय और सब स्त्रियों को काम-क्रीड़ा की आवश्यकता नहीं होती। उस समय उसके साथ काम-क्रीड़ा करने की भावना और यत्न करेगा, तो वह-तो प्राप्त होगी नहीं वरन् अनेक प्रकार की हानियां अवश्य उठानी पड़ेगी। दूसरे जहां स्तनों मे काम-क्रीड़ा का व्यवहार है, वहां अन्य व्यवहार भी है। उन्हें भी तो देखना चाहिए।

काम-क्रीड़ा का एक मुख्य अंग मुख हैं। उस मे जहां स्नेह सिंचन नेत्रोंके द्वारा होता है, वहाँ यह भी देखना चाहिए कि स्त्री के नेत्रों मे रुक्षता बखेरना भी है, द्वेष छोड़ना भी है और साथ ही वह विभिन्न इच्छा से विविध विषयों को देखती है या वह एक ही विषय को विभिन्न रूपोंमें देखती है। परन्तु मैं इन बातों को नहीं देखता क्योंकि मुझ में काम-क्रीड़ा करनेके ही भाव हैं। इसलिये मैं अपने भाव के अनुसार ही उसके नेत्रों के स्नेह-सिंचन मे काम-क्रीड़ा करने के ही भाव देखता हूं और मुझे वही प्रतीत होता है परन्तु ऐसा देखना और समझना हानिकर है। क्योंकि मेरी इच्छा ही से दूसरों में भाव नहीं हो जाते। दूसरे में तो उसकी इच्छा के अनुसार ही भाव होंगे। अतः जहां कामिनी के नेत्रों के स्नेह-सिंचन मे काम-क्रीड़ा करने के भाव देखता हूं, वहां अन्य भाव भी तो देखने चाहिए।

जहा गोल-गोल लावण्यमय कपोलो मे चुम्बन के आनन्द का स्रोत उमड़ता देखता हूँ, वहाँ उसे रक्त, मास और अस्थि का सचय भी देखना चाहिए। जो क्षीण तथा रोगी भी होता रहता है। दूसरे वे कपोल शरीर के आवश्यक अंग हैं किन्तु मै यह नही देखता। यह भी तो देखना चाहिए। इस न देखने का कारण यह है कि मुझ मे काम-क्रीड़ा करने ही के भाव हैं। परन्तु इस प्रकार की दृष्टि हानिकारक है क्योंकि उसमें जो जो पदार्थ हों, वे सभी तो देखने चाहिए। यदि वे न देखे जाएंगे, तो हानि के अतिरिक्त और हो-ही क्या सकता है ?

इसी प्रकार मोटे-मोटे नितम्बों के प्रति भी कहा जा सकताहै।

जहा सुगठित और सौन्दर्यपूर्ण स्त्री के शरीर को काम-क्रीड़ा के आनन्दका सघन रूप देखता हूँ,वहा वह मानव शरीर का विकास और प्रकृति का सौन्दर्य भी तो देखना चाहिए। जहा सुगठन तथा सौन्दर्य हो वहा रक्त, मांस आदि की अधिकता, परिमितता और शुद्धता आदि ही तो होती है। इन्हीं के कारण सुगठन तथा सौन्दर्य प्रकट होता है और वे रक्त-मास आदि, शरीर के अस्तित्व का पालन करते हुये, इन्द्रियों की शक्ति को सशक्त रखते हैं। जहा स्त्री अपने विभिन्न अंगों तथा इन्द्रियों से विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, वैयक्तिक, सामुहिक, वस्तुनिर्माण, व्यापार, गृह-प्रबन्ध चिकित्सा आदि कार्य करती है—वहा तू केवल काम-

क्रीड़ा का करना ही क्यों देखता है ? वे सब विषय भी तो देखने चाहिएं। यदि तू उन्हे नहीं देखकर काम-क्रीड़ा का विषय ही देखेगा तो उसकी और समाज की इच्छा के विरुद्ध कार्य होगा। परिणाम यह होगा कि वह-तो प्राप्त होगी नहीं; हां, काम-क्रीड़ा के सुख सहित सब प्रकार के सुखों को क्षीण तथा नष्ट अवश्य कर लेगा। अतः स्त्री में काम-क्रीड़ा करने के अतिरिक्त बहुत से विषय है, उन्हे भी देखना चाहिए।

तेईसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—
(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

साधक अब तेईसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि से विचार कर रहा है कि—

स्त्री में काम-क्रीड़ा के अतिरिक्त कौटम्बिक, सामाजिक तथा राजनैतिक आदि कर्मण्यता और वह बालकों का प्राण रक्त-मांसमय पिण्ड, उसके नेत्रों में स्नेह, रुक्षता और विविध विषयों का देखना एवं क्षीण-वृद्धि, रोगता-निरोगता तथा काम-क्रीड़ा आदि—बहुत सी बातें हैं। इन सब विषयों का व्यवहार या रचना एक साथ नहीं हो सकती। उसमे कभी कोई रचना या व्यवहार होता है और कभी कोई रचना या व्यवहार अथवा वह कभी कोई रचना या व्यवहार करती

है तो कभी कोई रचना या व्यवहार। यदि सब समय तथा सब के साथ एक काम-क्रीड़ा करने का ही व्यवहार देखता रहेगा, तो वह-तो प्राप्त होगी नहीं; हाँ, अनेक प्रकार के दुख और हानियाँ अवश्य उठानी पड़ेगी। अतः इन से बचने के लिये सब स्त्रियों में और सब समय में एक काम-क्रीड़ा करने का व्यवहार ही नहीं देखना चाहिए, अन्य व्यवहार भी देखना चाहिए। स्त्री में जैसा व्यवहार हो, उसी के अनुसार उस के भाव देखना उचित है। यही श्रेयस्कर है!

(कर्मयोग)—

यह अध्याय भी कर्मयोग से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रखता है। इस अध्याय से इस विषय का ज्ञान होता है कि सब के साथ सब समय में 'एक ही व्यवहार करना' न देखना चाहिए और न उस प्रकार से व्यवहार करना चाहिए।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के तेईसवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

तेईसवा अध्याय समाप्त

शुभम्

चौबीसवां अध्याय

निर्मित तत्वों की सफलता का क्या प्रमाण है?—

साधक विचार करता है कि काम-क्रीड़ा करने के विषय में मैंने मन को वश मे करने के लिये अनेक नियम या तत्व प्रकृति या स्वात्मानुभूति के आधार से जाने हैं अथवा यो कहना चाहिए कि बनाये हैं और उनका अभ्यास भी किया गया है। परन्तु मैं उन पर विश्वास कैसे करलूं कि वे मन को वश मे कर लेंगे..? विचारों के आधीन मन हो जाएगा और इच्छा के अनुसार मनोवेग प्रवाहित होने लगेगा..? मुझे कैसे संतोष हो कि मैंने जो नियम बनाये हैं या जाने है, वे सत्य हैं..? जिस फल की प्राप्ति के लिये नियम बने हैं, वे उसी फल को देंगे और पूर्ण रूप से देंगे—इसका मेरे पास क्या प्रमाण है ? मैं किस आधार या विश्वास से इस विषय मे अधिक समय और शक्ति को व्यय करूं? यह प्रश्न उठता है, इसका समाधान होना आवश्यक है। इसके बिना काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विषय मे मन को नियंत्रण करने के लिये आगे रुचि

नहीं होती। अत अब इसी बात के जानने की आवश्यकता है कि मैंने काम-क्रीडा सम्बन्धी विषय में जो नियम बनाये या जाने हैं, उनके सत्य होने में क्या प्रमाण है ? किस बात के होने से समझा जाए कि हमें हमारे नियम यथावत् फल देंगे ? नियमों या तत्वों के सत्य होने या न होने से पूर्व सत्य के निश्चय करने का सिद्धान्त जान लेना चाहिए।

सत्यासत्य निर्णय करने के दो प्रकार—

हम सत्यासत्य का निर्णय दो प्रकार से करते हैं अथवा सत्यासत्य निर्णय करने के लिये हम दो प्रकार प्रयोग में लाते है (१) लक्षण का और (२) स्पर्श का। पहले लक्षण के विषय में ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

लक्षण

१. संसार का अस्तित्व लक्षणमय है—

यह जितना भी जड़-चेतनात्मक जगत है, सो लक्षणमय है। लक्षण से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। यदि संसार में लक्षण न रहे तो उसका अस्तित्व ही न रहे। पहाड़, नदी, वृक्ष, पौधे, हाथी, सिंह, शशा, गाय, घोडा और मनुष्य आदि समस्त जड-चेतन जगत लक्षण रूप है।

(१. जड़ जगत का अस्तित्व)—

—(पहाड़)—पत्थर और मट्टी के एक प्रकार के समूह को— जो आकाश की ओर उठा हुआ हो, हिल न सकता हो, और जिसमे चेतनता न हो—पहाड़ कहते हैं।

जहां-जहां भी इस प्रकार का समूह या लक्षण होगा, वहां-वहां ही उसे पहाड़ कहेंगे।

—(नदी)—प्रचुर परिमाण में बहने वाले जल-समूह को नदी कहते हैं।

जहां-जहां भी यह लक्षण मिलेगा, वहां वहां ही वह नदी कहलाएगी।

—(वृक्ष)—पृथ्वी मे जिसकी जड़े फैलती हो, जो पृथ्वी से बाहर निकल कर आकाश की ओर ऊंचा उठकर फैलता हो, जिससे पत्ते फूल फल निकलते हो और अपने स्थान पर स्थिर हुआ हिल सकता हो परन्तु कहीं आ-जा न सकता हो। एवं साथ ही उसे अनुभव करने की शक्ति न हो, उसे वृक्ष कहते हैं।

इस प्रकार का जहां-जहां भी लक्षण मिलेगा, वहां-वहां वह वृक्ष कहलाएगा।

—(पौधा)—वृक्ष का ही एक भेद होता है, जो बहुत छोटा होता है।

—(बेल) - वृक्ष ही का एक भेद जो स्वयं सीधा आकाश

की ओर न जाकर दूसरे के सहारे ऊचे चढ़े, वेल कहलाती है।

जहा-जहा यह लक्षण मिलेगा, वहा-वहा ही वह वेल कहलाएगी।

अतः लक्षणों ही से किसी पदार्थ का अस्तित्व होता है और लक्षणो ही से वह पहचाना जाता है। यह-तो हुई जड़-जगत की वात। अव चेतन जगत की वात करनी चाहिए।

(२. चेतन जगत का अस्तित्व)—

चेतन जगत मे पशु-पक्षी आदि और मनुष्य होते हैं। जिन मे भी पृथक्-पृथक् लक्षण होते हैं। यदि उनमे उनका लक्षण न रहे तो उनका अस्तित्व ही न रहे और वे लक्षण ही से पहचाने जाते हैं।

—(पक्षी)—पक्षी एक प्रकार का पिण्ड होता है, जिसमे चेतनता होती है, जो सुख-दुःख का अनुभव करता है, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये यत्न करता है, जिसके पक्ष होते है और जो आकाश मे उड़ सकता है—उसे पक्षी कहते हैं।

जहां-जहा यह लक्षण मिलेगा वहां-वहां वह पक्षी ही कहलाएगा।

—(पशु)—पशु एक प्रकार का पिण्ड होता है,जो उड़ नहीं सकता, जिसका प्राय. स्थल पर ही गमनागमन होता है,

निवास तो स्थल पर है ही, जिसे सुख-दुःख का अनुभव होता है और जो सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के लिये साधारण ही उपाय कर पाता है, एवं जिसके प्रायः चार टांगे ही होती है — उसे पशु कहते है।

इस प्रकार का लक्षण जहां-जहां होगा वहां-वहां पशु ही कहलाएगा और वह पशु-संज्ञा ही से पहचाना जाएगा। यदि उन में यह लक्षण न रहे, तो पशु का अस्तित्व ही न रहे। पशु का अस्तित्व ही इन लक्षणों से है।

—(मनुष्य) —मनुष्य भी एक प्रकार का चेतन पिण्ड है। जिसके दो हाथ-दो पैर होते हैं, साथ ही अन्य अङ्ग भी हैं। (अन्य अङ्ग तो अन्य चेतन पिण्डों में भी हैं परन्तु उनका वर्णन नहीं किया गया है) जिसको अन्य चेतन पिण्डों की अपेक्षा सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति का अधिक ज्ञान है और वह उसे व्यवहार में भी ला सकता है। एवं जो समस्त जड़-चेतन पिण्डों को अपने वश में करके उन्हें व्यवहार में ला सकता है —उसे मनुष्य कहते हैं।

इस प्रकार का लक्षण जहां-जहां होगा वहां वहां ही नर मनुष्य कहलाएगा और वह-लक्षण मनुष्य संज्ञा ही से पहचाने जायेंगे। यदि ये लक्षण न रहें तो मनुष्य का अस्तित्व ही न रहे।

(३. संसार के अस्तित्व का मूल कारण लक्षण है)—

उपरोक्त विचार के उपरांत यही सिद्ध होता है कि संसार का अस्तित्व लक्षणमय है। यदि लक्षण न रहे तो संसार का अस्तित्व ही न रहे। लक्षणों ही से उसके भेद और उपभेद समझे जाते हैं। इस लिये संसार के अस्तित्व का मूल कारण लक्षण ही है।

२ संसार का कर्म भी लक्षणमय है —

जबकि संसार का अस्तित्व लक्षण ही है तो उसके द्वारा जो भी कर्म होगा, वह लक्षणमय ही होगा। उससे भिन्न नहीं।

(१. जड़ जगत का कर्म)—

—(पहाड़)—पहाड़ जड़ तथा लक्षणमय पिण्ड है। वह स्थिर है, हिल-जुल नहीं सकता। उसमें बढ़ने-घटने का कर्म लक्षणमय है। जो मट्टी, जल और पत्थर आदि रूप में ही होता है। वह लक्षणमय कर्म उसके द्वारा न होकर किसी अन्य के द्वारा ही होता है। जो लोगों को दृष्ट आता भी है और नहीं भी। जो नहीं आता, वह केवल विज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। जब वह बढ़ा हुआ होता है तो उसमें मट्टी तथा पत्थर आदि की मात्रा अधिक होती है और जब वह घटा हुआ होता है तो वह मात्रा कम हो जाती है। जो लक्षण रूप है।

—(नदी)—जड़ और बहने वाला प्रचुर परिमाण का जल समूह, नदी है। जिसमे अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती है, जिसे कर्म कहते हैं। परन्तु वे जनता के व्यवहार मे कर्म नही कहे जाते। वे लहर, भँवर, बुदबुदे और जल की उछाल आदि नाम से ही संबोधन किये जाते है। जो भिन्न-भिन्न लक्षण से युक्त हैं।

—(वृक्ष)—वृक्ष का अस्तित्व लक्षणमय है। जिसका ऊपर वर्णन कर आया हूँ। उसके द्वारा जो भी कर्म होगा, लक्षणमय ही होगा और होता भी है। क्योंकि उसका बढ़ना, घटना (टूटना), सूखना, हरा होना, पत्ते, फूल और फल निकलना— सब कर्म ही माने जा सकते है। जो लक्षण से युक्त है और लक्षण से भिन्न कुछ नहीं।

उपरोक्त प्रकार से समस्त जड-जगत का कर्म लक्षणमय होता है, लक्षण से भिन्न कुछ नही।

(२. चेतन जगत का कर्म)—

अब चेतन जगत का कर्म लक्षणमय होना है, वर्णन करते है।

—(पशु-पक्षी आदि जगत का)—पशु-पक्षी आदि का अस्तित्व लक्षणमय पिण्ड है। उनके द्वारा जो कर्म होने चाहिए सो लक्षणमय ही और होते भी लक्षण से युक्त ही

हैं। वे खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं, जागते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, सोचते हैं, विचारते हैं, निश्चय करते है और किसी से प्रेम करते हैं या द्वेष करते हैं—सब कर्म है और लक्षणमय ही हैं, लक्षण से बाहर कुछ नहीं।

(बाह्य कर्म,) जो बाह्यकर्म हैं; उनके लक्षण तो देखने, सुनने और स्पर्श करने से स्पष्ट हो जाते हैं। परन्तु—

(मानसिक कर्म), जो मानसिक कर्म हैं, उनके लक्षणों का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। उनका तो इन्द्रियों के द्वारा न होकर बुद्धि और अनुभव के द्वारा होता है।

इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत का अन्तःकरण या चेतना मे प्रतिबिंब पड़ता है और वह ग्रहण होकर जब-तब फुरकर भासने लगता है। उस भासने (फुरने) ही पर पशु-पक्षी आदि निश्चय करते है कि कौन वस्तु किस प्रकार की है? किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए? किससे प्रेम करना चाहिए और किससे द्वेष? निश्चय करने के उपरान्त वे निश्चित भावों को व्यवहार मे लाते हैं। जिनसे उनके भावों का ज्ञान होता है।

पशु-पक्षी आदि के अन्तःकरण मे जो भी स्फुरण और निश्चय आदि होता है, वह कर्म ही होता है—जो लक्षणमय ा है, लक्षण से बाहर कुछ भी नहीं। उन मे जो लक्षण

नहीं होता, वह प्रकट नहीं होता। जिसे न वे जानते है और न दूसरे ही। उन मे किसी प्रकार का आंतरिक या मानसिक लक्षण होता है, वह उनकी इन्द्रियों के द्वारा प्रकट हो ही जाता है। अर्थात् वे अपने लक्षण के अनुसार व्यवहार कर ही जाते है और उन व्यवहारों से उनके मानसिक कर्म का ज्ञान हो जाता है। उन व्यवहारों का ज्ञान सरकसो और उनसे वाहर रहने वाले पशु-पक्षियों आदि से हो जाता है।

अत कहा जा सकता है कि पशु-पक्षियों आदि से शारीरिक या मानसिक जो भी कर्म होता है, वह लक्षणमय ही होता है, लक्षण से अतिरिक्त और कुछ नहीं।

२ संसार को सुख-दुःख देनेवाला भी लक्षण ही है)—

(१. जड जगत को)—

जड़ जगत को तो सुख-दु.खका अनुभव होता नहीं परन्तु उस पर अनुकूल और प्रतिकूल कर्म का प्रभाव अवश्य पड़ता है। उसे सुख-दु.ख का अनुभव नहीं होता। इसलिये यहाँ जड़ जगत के वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है और आगे भी जड़ जगत के वर्णन करने की आवश्यकता न रहेगी। इसलिये जड़ जगत का वर्णन यहीं पर रोक कर—आगे चेतन जगत का ही वर्णन किया जाएगा।

(२, पशु-पक्षी आदि जगत को)—

पशु-पक्षी आदि का अस्तित्व लक्षण है। उनके द्वारा जो भी कर्म होता है, वह भी लक्षणमय होता है। उनको अपना कर्म ही सुख-दु ख देता है और वह कर्म लक्षणमय है। इसलिये पशु-पक्षी आदि चेतन जगत को सुख-दु ख देनेवाला लक्षण ही है, अलक्षण नहीं।

४ संसार को प्रयोजन भी लक्षण ही से है—

जबकि पशु-पक्षियों आदि का अस्तित्व लक्षणमय है उनके द्वारा है जो कर्म होता है वह लक्षणमय होता है और जो सुख-दुख देता है वह लक्षण ही देता है तो—उनको प्रयोजन भी लक्षण ही से होना चाहिए और है भी।

पशु-पक्षी आदि को कोई मारता है तो वे भागते हैं या उडते है क्योंकि उन पर लक्षणों का आघात होता ह, जो उनमें लक्षण रूप से स्थिर होकर पीड़ा का अनुभव कराता है। अत वे—लक्षणों के आघात अपने पर पड़ने से बचने के लिये और लक्षणरूप पीड़ा का अनुभव न होने देने के लिये—भागते है, बचते है या उड़ते हैं। यदि उनपर लक्षण रूप आघात और उन मे लक्षणरूप पीडा का अनुभव न हो तो—न-तो वे भागते हैं, न बचते हैं और न उडते है। अत. इस उदाहरणसे सिद्ध हो जाता है कि उन्हे आघात और पीड़ाके लक्षणों ही से प्रयोजन

है। यदि उन्हें आघात और पीड़ा के लक्षणों का अनुभव न हो, तो उन्हे उन से प्रयोजन नहीं।

यदि कोई किसी पशु-पक्षी आदि को कुछ खाने-पीने को देता है; जो उनके शरीर में पहुँचकर, वेदना को शान्तकर, सुख की अनुभूति कराता है। तो वह खाना-पीना स्वय लक्षण रूप है और वह शरीर रूप लक्षण में लक्षण रूप होकर स्थिर होता है। जो उन्हे प्रिय लगता है और वे उस लक्षण को अपने मे स्थिर होने के लिये बारंबार इच्छा करने लगते है। इसलिये उन्हे जहाँ भी अपने अनुकूल लक्षण मिलते है, वे वहाँ ही रहते है या रहना चाहते है। और जिस व्यक्ति से वह लक्षण मिलता है, वे उससे अनेक प्रकार से प्रेम करने लगते हैं और जहाँ तक हो सकता है उसकी सहायता करते है। अतः कहा जा सकता है कि पशु-पक्षी आदि को लक्षण ही से प्रयोजन है और जहाँ अलक्षण होता है, वहाँ उन्हे कुछ प्रयोजन नहीं होता।

५. संसार लक्षण ही के द्वारा निश्चय करता है—

पशु या पक्षी आदि को प्रयोजन लक्षण ही से है, इसलिये वे लक्षण ही का निश्चय करते रहते है कि कौन अनुकूल है और कौर प्रतिकूल ? कौन सत्य है और कौन असत्य ? वे लक्षणों का जिन साधनों से निश्चय करते हैं, वे साधन लक्षण रूप ही है।

६. संसार के पास निश्चय करने का साधन भी एक लक्षण ही है—

जबकि पशु या पक्षी आदि का निश्चय करने वाला पिण्ड लक्षणमय है, तो वे किसी विषय का निश्चय लक्षणो के द्वारा ही करेंगे। उनके पास अन्य साधन न होगा और न है ही। पशु और पक्षियो आदि की ज्ञानेन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् है। उन पृथक्-पृथक् ज्ञानेन्द्रियों मे भी ज्ञानेन्द्रियाँ पृथक्-पृथक है, जिनको पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है। ऐसा सुना और पढ़ा जाता है। परन्तु उनके विषय मे विशेष अनुभव नहीं है, इसलिये उनके विषय मे विस्तार के साथ समझाकर कहना युक्ति संगत नहीं है। इस विषय का मनुष्य प्रसग मे अच्छा वर्णन किया जाएगा। यहाँ तो थोड़ा-सा वर्णन करके समाप्त किया जाएगा।

पशु-पक्षियों आदि की ज्ञानेन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। वे अपनी कर्णेन्द्रिय से शब्द सुनते हैं और नेत्रेद्रिय से किसी विषय (वस्तु आदि) को देखते है। शब्द सुनने से देखा नहीं जाता और देखने से शब्द नहीं सुना जाता। जब वे किसी पिण्ड के शब्द का निश्चय करते हैं तो उन्हे शब्द और रूप दोनो एक साथ सुनने तथा देखने पडते है। तभी वे किस पिण्ड । क्या और किस प्रकार का शब्द है, निश्चय कर पाते है।

इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि उनके पास निश्चय करने का साधन एक लक्षण ही है, दूसरा नहीं ।

दूसरे यदि उनका स्वामी उनके सामने आता है तो वे उसके साथ प्रेम का व्यवहार करने लगते हैं और यदि उनके सामने उनका विरोधी या अन्य दूसरा आता है तो वे उससे शत्रुता का व्यवहार करने लगते हैं, अर्थात् वे उसे हानि पहुँचाने का यत्न करने लगते हैं । उनके अनेक स्वामी या मिलने वाले और अनेक विरोधी होते हैं । वे उनका निश्चय करते रहते हैं । जैसा भी व्यक्ति होता है, वे उसके साथ वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं । अब यह देखना है कि पशु या पक्षी आदि के पास निश्चय करने का कौन-सा साधन रहता है ?

(पशु-पक्षी आदि के पास निश्चयकारक साधन, एक लक्षण है)—

पशु या पक्षी आदि के पास स्वामी और शत्रु सब प्रकार के व्यक्ति या पदार्थ तो रहते नहीं, जिन से वे निश्चय करते रहें । जबकि कोई भी व्यक्ति या पदार्थ उनके पास नहीं रहते, तो वे किस साधन से निश्चय करते हैं ? ऐसी अवस्था में जब उनके पास इन्द्रियों के सामने आई हुई वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रतिबिंब पड़ते हैं और वे उनके अन्तःकरण में स्थिर हो जाते है, तो कहा जा सकता है कि वे ही— प्रतिबिंब फुरकर

उन्हे भासने लगते हैं। और उन्हीं के द्वारा फिर वे इन्द्रियों के सन्मुख वे-ही वस्तुएं या व्यक्ति आने पर निश्चय कर लेते है। अत कहा जा सकता है कि पशु या पक्षी आदि के पास निश्चय करने का साधन एक लक्षण ही है, अन्य नहीं।

७ लक्षण के अनुसार निश्चय—

पशु या पक्षी आदि का निश्चय करने वाला पिण्ड लक्षण-मय है और उनके पास निश्चय करने का साधन भी लक्षण ही है। क्योंकि यदि वे मानसिक चित्र(वस्तु प्रतिबिंब) से निश्चय करते हैं तो लक्षण है और यदि बाह्य वस्तु, व्यक्ति या चित्र से निश्चय करते हैं तो वह वस्तु या व्यक्ति आदि लक्षणमय होता है। अत. पशु या पक्षी आदि चेतन जगत लक्षण के अनुसार निश्चय करता है। जैसा जैसा लक्षण होता है, वैसा-वैसा निश्चय होता है। युक्त लक्षण होता है तो युक्त निश्चय होता है, अयुक्त लक्षण होता है तो अयुक्त निश्चय होता है और यदि अलक्षण होता है तो कुछ भी निश्चय नहीं होता। इस विषय को एक उदाहरण देकर समझाता हूँ।

(१. युक्त लक्षण)—

एक कुत्ता है। उसके सन्मुख प्रकाश में उसका स्वामी आता है और वह अपने पूर्ववत् लक्षणों मे होता है या दृष्ट आता है तो वह कुत्ता अपने स्वामी को पहचान करके प्रेम से पूँछ हिलाने लगता है। यह है युक्त लक्षण।

(२. अयुक्त लक्षण)—

यदि उसी कुत्ते के सामने वही स्वामी अंधकार में या विचित्र लक्षणों से आए तो वह उसे न पहचानकर भौंकने लगता है। यह है अयुक्त लक्षण। जब स्वामी बोलता है तो उस शब्द को पहचानकर कुत्ता चुप हो जाता है और प्रेम से पूंछ हिलाकर उसके पैरों में लोटने लगता है। यह हो जाता है युक्त लक्षण।

(३. अलक्षण)—

जब कुत्ते के सन्मुख उसका स्वामी नहीं होता तो उसके सामने कोई लक्षण नहीं होता और वह किसी भी प्रकारका युक्त या अयुक्त निश्चय नहीं कर पाता। यह है अलक्षण।

सारांश—

अब तक यह वर्णन किया गया है कि समस्त सृष्टि का अस्तित्व लक्षणमय है। उसके द्वारा जो भी कर्म होगा, लक्षणमय होगा और होता है। (जड़ पदार्थ को सुख-दुःख नहीं होता परन्तु चेतन को होता है। उसे ही अनुभव होता है। इसलिये जड़ पदार्थ का विशेष वर्णन न करके पशु-पक्षी का कुछ विशेष वर्णन करके समझाया गया है) सुख-दुःख भी लक्षण ही देता है और प्रयोजन भी लक्षण ही से है। पशु-पक्षियों आदि के पास निश्चयकारक पिण्ड और निश्चय करने का साधन लक्षण

ही है और वे लक्षणों का ही निश्चय भी करते रहते हैं। वे लक्षण के अनुसार निश्चय करते हैं--युक्त लक्षण होने पर युक्त, अयुक्त लक्षण होने पर अयुक्त और अलक्षण होने पर कुछ भी नहीं। ये लक्षण समस्त सृष्टि में विद्यमान हैं। इसलिये ये ही लक्षण मनुष्य में भी विद्यमान हैं।

(कुछ सूचना)—

अत दुबारा इन लक्षणों का वर्णन करना असगत होगा। फिर भी सजातियों के कर्म से सजातीय व्यक्तियों को अधिक तथा सरलता से बोध होता है। इसलिये मनुष्य का प्रसग लेकर 'लक्षण सिद्धान्त' का दुबारा वर्णन किया जाएगा। उसका अधिक विस्तार या पुनरावृत्ति होने पर पाठक को ऊबना नहीं चाहिए, क्योंकि इस मनुष्य प्रसग से पाठक या साधक की अधिक ज्ञान-वृद्धि होगी।

---

१. मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है—

मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है। यदि उसमें लक्षण न रहे तो उसका अस्तित्व भी न रहे।

(१. पंच ज्ञानेंद्रिय और उनके विषय)—

मनुष्य में पाच ज्ञानेन्द्रियां हैं (१) कर्ण, (२) त्वचा, (३) नेत्र, (४) रसना और (५) नासिका। कर्णेन्द्रिय से ह शब्द सुनता है, त्वचा इन्द्रिय से वस्तु का स्पर्श करता है,

नेत्रेन्द्रिय से किसी वस्तु या विषय को देखता है, रसना इन्द्रिय से किसी वस्तु के स्वाद का ज्ञान करता है और नासिका इन्द्रिय से किसी वस्तु की गन्ध का ज्ञान करता है। इस प्रकार मनुष्य में पृथक्-पृथक् ज्ञान रखने वाली इन्द्रियों का संग्रह है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं रखती। यदि एक ज्ञानेन्द्रिय नष्ट हो जाए, तो दूसरी ज्ञानेन्द्रिय उसकी पूर्ति नहीं कर सकती। न कर्णेन्द्रिय देख सकता है और न नेत्रेन्द्रिय सुन सकती है। इसी प्रकार समस्त ज्ञानेन्द्रिय एक-दूसरे का विषय ग्रहण नहीं कर सकतीं। वे अपने-अपने ही विषय का ज्ञान रखने या करने की सामर्थ्य रखती हैं। जब इन्हें किसी वस्तु का ज्ञान करना होता है, तो वे अपना-अपना कार्य करने लगती हैं। कर्ण शब्द का ज्ञान करने लगता है, त्वचा कोमल-कठोर तथा शीत-उष्ण आदि स्पर्श का ज्ञान करने लगती है, नेत्र रूप-रंग तथा आकृति आदि का ज्ञान करने लगता है, रसना कड़वे-मीठे आदि स्वाद को जानने लगती है और नासिका गंध का ज्ञान करने लगती है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संग्रहित ज्ञान एक स्थान पर एकत्रित होता है। जब ज्ञान एकत्रित हो जाता है तो मनुष्य वस्तु के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का एकत्र और प्रकार रूप का ज्ञान करता है कि अमुक वस्तु में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध हैं और उसमें इस प्रकार का तथा इतने परिमाण में एकत्र हैं - जो लक्षण रूप है।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां, उनके विपय और ज्ञान सब लक्षणरूप है। यदि मनुष्य मे लक्षणरूप ज्ञानेन्द्रिया न रहं, तो मनुष्य का अस्तित्व ही न रहे।

(ज्ञान के एकत्र होने का स्थान और पंच अन्तःकरण का स्वरूप)—

जहा ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्दादि पृथक्-पृथक् ग्रहण होकर एक स्थान पर एकत्रित होते है (शब्दादि ग्रहण का अर्थ उनके प्रतिबिम्ब ग्रहण से है, विषयों के ग्रहण से नही), वहाॅ ही किसी पदार्थ के रूप तथा कार्य का निश्चय होता है। वह स्थान शरीर में ही है। हम शरीर के भी दो भाग कर सकते है, बाहर और भीतर।

—(शरीर के बाहर)—शरीर के वाहर न-तो विषयों का प्रतिविम्ब ग्रहण होता है और न निश्चय का कार्य ही। क्योंकि शरीर के वाहर घर्षण, लेपन या वस्त्रादि का आच्छादन होने पर—न-तो ज्ञानेन्द्रियों के विषय ग्रहण होने चाहिए और न वहा निश्चय का कार्य ही। दूसरे ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने विषयों को अपने-अपने अन्तर में ही खींचती दृष्ट आती हैं, न-कि वाहर स्थापन करती हुई।—

—(शरीर के भीतर)—अत सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानेन्द्रियों का विपय शरीर के अन्तर ही मे एकत्रित होता है।

—(ज्ञान के एकत्र होने का स्थान मस्तिष्क)—शरीर के अन्तर मे भी उसके सब स्थान मे नहीं, किसी विशेष स्थान पर ही प्रतिबिम्ब ग्रहण होकर निश्चय का कार्य होता है। अब प्रश्न उठता है कि वह विशेष स्थान कहाँ हो सकता है। जाघ, पेट और हाथ मे तो वह स्थान हो नहीं सकता क्योंकि इन मे अंग-भग होने या इन में विकार आने पर भी प्रतिबिम्ब गृहण और निश्चय का कार्य बराबर होता रहता है। वह विशेप स्थान हो सकता है तो गले के ऊपर मस्तिष्क मे। क्योंकि मस्तिष्क के समीप ही ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र-स्थल है, अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियां वहां पर ही एकत्रित है और वे ज्ञानेन्द्रिया अपने-अपने ज्ञान को अपने भीतर खींचती रहती है। वह भिन्न-भिन्न ज्ञान उन इन्द्रियों के ऊपर कही मस्तिष्क मे स्थिर होकर एकत्रित होता चला जाता है, जहॉ चेतना का केन्द्र होता है।

—(पंच अन्तःकरण के स्वरूप की उत्पत्ति और लक्षण)—उस चेतना मे एकत्रित ज्ञान स्फुरण होने लगता है, जो 'मन' नाम से कहा जाता है। जब चेतना मे उस स्फुरण से निश्चय का कार्य किया जाता है, तो वह 'बुद्धि' संज्ञा को प्राप्त होता है। जब स्फुरण का बारम्बार स्मरण किया जाता है, तो उसे 'चित्त' कहा जा सकता है। जब चेतना मे

स्फुरण, निश्चय और चिन्तन के उपरान्त कर्ता-भाव का उदय होता है, तो 'अहंकार या जीव' कहलाने लगता है। अहंकार के उदय होते ही चेतना की 'जीव' संज्ञा हो जाती है। इस जीव का स्वरूप 'मैं' के स्फुरण रूप मे होता है। यह कर्ता-अकर्तापन और सुख-दुःख का अनुभव करने वाला है। जो चेतना के अत्यधिक निकट है। यह अन्त करण या चेतना का चौथा अंग है। पांचवॉ अंत.करण का अंग है 'चेतना'। यदि मनुष्य में चेतना न रहे तो अन्तःकरण के अन्य चारों अंग व्यर्थ हैं, अर्थात् उनका अस्तित्व ही न रहे। क्योंकि अन्य चारो अंग चेतना-नदी की विभिन्न क्रियाए ही हैं, जो उसी के रूप हैं। इस प्रकार पंच अन्त'करण का स्वरूप बनता है, जो लक्षणरूप है।

यदि मनुष्य में पंच अन्त करण न रहे, तो उसकी ज्ञानेन्द्रियाॅ व्यर्थ हैं और उसका अस्तित्व भी न रहे। अत अन्त.करण के आधार से सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है।

(३. छः कर्मेन्द्रियां)—

—(मुख इन्द्रिय)—हमारे शास्त्रों में पांच कर्मेन्द्रियां वर्णन की गई है (१) वाणी, (२) हस्त, (३) गुदा, (४) लिंग और (५) पाद। ये कर्मेन्द्रियां अन्त.करण से प्रेरित होकर कार्य करती रहती है। जो कार्य सबको दिखाई देता रहता है,

अर्थात् समस्त मनुष्यों की या समस्त प्रकार के जीवों की ज्ञानेन्द्रियों का विषय बनता रहता है। जो स्पष्ट रूप से लक्षणमय है, अर्थात् वह विषय भिन्न-भिन्न आकृति, गुण, परिमाण और क्रिया आदि में होता है। इन पांच कर्मेन्द्रियों के साथ यदि एक कर्मेन्द्रिय और मिला ली जाए तो कोई हानि नहीं प्रतीत होती, वरन् लाभ ही प्रतीत होता है। वह इन्द्रिय 'मुख इन्द्रिय' हो सकती है और उस इन्द्रिय के भाग (१) माथा, (२) आंख, (३) नाक, (४) गाल और (५) ओष्ठ है। जिस प्रकार प्रसिद्ध पांच कर्मेन्द्रिया अंत करण से प्रेरित होकर कर्म करने लगती हैं, उसी प्रकार 'मुख इन्द्रिय' भी अन्त करण से प्रभावित होकर कार्य करने लगती है।

—(छःहों कर्मेन्द्रियों का कार्य)—जिस प्रकार समस्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपना-अपना कार्य है, उसी प्रकार कर्मेन्द्रियो का कार्य भी अपना-अपना है। परन्तु किसी-किसी कर्मेन्द्रिय का अन्य इन्द्रिय से किसी अश मे कार्य मिल भी जाता है। (१) वाणी इन्द्रिय का 'बोलना' कार्य है, (२) हस्त इन्द्रिय का 'ग्रहण-त्याग' आदि कार्य है, (३) गुदा इन्द्रिय का 'मल-त्याग' तथा 'संभोग' कार्य भी है, (४) लिंग इन्द्रिय का 'मूत्र-त्याग' तथा 'संभोग' कार्य है, (५) पाद इन्द्रिय का 'चलना' आदि कार्य है और (६) ठी मुख इन्द्रिय का अन्तः-

करण के 'अनेक प्रकार के भाव-प्रकाशन' का कार्य है, जो नेत्रेन्द्रिय का विषय होता है।

जहा अन्य पाच कर्मेन्द्रियाँ अन्त करण के भावों को ज्ञानेन्द्रियों का विषय बनाती हैं, वहा मुख इन्द्रिय भी अन्तःकरण के भावों को ज्ञानेन्द्रिय का विषय बनाती है। इसलिये जहाँ पाँच कर्मेन्द्रिय है, वहां एक 'मुख-इन्द्रिय' और मिलने से छ इन्द्रिय बन जाती है। इन छःहों कर्मेन्द्रियों के कर्म की लक्षणता स्पष्ट है।

(सारांश)—

उपरोक्त विवेचना से सिद्ध हो जाता है कि छ कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पंच अतःकरण से 'मानव चेतन पिण्ड' की रचना हैं, सो लक्षणमय है। ज्ञानेन्द्रिय और उनके विषय लक्षण से युक्त हैं, कर्मेन्द्रिय के कार्य लक्षण से युक्त हैं और पंच अन्त करण भी लक्षण से भिन्न नहीं। अत सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है। यदि उसमें लक्षणता न रहे, तो उसका अस्तित्व भी न रहे।

२. मनुष्य का कर्म भी लक्षणमय है—

जबकि मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है तो उसके द्वारा जो भी कर्म होगा, वह लक्षणमय ही होगा और होता भी है। मनुष्य के द्वारा तीन प्रकार से कर्म होते है, (१) शारीरिक, २) वाचिक और (३) मानसिक ।

(शारीरिक कर्म और उसके भेद)—

—(शारीरिक कर्म की परिभाषा)—शारीरिक कर्म वह होता है, जो क्रिया देह के द्वारा की जाए या हो जाए

देह के द्वारा किया हुआ कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, जिनका भेद इन्द्रियों के द्वारा सरलता से जाना जाता है। इस लिये शारीरिक कर्म के लक्षण तो स्पष्ट है । शारीरिक कर्म भी दो प्रकार का होता है, आन्तरिक और बाह्य ।

(आंतरिक-शारीरिक कर्म)—वह होता है जिस क्रिया का प्रभाव त्वचा, रक्त, मॉस, वीर्य आदि और शारीरिक यन्त्रो पर पड़ता है ।

—(बाह्य-शारीरिक कर्म)—वह होता है, जो शरीर के बाहर के अंगों पर प्रभाव डाले या इन्द्रियॉ क्रियाशील हो जाएँ।

इस प्रकार से शरीर के आतरिक और बाह्य कर्म लक्षणमय होते है, जो इन्द्रियो के द्वारा स्पष्ट रूप से जाने जाते है ।

(२. वाचिक कर्म)—

—(वाचिक कर्म का लक्षण)—दूसरे प्रकार का कर्म वाणी का होता है । वाणी का वह कर्म जिसमें जिह्वा के शब्दों के द्वारा भाव प्रकाशन का कार्य हो, उसे वाचिक कर्म कहा जाता है ।

शब्दों और उनके भावों का प्रभाव पड़ता हुआ। प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जो लक्षण मे भिन्न नहीं होता।

(३. मानसिक कर्म)—

—(मानसिक कर्म की परिभाषा— मानसिक कर्म वह होता है, जो अन्त करण के द्वारा कार्य हो या जो अन्त करण का कार्य इन्द्रियो के द्वारा व्यक्त हो।

—(मानसिक कर्म का प्रभाव)— मानसिक कर्म का प्रभाव अंत:करण और शरीर दोनों पर पडता है। अंत.करण पर पडा हुआ प्रभाव केवल उसका जीव (भुक्त-भोगी) ही जानता है या अनुभव करता है। और शरीर पर पड़े हुये प्रभाव को स्वयं जीव और अन्य मनुष्य भी जान लेते हैं।

मानसिक-कर्म का प्रभाव अंत करण पर पड़ता है तो अंत:करण कर्म करने लगता है और शरीर पर पड़ता है तो शरीर कर्म करने लगता है, अर्थात् इन्द्रियाँ कर्म करने लगती है। दोनों ही स्थलों मे मानसिक कर्म लक्षण रूप होता है, क्योंकि उसका रूप तथा दशा आदि भिन्न-भिन्न होती हैं। जिनका स्वयं कर्ता मनुष्य तथा अन्य दूसरे मनुष्य अनुभव करते रहते हैं।

अतः सिद्ध हो जाता है कि मानसिक-कर्म लक्षणमय होता है। इस मानसिक-कर्म को चेतना-कर्म भी कह सकते है क्योंकि चेतना ही में मन और बुद्धि आदि का कार्य होता है।

(सारांश)—

उपरोक्त विचार से सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य के शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म लक्षणमय होते है, लक्षण से बाहर कुछ नहीं। इसलिये कहा जा सकता है कि मनुष्य का कर्म लक्षणमय है, उससे भिन्न नहीं।

३. मनुष्य को सुख-दुःख का देने वाला भी लक्षण ही है—

जबकि मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है और उसके कर्म भी लक्षण मे भिन्न नही तो उसे सुख-दुःख लक्षण से भिन्न कौन दे सकता है ? मनुष्य को सुख-दुख का देने वाला कर्म है और वह है लक्षणमय। इस लिये कहा जा सकता है कि मनुष्य को सुख-दुख का देने वाला लक्षण है। उससे भिन्न उसे सुख-दुःख का देनेवाला कोई नही।

(तीन प्रकार से लक्षण संग्रह)—

मनुष्य तीन प्रकार से कर्म करता है; (१) शरीर से, (२) वचन से और (३) मन से। ये तीनों प्रकार के कर्म लक्षण ही

हैं। या यों कहना चाहिए कि मनुष्य तीन प्रकार से लक्षण संग्रह करता है, जो उसे सुख-दु:ख देते रहते हैं।

—(१ शरीर से लक्षण)—मनुष्य दो प्रकार से शारीरिक लक्षण संग्रह करता रहता है, आन्तरिक और वाह्य। आंतरिक लक्षण में रक्त, मांस तथा यन्त्र आदि हैं और वाह्य लक्षणों में शरीर के ऊपर बाहरी वस्तुएं, शरीर पर इन्द्रियों की क्रियाओं के द्वारा उत्पन्न प्रभाव या संग्रहित होनेवाली वस्तुए।

जब शरीर में ज्वर, वेदना तथा शूल आदि से दु:ख होता है— उस समय शरीर का आतरिक लक्षण होता है। उसके दूर होने पर ज्वर या शूल आदि दूर हो जाते हैं। जिस समय शरीर में स्वास्थ्य और बल होता है तो उस समय शरीर में लक्षण ही रहता है।

—(२. वचनसे लक्षण)—वाणी के कर्मों का प्रभाव अंत:करण पर पड़ता है, जिसका सुख-दु:ख अन्त:करण में ही होता है। अथवा यों कहना चाहिए कि वाणी-कर्म का प्रभाव मन पर पड़ता है, जहाँ वह स्फुरण होकर लक्षण रूप में जीव को सुख-दु:ख देता रहता है और जब अलक्षण होता है तो सुख दु:ख कुछ नहीं।

—(३. मन से लक्षण)—जब मन का स्फुरण स्वयं उदय होकर मनुष्य को सुख-दु:ख देने लगे—उस समय मानसिक लक्षण होता है।

यह मानसिक-लक्षण व्यवहार में संलग्न, संकल्प रचना और स्वप्न तीनों अवस्थाओं मे सुख-दुःख देता रहता है। जब व्यवहार-संलग्न, संकल्परचना या स्वप्न किसी भी अवस्था में मानसिक-लक्षण नहीं होता—उस समय सुख-दुःख कुछ नहीं होता।

(सारांश)—

अतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य को सुख-दुःख देनेवाला शारीरिक, वाचिक और मानसिक लक्षण ही है—अन्यथा नहीं। जब कि मनुष्य को सुख-दुःख देनेवाला लक्षण ही है तो उसे लक्षण ही से प्रयोजन होना चाहिए।

४. मनुष्य को लक्षण ही से प्रयोजन है

उपरोक्त दोनों परिच्छेदों से ज्ञात होता है कि मनुष्य दुःख-व्याकुलता के लक्षण दूर करने का और सुख-आनन्द के लक्षण धारण करने का प्रयोजन रखता है। यदि इन दोनों प्रकारों के लक्षण नहीं होते, अर्थात् ये अलक्षण रूप में होते हैं तो मनुष्य को उन अलक्षणों से प्रयोजन नहीं रहता। अतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य को प्रयोजन लक्षणों से है, अलक्षणों से नहीं।

५. मनुष्य के पास निश्चय करने का साधन भी लक्षण है—

जब मनुष्य को प्रयोजन लक्षण ही से है तो उसे अवांछित लक्षणों के त्याग तथा वांछित लक्षणों के ग्रहण करने के लिये बुद्धि के द्वारा विचार कर निश्चय भी करना पड़ेगा और पड़ता है। जिन-जिन साधनों से वह निश्चय करता, वे लक्षण रूप हैं।

(१. अन्तःकरण का साधन, लक्षण रूप है)—

जब कोई व्यक्ति या पदार्थ मनुष्य के सामने आता है और वह उसे पहले से नहीं जानता, तो वह उसे नहीं पहचानता। परन्तु जब वही मनुष्य या पदार्थ उसकी ज्ञानेंद्रियों के सन्मुख एक या अनेक बार आया हुआ होता है, तो वह निश्चय कर (पहचान) लेता है कि

उपरोक्त दोनों परिच्छेदों से ज्ञात होता है कि मनुष्य दुःख-व्याकुलता के लक्षण दूर करने का और सुख-आनन्द के लक्षण धारण करने का प्रयोजन रखता है। यदि इन दोनो प्रकारों के लक्षण नहीं होते, अर्थात् ये अलक्षण रूप में होते है तो मनुष्य को उन अलक्षणों से प्रयोजन नहीं रहता। अतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य को प्रयोजन लक्षणों से है, अलक्षणों से नहीं।

५. मनुष्य के पास निश्चय करने का साधन भी लक्षण है—

जब मनुष्य को प्रयोजन लक्षण ही से है, तो उसे अवांछित लक्षणों के त्याग तथा वांछित लक्षणों के ग्रहण करने के लिये बुद्धि के द्वारा विचार कर निश्चय भी करना पड़ेगा और पड़ता है। जिन-जिन साधनों से वह निश्चय करेगा, वे लक्षण रूप है।

(१. अन्तःकरण का साधन, लक्षण रूप है)—

जब कोई व्यक्ति या पदार्थ मनुष्य के सामने आता है और वह उसे पहले से नहीं जानता, तो वह उसे नहीं पहचानता। परन्तु जब वही मनुष्य या पदार्थ उसकी ज्ञानेन्द्रियों के सन्मुख एक या अनेक बार आया हुआ होता है, तो वह निश्चय कर (पहचान) लेता है कि

रहित होकर निश्चिन्त हो जाता है, क्योंकि उस समय उसमे अस्वास्थ्य और निर्बलता दायक लक्षण नहीं रहते। अर्थात् मनुष्य से उनके अलक्षण रूप होने से वह उनसे प्रयोजन नही रखता। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य को लक्षण ही से प्रयोजन है, अलक्षण से नही।

जब मनुष्य को मानसिक लक्षण से—अर्थात् मन के चिन्ता, शोक, मोह और विषाद आदि के स्फुरण से—क्लेश या दुःख होता है तो वह उन्हे दूर करने का उपाय करता है। उन चिन्ता आदि लक्षणो के दूर होने के पश्चात् वह उन लक्षणों के दूर करने के उपाय से रहित होकर निश्चिन्त हो जाता है। मनुष्य जब आनन्द रहित होता है तो वह उसे पाने या अनुभव करने के लिये उस मानसिक-लक्षण, अर्थात् मन के उस स्फुरण को धारण करना या स्थिर करना चाहता है, जिससे सदा आनन्द की अनुभूति होती रहे। जब मनुष्य के अन्तःकरण या मन मे आनन्द के लक्षण हो जाते हैं तो वह उसे प्राप्त करने के यत्न से रहित होकर निश्चिन्त हो जाता है। अथवा उस समय व्याकुलता तथा सन्ताप आदि दुःख जनक लक्षणों का अभाव रहता है या वे उससे दूर रहते हैं। इसी कारण मनुष्य उनसे प्रयोजन नहीं रखता। अतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य को लक्षण ही प्रयोजन है, अलक्षण से नहीं।

उपरोक्त दोनों परिच्छेदों से ज्ञात होता है कि मनुष्य दुःख-व्याकुलता के लक्षण दूर करने का और सुख-आनन्द के लक्षण धारण करने का प्रयोजन रखता है। यदि इन दोनों प्रकारों के लक्षण नहीं होते, अर्थात् ये अलक्षण रूप में होते हैं तो मनुष्य को उन अलक्षणों से प्रयोजन नहीं रहता। अतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य का प्रयोजन लक्षणों में है, अलक्षणों से नहीं।

५. मनुष्य के पास निश्चय करने का साधन भी लक्षण है—

जब मनुष्य को प्रयोजन लक्षण ही से है, तो उसे अवांछित लक्षणों के त्याग तथा वांछित लक्षणों के ग्रहण करने के लिये बुद्धि के द्वारा विचार कर निश्चय भी करना पड़ेगा और पड़ता है। जिन-जिन साधनों से वह निश्चय करेगा, वे लक्षण रूप हैं।

(१. अन्तःकरण का साधन लक्षण रूप है)—

जब कोई व्यक्ति या पदार्थ मनुष्य के सामने आता है और वह उसे पहले से नहीं जानता, तो वह उसे नहीं पहचानता। परन्तु जब वही मनुष्य या पदार्थ उसकी ज्ञानेंद्रियों के सन्मुख एक या अनेक बार आया हुआ होता है, तो वह निश्चय कर (पहचान) लेता है कि

'यह वह मनुष्य है जिसको पहले एक या अनेक वार देखा था'। यह निश्चय या पहचान करने का उसके पास क्या साधन है ? क्या उसके पास वह-मनुष्य है, जिस से उसके द्वारा इन्द्रियों के सामने आये हुए व्यक्ति की पहचान कर सके ··? नहीं । उसके पास वह व्यक्ति नहीं है, जिससे सन्मुख व्यक्ति का निश्चय कर सके। तो प्रश्न उठता है कि वह किस साधन से निश्चय करता है ··? यदि ध्यान करके देखा जाए तो ज्ञात हो जाएगा कि उसके पास सन्मुख आया हुआ व्यक्ति तो नहीं है परन्तु उस व्यक्ति के संस्कार या छायारूप संस्कार अवश्य हैं, जिनके द्वारा वह सन्मुख आगन्तुक व्यक्ति का निश्चय या पहचान करता है। निश्चय करते समय निश्चयकारक-व्यक्ति अपने सन्मुख आये हुये व्यक्ति के लक्षणों को और अपने मन में स्थित उसके लक्षणों को मिलाता है और जब मन में स्थित उसके लक्षणों से आगन्तुक व्यक्ति के लक्षण मिल जाते है, तो वह निश्चय कर लेता है कि 'यह वह मनुष्य है जिसे पहले एक या अनेक वार देखा था'।

यहां जो निश्चय होने का कार्य हुआ है, सो लक्षण के द्वारा ही। यदि अन्तःकरण में निश्चय होने वाले व्यक्ति के छाया-संस्कार रूप से लक्षण न होते, तो निश्चयकारक-व्यक्ति सन्मुख व्यक्ति का निश्चय या पहचान कभी नहीं कर सकता था।

हुये व्यक्तियों या वस्तुओं आदि का अन्तःकरण के लक्षणों के द्वारा ही निश्चय करता है। इसलिये कहा जा सकता है कि मनुष्य के पास निश्चय करने का साधन एक लक्षण ही है, अन्य नहीं।

(२. ज्ञान-इन्द्रियों का साधन भी लक्षण रूप है)—

मनुष्य के पास निश्चय करने का दूसरी प्रकार का साधन ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय या ज्ञान को ग्रहण करती है। जिसका पहले विस्तार के साथ वर्णन कर आया हूं।

—(क. एक इन्द्रिय से सब इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं कर सकते)—जबकि हमें किसी व्यक्ति या वस्तु का हल्का-भारी आदि शब्द, कोमल-कठोर आदि स्पर्श, आकृति आकार रंग आदि रूप, मीठा-कड़वा आदि रस और गंध को जानना होता है तो एक इन्द्रिय से सबका ज्ञान नहीं कर सकते। सब विषयों का ज्ञान करने के लिये सब इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। अब विचारने की बात यह है कि एक इन्द्रिय एक अपने ही विषय का ज्ञान करती है, जबकि हमें किसी व्यक्ति या वस्तु के सब विषयों का ज्ञान करना है तो उस ज्ञान या निश्चय करने का एक ही साधन रह जाता है और वह है लक्षण।

—(ख. ज्ञानेन्द्रियों के होने पर भी प्रतिबिंब के द्वारा निश्चय)—किसी व्यक्ति या वस्तु के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध का ज्ञान करने के लिये उस-उस इन्द्रिय का प्रयोग करना पड़ता है। जिस-जिस इन्द्रिय के लिये जो-जो विषय नियत है। जब-सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ज्ञान कर लेती है, तो वे सब ज्ञान अंतःकरण मे प्रतिबिंबित हो जाते है और फिर उस प्रतिबिंब के द्वारा बुद्धि निश्चय करती है। यह सब निश्चय करने का कार्य भिन्न-भिन्न साधन रूप ज्ञानेन्द्रियों के कारण ही होता है। और ज्ञानेन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् हैं। इस लिये सिद्ध हो जाता है कि जब हम किसी मनुष्य या वस्तु का निश्चय करते हैं तो उसके निश्चय करने के लिये हमारे पास एक लक्षण ही रह जाता है, अन्य साधन नहीं।

—(ग ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को भी खण्ड रूप मे और क्रम से ग्रहण करती हैं)—भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ अपने ही विषय को ग्रहण कर सकती है, अन्य इन्द्रिय के विषय को नही। वे अपने विषय को भी एक साथ समस्त विषय को ग्रहण नहीं कर सकतीं। उनमें खण्ड खण्ड ग्रहण करने की ही शक्ति है। खण्ड-खण्ड मे भी सब खण्ड एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती। वे एक-एक खण्ड को आगे-पीछे के क्रम से ही ग्रहण करने की शक्ति रखती है। इस विषय को कर्ण और नेत्र के ये दो उदाहरण देकर समझाते हैं।

(कर्णेन्द्रिय), जैसे कर्णेन्द्रिय के आगे दश मनुष्य बोलने लगते है, तो वह उन सब के शब्दों को एक साथ नहीं सुन सकती। यदि उसे सब मनुष्यों के शब्दों को सुनना होता है, तो वह एक-एक मनुष्य करके ही सब मनुष्यों के शब्दो को सुन पाती है। यदि सब मनुष्य एक साथ बोलने लगते है तो सुनने वाला मनुष्य कहता है कि 'एक-एक मनुष्य बोलो, सब के शब्दों को एक साथ नही सुन सकता'। जब एक-एक करके मनुष्य बोलते है तो वह खण्ड रूप मे सब के शब्दों को, आगे-पीछे के क्रम से, सुन लेता है। दशों मनुष्यों को छोड़कर यदि एक मनुष्य भी इतनी तेजी से उच्चारण करता है कि उसकी खण्डता प्रतीत नहीं होती तो सुनने वाला कहता है कि 'धीरे-धीरे बोलो, घिलमिल मत करो'। जब बोलक धीरे-धीरे और ध्वनि के खण्ड-खण्ड करके बोलता है. तो सुनक आगे-पीछे के क्रम से बोलक के सब शब्दों तथा अर्थों को समझ लेता है। अतः सिद्ध हो जाता है कि कर्णेन्द्रिय शब्दों को खण्ड-खण्ड रूप मे, एक एक करके, आगे-पीछे के क्रम से सुन सकती है। वह सब शब्दों को एक साथ या अखण्ड रूप मे नही सुन सकती।

(नेत्रेन्द्रिय). अब दूसरा उदाहरण नेत्रेन्द्रिय का देना है। जिस प्रकार कर्णेन्द्रिय अखण्ड या सब शब्दों को एक साथ नहीं सुन सकती, उसी प्रकार नेत्रेन्द्रिय भी अखण्ड या

सब खण्ड रूपो को एक साथ नहीं देख सकती। इसे अपने विषय रूप को खण्ड-खण्ड करके, आगे-पीछे के क्रम से ही, देखना पडता है। यदि हम दीपमालिका के दिन उसके शृंगार और जगमगाहट को देखने के लिये जन-पथ मे जाएं, तो उसकी सब दुकानो का शृंगार एक साथ नहीं देख सकते। उस समय हम लोग कहते है कि 'एक-एक दूकान का शृंगार तथा सौन्दर्य देखते चलो'। इस कहने का यही तात्पर्य है कि नेत्र सब रूपों को एक साथ नहीं देख सकता। वह खण्ड-खण्ड रूपों मे, आगे-पीछे के क्रम से ही, देख सकता है। यदि हम किसी दूकान पर जाते हैं और दूकानदार एक साथ दश प्रकार के कपड़े डाल देता है, तो हम दशों कपड़ों को एक साथ नहीं देख सकते। उस समय हम कहते है कि 'एक-एक कपड़ा करके दिखलाओ'। तीसरे जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते है तो हमारी आँखो के सन्मुख पूरा पृष्ठ रहता है, परन्तु हम एक-एक अक्षर तथा मात्राओंको आगे-पीछेके क्रमसे ही पढ़ते है, एक साथ पूरे पृष्ठ को अखण्ड रूप से तथा आगे-पीछे के क्रम के बिना ही, पढ़ना चाहे तो नहीं पढ़ सकते और न-हि उसका अर्थ समझ सकते हैं। अतः सिद्ध हो जाता है कि नेत्रेन्द्रिय अपने रूप विषय को अखण्ड या समस्त खण्ड रूपों को एक साथ नहीं देख सकती। उसे अपने विषय को खण्ड-खण्ड करके और आगे-पीछे के क्रम से ही देखना पड़ता है।—

—(लक्षण का लक्षण)—जो विषय भिन्न-भिन्न आकृतियों, रंगों और परिमाण आदि मे होता है; जिनको हम लक्षण कहते है । इसी प्रकार से सभी ज्ञानेन्द्रियो का स्वभाव है ।

(सारांश)—

उपरोक्त अन्त.करण और ज्ञानेन्द्रियों के उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य के पास निश्चय करने का साधन (अन्त.करण तथा ज्ञानेन्द्रिय) एक लक्षण ही है ।

६. मनुष्य का लक्षण के अनुसार निश्चय और भेद—

जबकि मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है और निश्चय करने का साधन (इन्द्रियाँ आदि) भी लक्षणमय है तो जैसा-जैसा लक्षण होगा, उसी के अनुसार मनुष्य निश्चय करेगा और करता भी है: युक्त लक्षण होने पर युक्त (सत्य), अयुक्त लक्षण होने पर अयुक्त (असत्य) और अलक्षण होने पर कुछ नहीं ।

(१. युक्त या सत्य लक्षण)—

—(युक्त या सत्य लक्षण की परिभाषा)—जिस विषय; वस्तु या फल के लिये जो आकृति, आकार, परिमाण, गुण और क्रिया आदि नियत हैं— उस विषय, वस्तु या फल के

यदि वही निकले तो युक्त-लक्षण है। अथवा जिस आकृति, आकार, परिमाण, गुण और क्रिया आदि मे जो विषय, वस्तु या फल नियत हैं— वही विषय, वस्तु या फल निकले तो युक्त या सत्य लक्षण है ।

इस युक्त-लक्षण का निश्चय होना दो पदार्थों पर निर्भर है, एक-तो निश्चयकारक पर और दूसरा विषय पर ।

—(मनुष्य पर निर्भरित युक्त-लक्षण)—निश्चयका-रक मनुष्य पर निर्भर होने वाला युक्त-लक्षण उसकी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की शुद्धता पर निर्भर है ।

युक्त-लक्षण मे निश्चयकारक की इन्द्रियाँ आदि शुद्ध हो-ती हैं और वे अपना-अपना कार्य यथार्थ रूप मे करती हैं। जिससे यथार्थ (सत्य) निश्चय होता है ।

—(विषय पर निर्भरित युक्त-लक्षण) —जिस विषय, वस्तु या फल आदि के लिये जो आकृति, आकार, गुण, परिमाण और क्रिया आदि नियत है—वही निकले या हो तो युक्त-लक्षण है ।

(व्याख्या), जब युक्त या सत्य लक्षण होता है, तो मनुष्य सत्य वस्तु ही समझता है और वह यह जानकर ही कर्म करता है कि मुझे वाञ्छित-फल की प्राप्ति होगी। इस लिये वह युक्त-लक्षणों मे कर्म करता हुआ सन्तुष्ट रहता है।

वह समझता है कि भोजन से क्षुधा की निवृत्ति और बल-पुष्टि की प्राप्ति होगी। जब-जब भी उसे इन गुणों की आवश्यकता होती है, तब-तब वह भोजन के लक्षणों को देखकर प्रसन्न होता है और उन्हें ग्रहण कर अपनी आवश्यकता पूरी करता है। इसी प्रकार, हमें युक्त-लक्षणों पर विश्वास है कि अमुक रेल या मोटर हरिद्वार पहुँचा देगी। हम उस पर निधड़क होकर चढ जाते हैं और लक्षित स्थान पर पहुँच जाते हैं। हमें अपने पिता पर विश्वास है कि वह सदा हमारे साथ भलाई ही करेगा। इसका कारण युक्त-लक्षण ही है। इसी प्रकार हम पशु-पक्षी तथा वृक्षादि से युक्त-लक्षण के आधार पर ही कर्म करते रहते हैं।

(२. अयुक्त या असत्य लक्षण)—

—(अयुक्त या असत्य लक्षण की परिभाषा)—जिस वस्तु या फल के लिये जो आकृति आकार, गुण और क्रिया आदि नियत है— यदि वे न निकलें या न हों तो अयुक्त लक्षण या असत्य लक्षण होता है। अथवा जिस आकृति, आकार, गुण, परिमाण और क्रिया आदि में जो फल नियत है—वह न हो तो अयुक्त या अयथार्थ लक्षण होता है।

यह अयुक्त-लक्षण दो पदार्थों पर निर्भर है, एक-तो निश्चय कारक पर और दूसरे विषय पर।

—(मनुष्य पर निर्भरित अयुक्त-लक्षण)—निश्चयकारक पर निर्भरित अयुक्त-लक्षण, तो निश्चय करने वाले या मनुष्य पर आधारित है। यदि उसकी इन्द्रियां तथा अन्तःकरण अपने यथार्थ रूप में कार्य नहीं करते हैं, तो अयुक्त या असत्य निश्चय होगा और होता भी है।

—(विषय पर निर्भरित अयुक्त लक्षण)—जिस विषय, वस्तु या फल के लिये जो आकृति, आकार, रूप-रंग, गुण, परिमाण और क्रिया आदि होनी हैं—वे न हों या दूसरे ही हों। अथवा जिस आकृति, आकार, रूप-रंग, गुण, परिमाण और क्रिया आदि के योग में से जो फल निकलता या प्राप्त होना चाहिए—वह न प्राप्त हो तो अयुक्त या असत्य लक्षण होता है।

(व्याख्या), अयुक्त-लक्षण में मनुष्य सन्देह तथा भ्रम में पड़ जाता है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि वास्तव में किस वस्तु या फल में क्या आकृति, क्या आकार, क्या रूप-रग और क्या गुण आदि हैं? अथवा किस आकार, आकृति, गुण और क्रिया आदि के योग में क्या फल है? जब अयुक्त लक्षण होता है तो चिकित्सक रोग या औषधि के गुण को नहीं पहचान सकता, न्यायक अपराधीको नही जान सकता और पुलिस चोरको नहीं पकड़ सकती आदि। दूसरी प्रकार से अयुक्त लक्षण को

यों समझना चाहिए कि जब मनुष्य अपने को छिपाना चाहता है, तो वह अयुक्त लक्षण को धारण करता है। जैसे कोई मनुष्य, अपने को छिपाकर या प्रकट न होने देकर, किसी को मारना चाहता है तो वह भोजन में विष इस प्रकार छिपकर मिला देता है कि दूसरे को उसका ज्ञान नहीं होने पाता और वह भ्रम मे पड़ा हुआ भोजन करने के पश्चात् मर जाता है। इसी प्रकार अनेक मनुष्य अपने को छिपाने के लिये अनेक प्रकार से अयुक्त-लक्षण (रूप) बना कर या संग्रह करके अपनी कार्य-सिद्धि कर लेते हैं। जैसे 'आजाद हिन्द सेना' के प्रधान नायक श्री सुभाषचन्द्र बोस अयुक्त-लक्षण धारण करके 'चक्रवर्ती ब्रिटिश भारत' के शासकों की आंखो के आगे से भारत से भाग निकले थे और काबुल तथा जर्मनी होते हुये उन्होंने जापान में जाकर 'आजाद-हिन्द सेना' का महान रूप दिया एवं भारतवर्ष पर अंग्रेज शासकों को निकालने के लिये चढ़ाई की थी। इस प्रकार सुभाष बाबू अयुक्त-लक्षण धारण करके भारत से भाग निकलने मे समर्थ हुये।

(३. अलक्षण)—

अलक्षण में मनुष्य कुछ नहीं जान सकता कि क्या वस्तु है ? उसकी क्या आकृति, क्या गुण और क्या क्रिया आदि है ? यदि वह कुछ जानता है, तो लक्षणों के द्वारा ही। जैसे चिकित्सक के पास रोगी है, तो वह लक्षणों के द्वारा ही रोग

को जान सकता है। यदि उसके पास रोगी नहीं तो लक्षण भी नहीं। जब अलक्षण है तो वह रोगी के रोग को नहीं पहचान सकता। न्यायक भी अपराधी का लक्षणों के द्वारा ही ज्ञान कर सकता है। यदि अलक्षण है तो वह कुछ-नही जान सकता। कि वह अपराधी है या निरपराधी। इसी प्रकार अलक्षण होने पर पुलिस भी कुछ-नहीं जान पाती। ससार मे हम जो-कुछ जानते हैं, वह लक्षणों ही से। यदि लक्षण नहीं, तो हमे किसी भी बात का ज्ञान नहीं हो सकता। अत: सिद्ध हो जाता है कि अलक्षण होने पर मनुष्य कुछ-भी नहीं जान पाता।

७ मनुष्य द्वारा रूप के अनुसार लक्षण संग्रह—

जब कि मनुष्य का अस्तित्व लक्षणमय है, उसके द्वारा कर्म भी लक्षणमय होता है, सुख-दु:ख भी लक्षण देता है और उसे प्रयोजन भी लक्षण ही से है।—

—(कर्म का अर्थ)—इसी लिये वह लक्षण सग्रह करता है, जिसे कर्म कहते है।

मनुष्य को जैसा भी रूप बनना होता है, वह उसी के अनुसार लक्षण-संग्रह करता है क्योंकि लक्षण ही मे रूप है। पर्वत, अग्नि, जल, भवन, दीपक, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस और देवता आदि समस्त चराचर जगत लक्षणों को ही धारण किये हुये हैं। और लक्षणों ही से वे अपनी विशेषता (गुण-

दोष) धारण किये हुये है। अत: जिस को जैसा रूप बनना होता है, उसे वैसा ही लक्षण संग्रह करना पड़ता है। जब तक मनुष्य रूप के अनुसार लक्षणों से सुसज्जित नहीं होता, तब-तक उसे वह रूप (या वांछितफल) नहीं मिलता या वह नहीं बना सकता। अत वांछित रूप की प्राप्ति के लिये मनुष्य को उसके अनुसार लक्षण एकत्रित करके सुसज्जित करना आवश्यक है। इस विषय को कुछेक उदाहरण देकर समझाया जाता है।

(१. पौराणिक उदाहरण)—

प्राचीनकाल में मनुष्य तपस्या करके देवता बनते थे और वर्तमानकाल में भी तपस्या करने वाला मनुष्य देवता माना जाता है। पहले, देवता ऋषियों के शाप से घबराते थे और मनुष्य विशेष प्रकार के श्रेष्ठ कर्म करके ऋषि बन जाते थे। यह सब लक्षणों का ही प्रभाव था। विश्वामित्र पहले राजा थे, फिर वे तपस्या आदि विशेष प्रकार के श्रेष्ठ लक्षण-संग्रह करके ऋषि बन गये। महर्षि वाल्मीकि पहले नीच मनुष्य व्याध थे, परन्तु वे अपने में ज्ञान के श्रेष्ठ लक्षण धारण करने से महर्षि बन गये। चन्द्रमा देवता अहल्या से मैथुन करना चाहता था परन्तु वह गौतम ऋषि से डरता रहता था, इसलिये वह काम-क्रीड़ा न कर सकता था। किन्तु एक दिन ऋषि की अनुपस्थिति में मैथुन-क्रीड़ा कर ली और वह ऋषि के अभिशाप से शापित

होकर कलंकित हो गया। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि स्वभाव या ईश्वर की ओर से श्रेष्ठता या नीचता नही है। ये जो भी कुछ है, लक्षण-संग्रह से ही हैं। अत जिसको भी जैसा रूप बनना हो, उसी के अनुसार लक्षण-संग्रह करना चाहिए।

पौराणिक उदाहरणों को देने के उपरान्त अब कुछेक व्यावहारिक उदाहरण भी दिये जाते है।

(२. व्यावहारिक उदाहरण)—

—(चिकित्सक)—चिकित्सक आयुर्वेदीय ग्रंथों को रखता है, उनका अध्ययन करता है और औषधी आदि से रोगी के रोग को दूर करने का यत्न करता है। इत्यादि लक्षणों को धारण करके मनुष्य अपना चिकित्सक रूप बनाता है।

—(व्यापारी)—जब मनुष्य को व्यापारी रूप धारण करना होता है, तो वह वस्तुएं संग्रह करके उनके आदान-प्रदान आदि का लक्षण धारण करता है।

—(सैनिक)—जब मनुष्य सैनिक बनना चाहता है, तो उसे शत्रुओं से युद्ध करने के लिये शस्त्रास्त्रों को धारण करने के लक्षणों को अपनाना पडता है और वह इन लक्षणों को ग्रहण करके 'सैनिक' बन जाता है।

(मनुष्य का पशु-रूप)—जब मनुष्य खाने-पीने, सोने,

मैथुन करने ही से अपना समय व्यतीत करने लगता है और उसे भविष्य के हानि-लाभ की कुछ चिन्ता नहीं रहती एवं वह अन्य मनुष्य के लाभ की ओर भी कुछ ध्यान नहीं देता, तो ऐसे लक्षण धारण करने वाले मनुष्य को पशु कहा जाता है।

(सारांश)—

उपरोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि मनुष्य जैसा-जैसा लक्षण सचित करता है, वैसा-वैसा रूप बन जाता है। यदि वह रोगी के लक्षण धारण करेगा तो रोगी हो जाएगा और निरोगता के लक्षण संग्रह करेगा तो निरोग बन जाएगा। मनुष्य को देवता, ऋषि, मनुष्य, चिकित्सक और पशु आदि जैसा भी रूप बनना हो अथवा जिस उद्देश्य या फल को प्राप्त करना हो—उसी के अनुसार लक्षण-संग्रह करना चाहिए। यदि वह अन्य लक्षण धारण करेगा, तो उसे वांछित रूप या फल की प्राप्ति कभी न होगी।

दो आवश्यक बातें

१. फल की सनातनता—

(१. फल की सनातनता की परिभाषा)—

जिस—वस्तु, गुण, क्रिया और काल आदि के—योग से जो फल बनता है; जब-तब उन्हीं लक्षणों के योग से वही फल बना करता है।

(२. व्याख्या)—

फल मे तबतक परिवर्तन नहीं आता, जबतक उस फल के के मूल भूत तत्वों मे परिवर्तन नहीं होता। अन्तिम मूल-भूत तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं और इन पंच भूतों के गुण प्रकृति के आधीन है। एक सृष्टि के लिये प्रकृति या ईश्वर ने जिस भूत के लिये जिस गुण तथा क्रिया आदि की नियतता कर दी है, वही नियतता सृष्टि के अंत तक चली जाती है और उसी के अनुसार लक्षणों या कर्मों के योग मे जिस फल का उदय होना होता है, वही सृष्टि पर्यन्त उदय होता रहता है। यही फल की सनातनता है। इन्ही अपरिवर्तनक लक्षणों तथा फलों मे विश्वास करके मनुष्य लक्षण संग्रह तथा योग किया करता है।

२ लक्षण संग्रह करने में परख —

लक्षणों का संग्रह और योग करते समय मनुष्य को यह ध्यान रखना चाहिए कि मैं फल या उद्देश्य के अनुसार लक्षण-संग्रह तथा योग करता हूँ या नहीं। अथवा यों देखना चाहिए कि उद्देश्य की प्राप्ति के लिये तत्संबन्धी पूरक लक्षण धारण किये जाते हैं या नहीं।

स . मे जीवन व्यतीत करते हुये हमें प्रतिक्षण तथा प्रति पग ..त की आवश्यकता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या

है ·· ? हम सत्य बात, सत्य वस्तु, सत्य व्यक्ति, सत्यगुण सत्य क्रिया, सत्य योग और सत्य फल को प्राप्त करना चाहते है अथवा यों कहना चाहिए कि सत्य विषयों मे ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। जो व्यक्ति स्वयं असत्याचरण करता है, अर्थात् दूसरों के साथ छल-कपट करके अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है परन्तु अन्य व्यक्तियों से तो वह अपने साथ सद् व्यवहार होना ही चाहता है। अर्थात् वह यह चाहता है कि दूसरा व्यक्ति मेरे साथ असत्याचरण न करे। इसी आधार से कहा जा सकता है कि मनुष्य को सत्य के ग्रहण और असत्य को त्यागने के लिये लक्षणों की परख करना आवश्यक है। जो यथार्थ रूप मे सत्यासत्य का निर्णय करके बतादे। अथवा ऐसा कोई मार्ग हो जिसपर चलकर मनुष्य सत्यासत्य को समझ सके। ऐसा साधन या मार्ग तो बतलाया जा चुका है, जो 'लक्षण' के नाम से वर्णन किया गया है और दूसरा साधन या मार्ग 'स्पर्श' के नाम से है जो अब बतलाया जाएगा। इन दोनों साधनों या सिद्धान्तों के सहारे मनुष्य अपने लक्षणों के संग्रह की परख कर सकता है।

उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों में विशेष भेद नहीं है और जो थोड़ा-सा भेद है, उसे वास्तव में भेद न कहकर एक-दूसरे का साधक या पोषक कहना चाहिए। अतः लक्षण सिद्धान्त के

वर्णन करने के उपरान्त अब 'स्पर्श' सिद्धान्त या साधन का वर्णन किया जाएगा।

स्पर्श

स्पर्श की परिभाषा—

स्पर्श कहते हैं, छूने को। जब एक वस्तु दूसरी को छूती रहती है या छुए रहती है, तो उसे स्पर्श कहा जाता है।

१ संसार का अस्तित्व स्पर्शमय है—

समस्त जड़-चेतन जगत का अस्तित्व स्पर्शमय है। यदि संसार में स्पर्श न रहे, तो उसका अस्तित्व भी न रहे।

—(पर्वत)—पर्वत प्रायः मट्टी और पत्थर का स्पर्शमय पिण्ड है। यदि मट्टी तथा पत्थर का स्पर्श न रहे, तो पर्वत का अस्तित्व भी न रहे।

—(वृक्ष)—वृक्ष जड़, पेंडी, टहने, टहनियाँ, सींखे और पत्तों का स्पर्शमय पिण्ड है। यदि इसमें इनका स्पर्श न हो, तो वृक्ष का अस्तित्व न रहे। यदि इन अंगों में से किसी एक अंग की भी न्यूनता हो, तो वृक्ष के पूर्ण अस्तित्व में न्यूनता आ जाएगी। अतः कहा जा सकता है कि इन अंगों के स्पर्श में वृक्ष का अस्तित्व है। ज्यों-ज्यों वृक्ष के अंग उससे पृथक होंगे, त्यों-त्यों वृक्ष का वृक्षत्व नष्ट होता चला जाएगा।

यदि उसके सब अंग पृथक् या स्पर्श रहित हो गये, तो वृक्ष भी नष्ट हो गया या उसका अस्तित्व न रहा। इस लिये स्पर्श ही से वृक्ष का अस्तित्व है।

—(पशु-पक्षी आदि)—पशु-पक्षी आदि का अस्तित्व भी स्पर्श ही है। यदि उनमें उनके अंगों का स्पर्श न रहे, तो उनका अस्तित्व भी न रहे।

संसार में जिसे-जिसका स्पर्श पाया जाता है, उसी-उसी पिण्ड का अस्तित्व माना जाता है। अस्पर्श में चाहे जो-भी-कुछ हो, उसका अस्तित्व नहीं माना जाता।

२ संसार का कर्म भी स्पर्शमय होता है—

कर्म तो जड़ पदार्थ का भी होता है परन्तु वह माना नहीं जाता। जो कर्म चेतन-पिण्ड द्वारा होता है, उसे ही कर्म कहा जाता है।

जबकि पशु-पक्षियों आदि का अस्तित्व स्पर्शमय होता है, तो उनके द्वारा किया हुआ कर्म भी स्पर्शमय ही होगा और होता भी है। वे खाते है, पीते है, बोलते हैं, चलते हैं, उड़ते है, दौड़ते है और उनके अंतःकरण में स्फुरणा, विचार तथा निश्चय आदि जो भी कुछ होता है—सब स्पर्शमय होता है, स्पर्श से बाहर कुछ भी नहीं।

३. संसार को सुख-दुःख का देनेवाला भी स्पर्श ही है—

जबकि पशु-पक्षियों आदि का अस्तित्व स्पर्शमय है और उनके द्वारा किया हुआ कर्म भी स्पर्शमय है, तो उन्हें सुख-दु ख भी स्पर्श ही देगा और देता भी है। जैसे उन्हें कोई घाव हो गया है। जब तक वह-घाव उन्हें स्पर्श करता रहेगा, तब तक उन्हें दु ख बराबर बना रहेगा। ज्यों-ज्यो उनसे घाव का स्पर्श दूर होता जाएगा, त्यों-त्यों उनकी पीड़ा भी दूर होती चली जाएगी और जब उस घाव का स्पर्श न रहेगा (भर जाएगा) तो उनकी पीड़ा भी पूर्ण रूप से दूर हो जाएगी। उस समय उनमें सुख के तत्व स्पर्श करते रहेंगे और वे सुखी रहेंगे। अत सिद्ध हो जाता है कि पशु-पक्षियो आदि को सुख-दु ख देने वाला स्पर्श ही है, अस्पर्श नहीं।

४ संसार को स्पर्श ही से प्रयोजन है—

जबकि पशु-पक्षियों आदि चेतन जगत का अस्तत्व स्पर्शमय है, उनका कर्म स्पर्श से युक्त है और उनको सुख दु ख भी स्पर्श ही देता है, तो उन्हें प्रयोजन भी स्पर्श ही से होना चाहिए है भी। जैसे—पशु-पक्षियों, आदि चेतन जगत को भूख-स लगती है, अर्थात् स्पर्श करती है तो उन्हें यह इच्छा

होती है कि किसी प्रकार से पेट भरा जाय। जब वे अपना पेट अन्नादि खाद्य पदार्थों से भर लेते है, तो उनकी भूख-प्यास दूर हो जाती है और व्याकुलता दूर होने पर वे आनंदित हो जाते है। इसके साथ ही वे भूख-प्यास दूर करने के उद्योग से रहित हो जाते है, क्योंकि उस समय भूख-प्यास अस्पर्श रूप मे होती है। और सुख का स्पर्श होने लगता है। इस उदाहरण से सिद्ध हो जाता है कि पशु-पक्षियों आदि को स्पर्श ही से प्रयोजन है, अस्पर्श से नहीं।

५ संसार स्पर्श ही का संग्रह करता है—

जबकि पशु-पक्षियों आदि चेतन जगत को स्पर्श ही से प्रयोजन है, तो वे स्पर्श विषय का ही सग्रह करेंगे और करते भी हैं।

६. संसार स्पर्शमय पिण्ड और विषय से निश्चय करता है—

जबकि पशु-पक्षियों आदि अल्प बुद्धि जीवों को प्रयोजन स्पर्श से है और वे सग्रह भी स्पर्श विषय का ही करते है, तो ऐसी अवस्था मे उन्हे अनुकूल तथा प्रतिकूल विषयों के निश्चय करने की भी आवश्यकता हो जाती है। निश्चय करने मे दो प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है (१) निश्चयकर्ता की और (२) विषय की।

निश्चयकर्ता स्पर्शमय होता है और उसका विषय भी, जिसका निश्चय किया जाता है, स्पर्शमय होता है। स्पर्श से बाहर कुछ भी नहीं। यदि निश्चयकर्ता पशु-पत्ती आदि में स्पर्श न रहे तो उनके स्पर्श के अंगों में अस्पर्शता आ जाए और वह किसी विषय का निश्चय नहीं कर सकें। इसलिये किसी भी विषय का निश्चय करने के लिये निश्चय कर्ता में उसके आवश्यक अंगों का स्पर्श होना आवश्यक है।

यदि विषयमें अस्पर्शता आ जाए,तो भी पशु-पत्ती आदि जीव निश्चय नहीं कर सकते। निश्चय तभी होसकता है जबकि विषय मे उसके अंगों का आपस में 'स्पर्श' तत्व हो या रहा हो। यदि विषय मे उसके अंगों का स्पर्श नहीं है, तो पशु-पत्ती आदि उसका निश्चय नहीं कर सकते। इसलिये किसी विषय का निश्चय होने के लिये उसके अंगों मे 'स्पर्श' होना आवश्यक है।

निश्चय करने के लिये तीसरी बात यह है कि निश्चयकर्ता और विषय दोनों का भी स्पर्श होना आवश्यक है। इसके बिना भी किसी विषय का निश्चय नहीं होने पाता।

'स्पर्श' सिद्धान्त को पुनरावृत्ति करने का कारण—

अब तक जड़-जगत तथा पशु-पत्ती आदिअल्प बुद्धि जीवोंके विषय में 'स्पर्श' सिद्धान्त का वर्णन किया गया है, परन्तु

मनुष्य जाति के विषय में 'स्पर्श' सिद्धान्त को घटित नहीं किया गया। उस पर भी घटित करने की आवश्यकता है। परन्तु एक आपत्ति आती है कि जो लक्षण सृष्टि के अन्य पिण्डों में है वही मनुष्य जाति में भी है। यदि उन्हीं लक्षणों को फिर वर्णन किया जाता है तो पिष्ट-पेषण ही होता है, अर्थात् व्यर्थ होता है। साथ ही पाठक या साधक की शक्ति भी व्यर्थ नष्ट होती है। यह ठीक है। परन्तु साधारण पाठक या साधक के लिये पुनरावृत्ति करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उनके अन्तःकरण में यह भाव उठ सकते है कि सबके विषय मे तो वर्णन कर दिया है परन्तु हमारी जाति के विषय मे उक्त सिद्धान्त को नही घटाया गया। हो सकता है कि वह मनुष्य पर नहीं घटित हो अथवा न्यूनाधिक रूप में घटित हो। यह शंका किसी भी साधक या पाठक के मन में उत्पन्न हो सकती है। अतः सर्व-साधारण का ध्यान रखते हुए 'स्पर्श' सिद्धान्त की पुनरावृत्ति की जाएगी। दूसरे जब मनुष्य जाति पर इस सिद्धान्त को प्रयोग करके देखा जाएगा, तो हो सकता है कि विचारधारा चलने पर कोई नवीन बात निकल आए और योग्य पाठक या साधक के लिये भी आवश्यक हो जाए। यदि कोई नई बात नही मिले, तो इस प्रसंग को छोड़ देना चाहिए। पुनरावृत्ति करते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि विषय का अधिक विस्तार न हो।

अब 'स्पर्श' सिद्धान्त का मनुष्य जाति पर प्रयोग करके देखा जाता है कि यह उस पर कहाँ तक लागू होता है ?

मनुष्य

१, मनुष्य का अस्तित्व स्पर्शमय है—

मनुष्य मे रक्त, मांस तथा अस्थि आदि, यन्त्र, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण है—जो एक-दूसरे से श्ट खलावत् स्पर्श किये हुये है। यदि मनुष्य मे यह स्पर्श न रहे तो मनुष्य का अस्तित्व ही न रहे। अत. सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य का अस्तित्व स्पर्शमय है।

२, मनुष्य का कर्म भी स्पर्शमय है—

जब कि मनुष्य का अस्तित्व स्पर्शमय है, तो उसके द्वारा किया गया कर्म भी स्पर्शमय होगा और होता भी है। यदि मनुष्य के शरीर का आंतरिक कर्म होगा, तो वह रक्त तथा मांस आदि से सम्बन्ध रखेगा। यदि कर्मेन्द्रियों से कर्म होगा, तो उसका शरीर तथा पृथक् पदार्थ पर प्रभाव पड़ेगा जो स्पर्श-मय होगा, अर्थात् वह किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय को अवश्य स्पर्श करेगा। ज्ञानेन्द्रियों का जो कर्म होगा, वह-भी स्पर्श से रहित न होगा। वे अपने-अपने विषय शब्दादि को स्पर्श करेगी और वे शब्दादि स्पर्श विषय अंत.करण को स्पर्श करेगे। अंत.करण का कर्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से स्पर्श

करेगा। इस प्रकार से मनुष्य का समस्त कर्म स्पर्शमय हो जाता है।

३. मनुष्य को स्पर्श ही सुख-दुःख देता है--

मनुष्य जो कर्म करता है, उससे उसे सुख-दु ख होता रहता है और वह कर्म स्पर्शमय होता है। इसलिये मनुष्य को सुख-दुःख स्पर्श ही देता है। यदि कोई कर्म मनुष्य को स्पर्श न करे, तो उसे कोई सुख-दु ख न हो।

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर मे फोड़ा होता है, वह उसे दुःख देता है। क्योंकि वह उसकी स्पर्शता में है। परन्तु जिस व्यक्ति के उक्त फोड़ा स्पर्शता मे नहीं है, उसे कोई दु ख नहीं होता। इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि मनुष्य को स्पर्श-कर्म ही सुख-दु ख देता है, अस्पर्श कर्म नहीं।

जब अन्न, जल, वस्त्र, औषधि, यान, शस्त्रास्त्र और अग्नि आदि मनुष्य से पृथक् अवस्था मे होते हैं तो उन्हे उस समय कोई सुख दु.ख नहीं होता। जब वे उन्हे स्पर्श करने लगते है, तो सुख-दु ख देने लगते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि मनुष्य को सुख-दुःख देने वाला स्पर्श ही है, अस्पर्श नहीं।—

(शंका निवारण)—

—परन्तु एक शङ्का होती है कि जब अन्न. जल तथा,

वस्त्रादि पृथक् होते है और उस समय भूख, प्यास तथा शीत लगता है तो उस अवस्था में अन्न आदि के स्पर्श न करने से भी भूख आदि से भी दु.ख होता है। यह शंका ठीक है। परन्तु इतना तो माना ही जाएगा कि भूख, प्यास तथा शीत तत्व मनुष्य को स्पर्श करते है और वे स्पर्श ही उन्हे दु.ख देते हैं। यदि उन्हे अन्न, जल तथा वस्त्रादि का स्पर्श होने लगे तो उनका—भूख, प्यास तथा शीत तत्व के स्पर्श से होने वाला दुःख दूर हो जाएगा। अतः सिद्ध हो जाता है कि—

स्पर्शित कर्म ही मनुष्य को सुख-दुःख देता है परन्तु किस प्रकार का कर्म, किस प्रकार के स्पर्श से सुख-दुःख देता है—यह कर्मों के विधान पर निर्भर है। परन्तु यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि मनुष्य को सुख-दुःख देने वाला कर्म स्पर्शमय ही है, अस्पर्शमय नहीं।

४ मनुष्य को स्पर्श ही से प्रयोजन है—

जबकि मनुष्य का अस्तित्व स्पर्शमय है, उसके द्वारा किया गया कर्म भी स्पर्शमय होता है और मनुष्य को सुख-दुःख भी स्पर्श ही देता है, तो उसे प्रयोजन भी स्पर्श ही से होना चाहिए और है भी।

जबतक मनुष्य को किसी प्रकार की शूल, वेदना या व्याकुलता आदि स्पर्श किये हुये होती है, तबतक वह चाहता है कि वह दूर हो जाए और वह उसे दूर करने के लिये यत्न

भी करता है। जब शूल आदि अस्पर्श रूप में हो जाते हैं, तो मनुष्य निश्चिंत हो जाता है। मनुष्य सुख तथा आनन्द चाहता है। वह जिस भी विषय या वस्तु में होता है, उसे प्राप्त करके किसी प्रकार से उसका स्पर्श किये रखना चाहता है। जब तक उसे उस सुखदायक वस्तु का स्पर्श (वह चाहे किसी भी इन्द्रिय का हो) नहीं होता, तबतक वह उसके स्पर्श के लिये यत्न करता रहता है। जब सुखदायक वस्तु का स्पर्श हो जाता है, तो वह शांत होकर उसका भोग करता है और आनन्द का अनुभव करता है। अतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य को को स्पर्श ही से प्रयोजन है, अस्पर्श से नहीं।

अस्पर्श में चाहे किसी भी व्यक्ति को कितना भी अधिक सुख या दुःख क्यों न हो? उसे कुछ प्रयोजन नहीं होता, क्यों कि अस्पर्श होने से उसे कुछ अनुभव ही नहीं होता। जहाँ अनुभव नहीं, वहाँ प्रयोजन भी कहाँ? अतः कहा जासकता है कि मनुष्य को स्पर्श ही से प्रयोजन है, अस्पर्श से नहीं।

५. मनुष्य स्पर्शमय पिण्ड और विषय में निश्चय करता है—

जबकि मनुष्य को प्रयोजन स्पर्श से है अस्पर्श से नहीं, तो उसे अनुकूल स्पर्श को ग्रहण करने के लिये और प्रतिकूल स्पर्श को त्यागने के लिये निश्चय करने की आवश्यकता

होगी। निश्चय करने मे एक-तो निश्चयकारक होता है और दूसरा विषय। निश्चयकारक मनुष्य स्पर्शमय पिण्ड होता है और जिस विषय या वस्तु का निश्चय किया जाता है, वह भी स्पर्श के परमाणुओं से युक्त होता है। स्पर्शमय-मनुष्य स्पर्शमय-विषय का निश्चय करता है कि अनुकूल है या प्रतिकूल अथवा सत्य है या असत्य। अनुकूल–प्रतिकूल तो मनुष्य अपने उद्देश्य या भाव के अनुसार देखता है और सत्य या असत्य प्रसंग के अनुसार देखा जाता है। परन्तु मनुष्य निश्चय करता है स्पर्शमय पिण्ड और स्पर्शमय विषय से ही।

६. मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय स्पर्श से करता है।

जबकि हमारा अस्तित्व स्पर्शमय पिण्ड है, तो हम इसी के द्वारा निश्चय करेंगे कि संसार में कौन वस्तु सत्य है और कौन असत्य ? यदि स्पर्श से सिद्ध हो जाए तो सत्य, नहीं हो तो असत्य और ऐसा करते भी हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा पर्वत और वृक्ष आदि के अस्तित्व के सत्य का तभी निश्चय होता है जबकि वे स्पर्श से सिद्ध हो जाते हैं। यदि वे स्पर्श से सिद्ध नहीं होते हैं,तो उनका सत्य (अस्तित्व) होना नहीं माना जाता। क्योंकि अस्पर्श में ज्ञात नहीं कि क्या-क्या पदार्थ हैं ? परन्तु उनकी स्पर्शतामे सिद्धता नहीं, इसलिये उन्हे

असत्य माना जाता है। हम कोई बात कहते हैं और उसके अनुसार कोई वस्तु या व्यवहार आदि स्पर्श से सिद्ध नहीं होता, तो उसे असत्य मानी जाती है और जो स्पर्श से सिद्ध हो जाती है, वह सत्य मानी जाती है। इसके अतिरिक्त हमारे (मनुष्य के) पास सत्यासत्य निर्णय करने का उपाय भी नहीं है। स्पर्श से जो सिद्ध हो वह सत्य और जो असिद्ध हो वह असत्य।

लक्षण और स्पर्श सिद्धान्त

'स्पर्श' सिद्धान्त का कुछ वर्णन कर दिया है। अधिक विस्तार करने से ग्रन्थ का कलेवर अवांछित रूप में बढ़ जाएगा। दूसरे हम अपने मुख्य विषय से भी दूर चले जाएंगे। दूर तो अब भी चले गये है पर 'लक्षण' और 'स्पर्श' इन दोनो सिद्धान्तों का वर्णन करना भी आवश्यक था। अब इन सिद्धान्तों का कुछ-और थोड़ा-सा वर्णन करके अपने मुख्य विषय 'मानसिक ब्रह्मचर्य' पर आएंगे।

लक्षण और स्पर्श सिद्धान्त का विस्तार लाभकारी हुआ है—

'लक्षण' और 'स्पर्श' इन दोनों सिद्धान्तों से किसी भी विषय के सत्यासत्य का निर्णय किया जा सकता

और इन दोनों सिद्धांतों का निर्माण भी किसी या अपने विषयके सत्यासत्य के निर्णय करनेके लिये ही किया गया था। इन दोनों सिद्धांतों से जहा सत्यासत्य निर्णय करने का रहस्य खुल जाता है, वहाँ कर्म करने के अनेक मार्गों या कर्मयोग का रहस्य भी खुल जाता है। अत इन दोनों सिद्धांतों के विस्तार मे जाना अतीव लाभकारी हुआ है।

लक्षण और स्पर्श की एक शरीरता—

उपरोक्त 'लक्षण' और 'स्पर्श' सिद्धांतों में भेद प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वे एक-दूसरे के पोषक हैं। दूसरे उनमे जो भेद है, वह-भी कोई विशेष भेद नहीं। जो तत्व और शीर्षक 'लक्षण' सिद्धान्त के हैं, वही 'स्पर्श' सिद्धान्त के है। केवल उनमे लक्षण और स्पर्श के शब्दों के अर्थ की विशेषता है।

'लक्षण' सिद्धात में जहा अनेक कर्म-मार्गों का रहस्य खोला गया है, वहां 'स्पर्श' सिद्धात में सत्य के निर्णय करने का एक ठोस वर्णन किया गयाहै। 'लक्षण' सिद्धान्तमे केवल लक्षण ही लक्षण का वर्णन है, स्पर्श-अस्पर्श का नहीं। 'लक्षण' सिद्धान्त मे स्पर्श का वर्णन न होने से 'लक्षण' सिद्धांत अर्द्धांग ही रह जाता है और जब हम लक्षण मे स्पर्श का संयोग कर देते हैं, तो हमारे सत्यासत्य निर्णय करने का तत्व । मार्ग सांगोपाग बन जाता है। इसी प्रकार 'स्पर्श' सिद्धान्त भी

'लक्षण' का संयोग पाकर अपने को विस्तृत तथा पुष्ट बना लेता है। अत: 'लक्षण' और 'स्पर्श' सिद्धान्तों में कुछ थोड़ा-सा भेद होते हुये भी कोई भेद नहीं है। एक ही शरीर के दो अंग हैं।

हमारा (मनुष्य का) अस्तित्व ऐसे लक्षणों से युक्त है, जो स्पर्श से सम्बन्ध रखते हैं और जो लक्षण स्पर्श नहीं करते, उन से हमारा सम्बन्ध नहीं है।

हमारे द्वारा ऐसा लक्षणयुक्त कर्म होता है, जो हम से स्पर्श करता है। जो लक्षण हम से स्पर्श नहीं करता, वह हमारा कर्म नहीं होता।

सुख-दुःख भी हमें ऐसे ही कर्म देते हैं, जिनके लक्षण हमें स्पर्श करते हैं। जिन कर्मों के लक्षण हमें स्पर्श नहीं करते, वे हमें सुख-दुःख भी नहीं देते।

हमें प्रयोजन भी ऐसे ही लक्षणों से है, जो हम से स्पर्श करते हों। जो लक्षण स्पर्श नहीं करते, उन से कुछ प्रयोजन नहीं।

अतः हमारा अस्तित्व लक्षण और स्पर्श ही से है। हमारा ही नहीं, सृष्टि मात्र का अस्तित्व भी इन्हीं दोनों तत्वों ही से है और इन्हीं के द्वारा हम किसी भी विषय या वस्तु आदि के सत्यासत्य का निर्णय करते हैं। इन दोनों तत्वो का हमने विस्तार के साथ वर्णन कर दिया है। इन दोनों तत्वों से हमारा अस्तित्व है, इसलिये इन्हीं दोनों सिद्धान्तों के आधार पर हमें संसार तथा अपने विषय 'मानसिक ब्रह्मचर्य' के नियमों के सत्यासत्य होने का निश्चय करना है।

मानसिक ब्रह्मचर्य के तत्वों का परीक्षण

'लक्षण' तथा 'स्पर्श' सिद्धान्त का इतना वर्णन करने के पश्चात् अब अपने मुख्य विषय पर आते हैं। वर्तमान अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया था कि "मानसिक-ब्रह्मचर्य के जो नियम या तत्व प्रकृति तथा स्वात्मानुभूति के आधार पर संग्रह किये हैं अथवा बनाये हैं, उनको कैसे जानें कि वे सत्य हैं? वे हमें वांछित-फल देंगे इसका प्रमाण क्या है?" इन बातों को जानने के लिये 'लक्षण' तथा 'स्पर्श' सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। अतः इन सिद्धान्तों के आधार पर ही हम अपने नियमों या तत्वों के सत्यासत्य का परीक्षण करते हैं।

ग्रंथ के आरम्भ में तीन उद्देश्य रखे गये हैं, (१) काम-इ के विषय में मन को नियंत्रण में करना या मन के

स्फुरण को अपने वश में करना, (२) सत्य चरित्र का उत्थान करना और (३) अधिक से अधिक सब प्रकार के सुखों के प्राप्त करने का मार्ग बतलाना।

१. काम-क्रीड़ा विषयक मन पर नियंत्रण—

हमारा मुख्य उद्देश्य है कि काम-क्रीड़ा से सम्बन्ध रखनेवाले मन के स्फुरण को अपने वश में रखना।

(१. मन के नियंत्रण की परिभाषा)—जब या जिस समय जिस प्रकार की इच्छा हो, जिस प्रकार का विचार हो या जिस प्रकार का उद्देश्य हो—उसी के अनुसार मन का स्फुरण होना ही मन पर नियंत्रण या वश में रहना (करना) कहलाता है।

—(२. मन के अनियंत्रण की परिभाषा)—जब मन का स्फुरण या चिन्तन—इच्छा, विचार या उद्देश्य को उल्लंघन करके होने लगे तो वह मन का अनियंत्रण या अवश में रहना कहलाता है।

हमारा मुख्य उद्देश्य तो काम-क्रीड़ा विषयक ही है, परन्तु अन्य उद्देश्य उसके साथ-साथ चले आये हैं जो उसके परि[illegible] पक हैं अथवा वे स्वयं ही सिद्ध हो गये हैं। जबकि मुख्य के उपयोगी तत्व अन्य उद्देश्यों के लिये भी अत्यन्त हैं तो उनका भी परीक्षा के द्वारा स्पष्ट कर लेना आ

और उसे वाञ्छितफल की प्राप्ति की ओर आगे बढ़ने के लिये वह मार्ग खोल दिया गया है, जिससे उसे अभीष्ट आनन्द की प्राप्ति हो। वह मार्ग है "विधि मे सब प्रकार के कर्मों की पूर्ति करना।"

मन को कर्मों की पूर्ति करने का मार्ग दिखा देने के उपरान्त उसे विधि-निषेध कर्मों के ज्ञान की आवश्यकता हुई कि किस प्रकार के कर्मों में पूर्ति करनी चाहिए और किस प्रकार के कर्मों में नहीं। मन को यह दिशा भी दिखलादी है। "चोरी, कृपा, अनिश्चयात्मिक, अनपेक्षाकृत और बलात्कार आदि कर्मों में पूर्ति न करना। अचोरी, अकृपा, निश्चयात्मिक, अपेक्षाकृत और अनबलात्कार (सरलता) मे कर्मों की पूर्ति करना।"

कर्मों के विधि-निषेध के ज्ञान के उपरान्त उद्देश्य-सिद्धि के लिये कर्म-सम्बन्धी अनेक प्रकार की सूचनाएं भी दी गई है। जिससे मन को अपने काम-क्रीड़ा के आनन्द की प्राप्ति मे विश्वास हो जाए। जैसे "अपने लक्ष्य को बनाना और उसको स्पष्ट रखना। कर्म-पूर्ति करते हुए काम-वेग को सहन करना और उस वेग को किस प्रकार सहन किया जाए ?" यह भी [illegible] कर दिया है। जिस से पुरुष उस वेग को सहन कर सके।

इस ग्रन्थ मे—पुरुष या मन को काम-क्रीड़ा या प्रेयसी की [illegible] के विषय में जो-जो आशंकाएं होती हैं, उन्हे बतलाकर

उन्हें दूर करने का यत्न भी किया गया है। जैसे स्त्री की ओर से ध्यान हटाने पर वह रुष्ट हो जायगी तो मैथुनादि की प्राप्ति न होगी परन्तु अपने कर्मों की साधना करके पूर्ति करने से वह अवश्य प्राप्त होगी"।

उपरोक्त प्रकार से मन को नियंत्रण में करने के लिये अनेक प्रकार के मानसिक लक्षण संग्रह किये गये हैं जिनके द्वारा मन का स्फुरण—इच्छा, विचार, निश्चय या उद्देश्य के अनुसार हो सकता है। मन अज्ञान, सन्देह, भ्रम, लोभ, बलात्कार या हठ आदि के द्वारा वश में नहीं हो सकता। मन को किसी प्रकार अन्य कार्य में लगाने से भी वश में नहीं किया जा सकता। उसको यथार्थ तथा स्थाई रूप से वश में करने के लिये उसे सन्तुष्ट करना पड़ेगा। इस ग्रंथ में उन लक्षणों का संग्रह किया गया है, जिससे मन को स्थायी सन्तुष्टि हो। जब मनको सत्य तथा स्थायी संतोष हो जाएगा तो वह स्वयं शांत रहेगा।' जिसको हम मन को वश में करना या नियंत्रण करना कह सकते हैं।

दूसरे मनुष्य को जैसा रूप बनना होता है, वह वैसा ही लक्षण संग्रह करता है। जबकि मनुष्य को मानसिक-ब्रह्मचारी का रूप बनना होता है या वह यह-रूप बनाना चाहता है, तो उसे वैसे ही लक्षण संग्रह करने होंगे। इस ग्रन्थ में मन के [illegible] करने के लिये प्रकृति तथा स्वात्मानुभूति के द्वारा

मन के लक्षण ही संग्रह किये गये हैं। जो मनुष्य, मन या अतकरण को स्पर्श करते हैं। वे लक्षण ऐसे प्रतीत होते हैं कि काम-क्रीड़ा के विषय मे मन के अनियत्रित प्रवाह के आगे वाध लग गया है।'

सत्य तथा अस्तित्व की परीक्षा करने के लिये एक साधन वातावरण का भी है। जो है तो लक्षण तथा स्पर्श रूप ही, परन्तु अपने विषय की सिद्धि के अस्तित्व तथा सत्यत्व जानने के लिये उसे पृथक् साधन मान लेना आवश्यक है। जिस वातावरण का पहले वर्णन किया जा चुका है।

जो वातावरण सम्यक् विश्लेषण करने पर भी स्थिर रहे, उसका विषय सत्य होता है। हमने मानसिक ब्रह्मचर्य के नियमों, तत्वों या लक्षणों के वातावरण को अनेक वार विश्लेषण करके देखा है या परीक्षण किया है कि वे अपना गुण पूर्ण रूप से प्रकट करते हैं। उन अनेक वार के परीक्षण से हमारे अन्तःकरण मे जो स्थिर वातावरण बना है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इन लक्षणों या तत्वों का साधन करने से मनुष्य अवश्य मानसिक-ब्रह्मचारी का रूप धारण कर सकता है।'

सूचना—मानसिक-ब्रह्मचर्य सम्बन्धी शेप परीक्षण इस चौवीसवे अध्याय की विहंगम दृष्टि मे है।

अतः उपरोक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि "मानसिक-ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र मे वर्णित मानसिक-ब्रह्मचर्य के नियम या तत्व यथार्थ है। उनका अभ्यास करना चाहिए। वे अपना फल अवश्य देगे।

२. सत्य चरित्र का उत्थान करना—

इस ग्रन्थ का दूसरा उद्देश्य है कि "सत्य चारित्र का उत्थान करना" मन से काम-क्रीड़ा के विषय मे मन को नियन्त्रण करने के लिये सत्य उपाय (लक्षण) ही को अपनाया है,क्योंकि असत्य लक्षण (उपाय) के संग्रह से या उपयोग से मन वश मे नहीं होता। वह तो सत्य ही से वश में आता है। क्योंकि सत्य ही मे विश्वास होता है, असत्य मे नहीं। स्थायी तथा अधिक से अधिक काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त करने के लिये सत्य उपाय का अवलंबन लेना आवश्यक है। काम-क्रीड़ा का अधिकाधिक तथा स्थायी सुख प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार के व्यक्तियों पर ध्यान देना आवश्यक है, जिनमे सत्यत्व की ही प्रधानता है। यदि उनमे सत्यत्व की प्रधानता न रहे, तो अधिक से अधिक काम-क्रीड़ा और अन्य सब प्रकार के सुख प्राप्त न हों। इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों मे से सब से पहले भोगने वाले व्यक्ति के विषय मे सत्यचरित्र की दृष्टि से विचार करते है।

(१. भोगने वाले व्यक्ति का सत्य चरित्र)—

यदि भोगने वाला व्यक्तिसत्यचरित्र से युक्त न हो, तो उसे अपने मन-वाणी और शरीर के कर्मों मे स्वयं ही विश्वास न रहेगा। जहाँ विश्वास नहीं, वहाँ आनन्द कहाँ ? दूसरे किसी भी फल की प्राप्ति के लिये—उसके अनुसार—मन, वचन और कर्मसे एक ही प्रकारका कर्म होना चाहिए। जिसका होना सत्य-कर्म ही मे पाया जाता है, असत् मे नहीं। असत् में तो मन वचन और शरीर सें भिन्न-भिन्न ही कर्म होंगे। जहाँ भिन्न-भिन्न कर्म, वहाँ उद्देश्य के अनुसार फल कहाँ ? इसी परिणाम को ध्यान मे रखते हुये काम-क्रीड़ा के विषय मे सत्य चरित्र को अपनाया गया है। चोरी, कृपा, अनिश्चयात्मिक तथा अनपेक्षाकृत आदि असत् चरित्र हैं—इनको छोड़ा गया है या ये त्याज्य हैं और अचोरी अकृपा तथा निश्चयात्मिक आदि चरित्र (कर्म) सत्य चरित्र हैं—इन्हें ग्रहण किया गया है या ये ग्राह्य हैं। इसी प्रकार भोगने वाले या कर्ता व्यक्ति के लिये उसके सत्य चरित्र के उत्थान के निमित्त 'आदर्श' का वर्णन किया गया है। जिसमें सिद्धान्त, बन्धन, नियम, नीति और अधिकार आदि तत्वों का समावेश है। इन तत्वों के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे तत्व भी हैं, जो चरित्र के उत्थान से सम्बध रखते हैं।

(२. भोगी जानेवाली स्त्री के प्रति सत्य चरित्र का होना)—

भोगी जानेवाली स्त्री के प्रति भी भोक्ता (कर्ता) को सत्य व्यवहार (चरित्र) करना पड़ेगा। यदि वह उसके साथ असत् व्यवहार करेगा, तो उसे सदा सच्चा तथा प्रेम-पूर्वक काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त न होगा। वरन् हो सकता है कि उसके अन्य सब प्रकार के सुख भी नष्ट हो जाएं। या यों कहना चाहिए कि उसे सब प्रकार के दुःख प्राप्त हो जाएं। अतः उसे इन दुःखों से बचने के लिये सत्य सुख प्राप्त करने के लिये स्त्री के साथ सत्य व्यवहार (चरित्र) करना पड़ेगा। इसी परिणाम को देखते हुये "सत्पथ पर चलना और चलाना" आदि अनेक तत्वों पर विचार किया गया है। जिन से सत्य चरित्र का उत्थान होना स्वाभाविक है।

(३. सर्व-साधारण के प्रति भी सत्य चरित्र)—

काम-क्रीड़ा के विषय मे तीसरी प्रकार के व्यक्ति सर्व-साधारण लोग हैं। ये भी उस विषय मे मुख्य रूप से साधक या बाधक अवस्था आदि में रहते हैं। इनके विषय मे भी विचार किया गया है। बन्धन तथा नीति, ऐसे तत्व है, जो मुख्य रूप से सर्व-साधारण मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं। ये दोनों तत्व भी सत्य चरित्र के उत्थान करने वाले है।

उपरोक्त तीनों प्रकारके व्यक्तियों—(१) भोगनेवाले, (२) भोगी जानेवाली और (३) सर्व-साधारण—पर विचार करने के उपरांत इस परिणाम पर पहुचा जाता है कि "मानसिक-ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ में सत्व चरित्र का उत्थान ही है, पतन नहीं।

---

३ अधिकाधिक सर्व प्रकार के सुखों का मार्ग बतलाना—

हमारे ग्रंथ का तीसरा उद्देश्य है कि अधिक से अधिक सब प्रकार के सुखों के प्राप्त करने का मार्ग बतलाना"। यह तीसरा उद्देश्य भी—काम-क्रीड़ा के विषय में मन को नियंत्रण करते हुये—स्वयं बन गया है। इसके लिये कोई विशेष यत्न नहीं किया गया। जब यह उद्देश्य बन गया है, तो इसे स्पष्ट करके उपयोगी बना लेना चाहिए।

काम-क्रीडा के विषय मे जब मन पर नियंत्रण किया जाएगा, तो एक-तो वीर्य की रक्षा होगी। जिससे सब इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि शक्तिवान होकर अपना-अपना कार्य स्फुर्ति तथा सुन्दरता से करेंगी। जिससे सुन्दरता से सम्पन्न उपयोगी शीघ्रातिशीघ्र मिलेंगे और शरीर भी स्वस्थ होकर आनन्द ।न करता रहेगा। पहले तो इस प्रकार से अधिक से अधिक

सब प्रकार के सुखों को प्राप्त करने के लिये स्वस्थ शरीर साधन रूप बन जाएगा। जिससे इसमें कार्य करने की सामर्थ्य बढ़ जाएगी।

दूसरे मन पर नियंत्रण हो जाएगा, तो मन आवश्यकतानुसार स्फुरण करने लगेगा और बुद्धि भी आवश्यकतानुसार निश्चय करने लगेगी। इसका परिणाम यह होगा कि अनावश्यक या विरोधी स्फुरण न होकर वे प्रगति में बाधक तथा दुःख-दायी न होंगे और विषय का शीघ्र निश्चय हो जाएगा। इसके होने से एक-तो मन को शीघ्र शांति होगी, दूसरे निश्चय कार्य रूप में परिणत होकर शीघ्र फलदायक बन जाएगा।

तीसरे काम-क्रीड़ा के विषय में नियंत्रण करते-करते ऐसे बहुत से तत्त्व संग्रह हो गये हैं, जो अधिक से अधिक सब प्रकार के सुखों को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने में साधक हैं। जैसे मनोविज्ञान, जीवन का उद्देश्य क्या है, प्रकृति, ब्रह्म, परलोक और पुनर्जन्म आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर समुचित प्रकाश डाला गया है। साथ ही कर्म का रहस्य खोलकर मनोद्वेग को शांत करने का मार्ग भी बतलाया है और आदर्श को स्थापन करके अधिक से अधिक तथा शीघ्र से शीघ्र सब प्रकार के सुख-आनन्दों को प्राप्त करने का सुंदर-सरल पथ तैयार कर दिया है। जिस पर चलने से हमारा यह तीसरा उद्देश्य भी सफलता को प्राप्त होगा। कर्मयोग के इत्यादि तत्त्वों

को देखते हुये इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'कर्मयोग' भी रख दिया है।

इस प्रकार "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के प्रारम्भ मे कहे हुए तीनों उद्देश्य—(१) मानसिक-ब्रह्मचर्य, (२) सत्य चरित्र का उत्थान और (३) अधिकाधिक सब प्रकार के सुखों को प्राप्त करने का मार्ग बतलाना—परीक्षण से सत्य सिद्ध हो जाते हैं और हमारे ग्रंथ की समाप्ति हो जाती हे। परन्तु ग्रंथ को पूर्ण समाप्त करने से पहले दो अध्याय तथा कुछ अभ्यास और वर्णन किये जाएगे। जो अत्यधिक आवश्यक हैं। जिसमें पहला अध्याय तो काम-क्रीड़ा के विषय मे जितने तत्व संग्रह किये गये हैं, प्राय: उन पर विहंगम दृष्टि से विचार या मनन करना है। दूसरा अध्याय परलोक सम्बन्धी है। जिसमें स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म पर विचार किया जाएगा। अंत में अपने विषय का किस प्रकार से अभ्यास करना चाहिए? यह भी दिया गया है।

चौबीसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि—

(मानसिक ब्रह्मचर्य)—

इस चौबीसवें अध्याय में 'मानसिक-ब्रह्मचर्य' सम्बन्धी नर्मित तत्वों की सफलता पर विचार किया गया है। उनकी

सत्यता की परीक्षा के लिए 'लक्षण' तथा 'स्पर्श' इन दो सिद्धांतों का निर्माण किया गया है। इन्हीं दोनों सिद्धांतों या पदार्थों से संसार और मनुष्य का अस्तित्व है। उसे इन्हीं से प्रयोजन हैं और वह इन्हीं के द्वारा सत्यासत्य का निश्चय करता है। इस "मानसिक-ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र में स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर भिन्न-भिन्न रूप या कारणों से प्रवृत्त होना दिखाया गया है। इन कारणों को दूर करते हुए अनेक प्रकार की आपत्तियां-विपत्तियां और आशंकाओं का समाधान करते हुये वह कर्ममार्ग भी दिखाया गया है, जिससे मनुष्य को काम-क्रीड़ा का अधिकाधिक आनन्द की प्राप्ति हो। यदि वह न भी हो, तो भी उसे शांति रहे। इन सब बातों के सब लक्षण मनको स्पर्श करते है। जिस प्रकार मन अज्ञान से स्पर्शित लक्षणों के द्वारा आनन्द की प्राप्ति के लिए उद्विग्न होकर स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर उचित-अनुचित सभी प्रकार के उपायों से प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार उसे ज्ञान से स्पर्शित लक्षणों से आनन्द की प्राप्ति का विश्वास दिला देने से प्रवृत्त होने से रुक जाता है। एक ओर मन को उसका स्फुरण व्याकुल कर देता है, तो दूसरी ओर उसका स्फुरण उसे व्याकुलता से हटाकर आनन्द से युक्त कर देता है या उसे आनन्द की प्राप्ति का विश्वास दिला देता है। ये दोनों प्रकार के मानसिक स्फुरण के लक्षण मन या मनुष्य

स्पर्श करते हैं। इस लिये उनका अस्तित्व है या वे सत्य हैं। ये ही दु:ख-सुख देते हैं। मन को दुखों के लक्षणों से दूर होने और सुखों के लक्षणों को स्पर्श करने से प्रयोजन है। इस ग्रन्थ मे यही किया गया है। जो उपरोक्त "मानसिक ब्रह्मचर्य के तत्वों का परीक्षण" शीर्षक के उदाहरणों से ज्ञात हो जाता है। आनन्द के विश्वास के लक्षणों का स्पर्श होने से मन शांत हो जाता है। वह शांतता स्थिर होती है। जब तब इस ग्रंथ के तत्वों की साधना से शातता आ उपस्थित होती है। जिसके लक्षण अन्त करण को स्पर्श करते रहते हैं। प्रकृति मे इन तत्वों का गुण ऐसा ही है। जब भी अन्त'करण मे इन तत्वों का उदय होता है, तभी मन शान्त हो जाता है। अतः 'लक्षण' तथा 'स्पर्श' के सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध हो जाता है कि हमारे मानसिक ब्रह्मचर्य के तत्व सत्य है और वे अवश्य फलदायी होंगे।

(कर्मयोग)—

यह चौवीसवां अध्याय किसी भी विषय के सत्यासत्य निर्णय करने के लिये महत्वपूर्ण स्थान रखता है। किसी भी कर्मयोगी को इस विषय की आवश्यकता रहती है। इस निर्णय ` लिये ही इस अध्याय मे 'लक्षण' तथा 'स्पर्श' इन दो ..न्तों का वर्णन किया गया है, जिन से मनुष्य तथा ससार , अस्तित्व वना हुआ है। यह स्पर्शित लक्षण का अस्तित्व-ही

सुख-दुःख देता है और इसी से मनुष्य को प्रयोजन भी
इसलिये ही मनुष्य या जीव स्पर्शित लक्षणमय कर्म करता है
मनुष्य इसी अस्तित्व (पिण्ड) के द्वारा किसी भी विषय के
सत्यासत्य का निश्चय करता है। इसके द्वारा जो सिद्ध हो जाए
वह सत्य, अन्यथा असत्य।

इस अध्याय में किसी भी फल की प्राप्ति से पहले या किसी
भी प्रकार के रूप बनने से पहले साधक को यह जानने की
आवश्यकता होती है कि 'मैं युक्त कर्म कर रहा हूं या नहीं'।
इसके ज्ञान करने की विधि बतलाई गई है कि 'उद्देश्य के
अनुसार लक्षण संग्रह को देखना'।

इस अध्याय में इन्द्रियों तथा अन्तःकरण पर पर्याप्त प्रकाश
डाला गया है। अन्तःकरण के पाँच रूप दिखाये गये हैं (१)
मन, (२) बुद्धि, (३) चित्त, (४) अहंकार या जीव और
(५) चेतना। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ यथा छः कर्मेन्द्रियाँ मानी गई
हैं। ज्ञानेन्द्रियों मे (१) कर्ण, (२) त्वचा, (३) नेत्र, (४)
रसना और (५) नासिका ली गई हैं। कर्मेन्द्रियों में (१) वाणी
(२) हस्त, (३) गुदा, (४) लिंग, (५) पाद और (६)
मुख आये हैं।

इस अध्याय में कर्म करने के तीन प्रकार के साधन माने
गये हैं और उनका प्रभाव शरीर तथा अन्तःकरण पर
है, जिसको कर्म ही कहा गया है। शरीर के कर्मों के भी

किये गये हैं बाह्य तथा आंतरिक। इसी प्रकार मानसिक कर्म के भी दो भेद किये गये हैं, जिनमें से एक आंतरिक कहा जा सकता है और दूसरा शारीरिक।

इस अध्याय में विषय को समझाने के लिये अनेक परिभाषाएं तथा विस्तार भी दिया है।

यह चौबीसवाँ अध्याय कर्म का मार्ग खोलने के लिये अत्यावश्यक है।

अब यह "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के चौबीसवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

चौबीसवाँ अध्याय समाप्त

शुभम्

पच्चीसवाँ अध्याय

विचारोपरांत अन्य विषयों का स्फुरण और प्रगति—

साधक विचार करता है कि मैं ने काम-क्रीड़ा सम्बन्धी मन के स्फुरण को नियंत्रण करने के नियमों को जान लिया है और उनका अभ्यास भी किया है। उनके गुणों पर विश्वास हो गया है कि मन पर नियंत्रण अवश्य हो जाएगा और हुआ भी है। अब विचारने के लिये कोई ऐसा नया तत्व नहीं प्रतीत होता, जिस पर विचार किया जाए। अब काम क्रीड़ा सम्बन्धी मनका स्फुरण नहीं होता। उसके न होनेपर कुछ विश्राम मिला। मन निष्क्रिय नहीं रहता। वह किसी न किसी विषय का स्फुरण करता ही रहता है। अत. वह अन्य विषयों का स्फुरण करने लगा। अन्य आवश्यक विषयों का स्फुरण करना आवश्यक भी हो जाता है। इसलिये मन की प्रगति होने लगी और बुद्धि भी अपने निश्चय का कार्य करने लगी। इस प्रकार होते-होते कुछ काल बीत गया।

असफलता पर पश्चात्ताप—

कुछ काल बीतने पर किसी युवती का मेरी इन्द्रियों से सम्पर्क होने लगा और मैं उसे देखने-सुनने लगा तथा वह मुझे देखने-सुनने लगी। वह मुझे प्रिय लगने लगी। इस प्रकार होते-होते उधर मेरा आकर्षण अधिकाधिक होने लगा। ज्यों-ज्यों मेरा उधर आकर्षण होने लगा, त्यों-त्यों अधिकाधिक सक्रिय भाग लेने लगा। ज्यों-ज्यों मैं अधिक सक्रिय भाग लेने लगा, त्यों-त्यों मुझे उसमें रुकावट प्रतीत होने लगी और साथ ही मुझ में दुःख तथा व्याकुलता की मात्रा भी बढ़ने लगी। जिस का मुझे ही अनुभव होता था। दूसरों के लिये वह कुछ-नहीं था। ज्यों-ज्यों अंतर्वेदना बढ़ती गई, त्यों-त्यों मैं मन को नियत्रण मे करने के लिये यत्न करने लगा। क्योंकि उस प्रकार से भोगना अनुचित समझता था। किन्तु जब मैं अपने आप को असफल पाता तो विचार करता था कि मैं ने इतना विचार किया, इतने नियम जाने, इतने अधिक तत्वों का साधन किया, वर्षों का समय लगाया और अथक परिश्रम किया, फिर भी सब व्यर्थ हुआ। अतः मेरा जीवन व्यर्थ है, मेरा पुरुषार्थ व्यर्थ है और मेरी रचना व्यर्थ है। यदि मैं इसी प्रकार असफल [illegible]ता रहा तो कुछ-भी न कर सकूंगा, मुझे किसी प्रकार की [illegible] न मिलेगी और मेरी किसी प्रकार की आवश्यकता न होगी। जब किसी प्रकार की आवश्यकता पूरी न होगी

तो दुःख ही दुःख तथा सन्ताप के अतिरिक्त और-कुछ न रहेगा। इस प्रकार मैं अपनी असफलता पर पश्चात्ताप करता हुआ, अपने को धिक्कार रहा था कि इस निराशांधकार के घोर मेघोंके गर्जन, तर्जन तथा वर्षा से पीड़ित भयभीतावस्थामें मुझे कुछ आशा की किरणें दिखलाई दीं और मुझे प्रतीत होने लगा कि विचार के अतिरिक्त अन्य कोई उद्धार का उपाय नहीं है। परिणाम स्वरूप मैंने उसी का आश्रय लिया।

विचार आरंभ या विहंगम दृष्टि

मैंने विचार आरम्भ किया कि स्त्री या काम-क्रीड़ा करने में क्या सुख···है? ज्ञात हुआ कि मुझे उसका कुछ अनुभव नहीं, कुछ ज्ञान नहीं। क्योंकि मैंने उसे भोगा ही नहीं और जबतक भोगूँगा नहीं, तबतक मुझे उसका अनुभव भी न होगा। इस समय मुझे स्त्री या काम-क्रीड़ा में जो आनन्द प्रतीत होता है, वह केवल देखने-सुनने आदि से। देखने, सुनने और पढ़ने से मन में स्त्री या काम-क्रीड़ा के प्रति सुख - आनन्द का भाव हो गया है। बस, उसमें आनन्द होने लगा। परन्तु प्रतीत होने लगा··स्त्री में। देता है कौन··? मन··परन्तु प्रतीत होने लगा··स्त्री में। जबकि स्त्री द्वारा होने वाला आनन्द मन ही देता है, तो यदि उसमें दुःख या व्याकुलता का भाव कर लिया जायगा तो उससे दुःख-व्याकुलता होने लगेगी परन्तु प्रतीत होने

लोग... स्त्री व काम-क्रीड़ा में... और ऐसा होता भी है। जबकि ऐसा होता भी है तो दुःख का स्मरण करके स्त्री या काम-क्रीड़ा को क्यों न त्याग दिया जाय...। फिर प्रश्न उठता है कि स्त्री या उसके साथ काम-क्रीड़ा करने में दुःख ही का भाव किया जाय तो ऐसा क्यों न हो कि उसके सुख या आनन्द से रहित हो जाऊं...। इस लिये विचार करके ही उसमें दुःख का भाव करना चाहिए। अनुचित या अवांछित रूप के मन के स्मरण को दुःख का भाव करके ही रोकना चाहिए। यह ठीक है कि मुझे काम-क्रीड़ा का सुख या आनन्द का अनुभव नहीं है, परन्तु समस्त सृष्टि इस क्रीड़ा को करने के लिये लालायित है और करते हैं। इसलिए मुझे भी उसी ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

मैं स्त्री को सुख रूप जानकर, उसके समीप होने से, एकान्त में होने से, भाव होने से या जानकारी आदि होने से काम-क्रीड़ा की प्राप्ति जानकर प्रवृत्त होजाता हूं। परन्तु उक्त पूर्तियों में से किसी भी एक प्रकार की पूर्ति न होने से काम-क्रीड़ा की प्राप्ति कभी भी न होगी। हां, यदि कहीं कुछ पूर्तियां प्राप्त होजाएं तो बहुत-कुछ प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। ये पूर्तियां विधि में सब प्रकार के कर्मों की परिभाषा से होनी चाहिए। जब तक इस प्रकार कर्मों की पूर्ति न होगी, तब तक काम-क्रीड़ा का करना कभी प्राप्त न होगा।

हां, उस सहित सम्पूर्ण सुख-आनन्द नष्ट अवश्य हो जाएंगे।

तू जो चिन्तन करता है कि मैं सुख रहित हूं, दुःख सहित हूँ, काम-क्रीड़ा के बिना व्याकुल हूं, अभी तो जीता हूँ, फिर मर जाऊंगा। इन कारणों से मुझे काम-क्रीड़ा का आनन्द अभी मिल जाए। परन्तु कर्मों की पूर्ति के बिना कभी नहीं मिल सकता। पूर्ति में भी जब तक परिमाण में पूर्ति न होगी, तब तक न मिलेगा।

तू जो चिन्तन करता है कि जिस स्त्री से काम-क्रीड़ा का आनन्द पहले प्राप्त था, वह अब भी मिल जाए। परन्तु संसार में ऐसा आवश्यक नियम नहीं है कि जो वस्तु या अवस्था पहले प्राप्त थी,अब भी वही होजाए। इसी सिद्धान्त के आधार पर पूर्व प्राप्त होने वाले काम-क्रीड़ा के आनन्द को वर्तमान काल में प्राप्त होना जानकर उसके प्राप्त होने का निश्चय नहीं करना चाहिए। हां, वह मिल सकता है कर्मों की पूर्ति से, न कि इस कारण से कि पहले प्राप्त था।

तू अपनेस जान कर प्रवृत्त होता है, परन्तु उससे भी काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त न होगा। क्योंकि अपनेस अनुकूलता को कहते हैं। यह अनुकूलता अनेक प्रकार की होती है। दूसरे यह एक प्रकार की पूर्ति है। इस एक प्रकार की पूर्ति होने ही से काम-क्रीड़ा के आनन्द की प्राप्ति न होगी।

कुटुम्बत्व से भी स्त्री सुख प्राप्त न होगा क्योंकि कुटुम्बत्व एक प्रकार का बन्धन है, जो सुख की प्राप्ति और व्यवहार की सरलता के लिये बना लिया गया है। इस बन्धन में भी विविध प्रकार के कर्मों की पूर्ति करनी पड़ेगी। केवल कुटुम्बत्व से प्राप्ति जान कर चिन्तन, चेष्टा, इच्छा और यत्न करना व्यर्थ है।

उपरोक्त प्रकार से जब तक विधि मे सब प्रकार के कर्मों की परिमाण मे पूर्ति न हो, तब तक स्त्री-सुख या काम-क्रीड़ा के सुख की प्राप्ति न होगी।

कर्मों की पूर्ति करने के लिये विविध प्रकार के कर्मों के संग्रह करने की आवश्यकता है। कर्मों के संग्रह करते समय और पूर्ति करते समय कामवेग को सहन करना पड़ेगा। यह सहन दो प्रकार का होता है (१) समर्थ होकर सहन करना और असमर्थ होकर सहन करना। समर्थ होकर सहन करने से सामर्थ्य, सुख की प्राप्ति और वृद्धि होती है। असमर्थ होकर सहन या त्याग करने से असामर्थ्य, दु ख की प्राप्ति और उसकी वृद्धि होती है। इसलिये मुझे समर्थ होकर सहन-त्याग करना चाहिए।

कामवेग को समर्थ होकर सहन या त्याग करने के लिये इन दृष्टियो से तत्वों के साधन की आवश्यकता है। वे तीन

प्रकार की है (१) भोग की दृष्टि, (२) मानसिक दृष्टि और (३) तात्विक दृष्टि ।

१. भोग की दृष्टि से—

स्त्री के रुष्ट हो जाने या अन्य किसी भी कारण से यह चिन्ता हुआ करती है कि समर्थ-सहन से यदि स्त्री (काम-क्रीड़ा) का सुख प्राप्त न हुआ तो उस सुख या आनन्द से वंचित हो जाऊंगा, परन्तु इसके लिये कोई चिन्ता की बात नहीं। क्योंकि प्रथम तो समर्थ होकर सहन करने से काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त होगा ही,वरन् उसके अधिक होनेकी भी सम्भावना है। दूसरे यदि वह किसी कारणवश न-भी प्राप्त हो,तो क्या वस की बात है···? जब अपने वसकी ही बात नहीं तो चिन्ता भी क्या है ··? तीसरे समर्थ होकर सहन या त्याग करने से काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त न होगा तो क्या है ? अन्य सब प्रकार के अधिक से अधिक सुख तो प्राप्त होंगे ही। यह एक प्रकार का सुख न-हो तो न-सही ··। चौथे ज्ञात नहीं कि और-कितने प्रकार के सुख अप्राप्त है, उन में यह एक काम-क्रीड़ा का सुख और-सही। इस प्रकार पार्थिव या भोग के सुख की दृष्टि से कामवेग को समर्थ होकर सहन करना चाहिए।

२. मानसिक दृष्टि से—

दैनिक व्यवहार, संकल्परचना और स्वप्न से यह सिद्ध

हो चुका है कि जैसा-जैसा मन का स्फुरण होता है, वैसा-वैसा ही जीव को सुख-दु ख होने लगता है। सुख का स्फुरण होता है तो स्त्री मे सुख तथा आनन्द भासने लगता है और दु ख का स्फुरण होता है तो मनुष्य को दु ख-व्याकुलता होने लगती है। देने वाला मन है, परन्तु भासता है स्त्री में। क्योंकि स्त्री मे सुख-दु ख के भाव का अभ्यास कर लिया है। अत स्त्री के विषय में जिस प्रकार का, जिस अवस्था मे और जितने परिमाण मे अभ्यास किया जाएगा—उस अवस्था मे, उस प्रकार का और उतने परिमाण मे मन का स्फुरण होगा और वैसा ही भासेगा। हमे अपने आदर्श के अनुसार स्त्री के विषय मे मन का स्फुरण करना है। इसलिये मन के स्फुरण का अभ्यास अपने आदर्श के अनुसार करना चाहिए। हमारे आदर्श मे सिद्धान्त, वन्धन, नियम, नीति, अधिकार, आवश्यकता, निर्दोषिता, निर्लेपता और भौतिक-मानसिक समीपता-दूरता तत्व आते है।

३. तात्विक दृष्टि से—

(१. सुख प्राप्त होने की दृष्टि से)—

यदि तेरे मे शक्ति और गुण हुआ तो स्त्री या उसका काम-क्रीड़ा का आनन्द स्वयं प्राप्त होगा। यदि वे न हुये तो तेरे लाख चिन्तन - यत्न से भी काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त न होगा।

यदि उसने तेरे को सुख रूप जाना तो वह स्वयं तेरे को पाने का यत्न करेगी। यदि उसने सुख रूप न जाना या दुःख रूप जाना तो तेरे लाख चिन्तन, चेष्टा, इच्छा, तथा यत्न से भी प्रसन्न न होगी और न-हि वह तुझे ग्रहण करेगी। इसलिये उसके प्राप्त होने-न होने की चिन्ता, चेष्टा इच्छा तथा यत्न करना व्यर्थ है।

यदि तेरे कर्मों से स्त्री के कर्मों की अनुकूलता है तो तेरं को वह स्वयं प्राप्त होगी और प्रतिकूलता है तो वह कभी प्राप्त न होगी। प्रतिकूलता में तुझे करना भी क्या है? इस अवस्था में तो वह दुःखदायी ही रहेगी। इसलिये वह प्राप्त न हो, तो ही अच्छा है।

यदि प्रकृति में स्त्री या उसके सुख को पाना हुआ तो अवश्य प्राप्त होगा। यदि न पाना हुआ तो लाख चिन्तन-यत्न में भी प्राप्त न होगा। जिससे काम-क्रीड़ा का सुख पाना हुआ, उसी से होगा-- अन्य से नहीं। और जितने परिमाण में पाना होगा, उतने ही परिमाण में मिलेगा- न्यूनाधिक नहीं। इस विचार के परिणाम स्वरूप स्त्री सुख के पाने न पाने, जिससे पाने-जिससे न पाने और जितने परिमाण में पाने आदि का कुछ चिन्तन न करना चाहिए। प्रकृति में जैसा भी होना होगा, हो जाएगा। हमें प्रकृति के अनुसार अपना कर्तव्य-पालन करते चले जाना चाहिए।

(२. कर्तव्य दृष्टि से)—

जीवन का उद्देश्य कर्तव्यपालन है, न कि काम-क्रीड़ा का सुख भोगना। हाँ, जीवन का उद्देश्य यह भी नहीं है कि काम-क्रीड़ा के सुख का त्याग करना। जीवन का उद्देश्य भोग तथा त्याग दोनों नहीं है और दोनों ही हैं, तो कर्तव्यपालन करते-करते जो भी अवस्था प्राप्त हो उसी में सन्तोष या आनन्द के साथ रहना चाहिए या उसका पालन करना चाहिए।

(३. मृत्यु के पश्चात् की दृष्टि से)—

जीवन में काम-क्रीडा या सुख भोगा - तो न-भोगा - तो, अल्प परिमाण मे भोगा तो-प्रचुर परिणाम में भोगा तो-एक वार भोगा तो-करोड़ बार भोगा तो, एक स्त्री को भोगा तो और करोड़ों स्त्रियों को भोगा तो मृत्यु के पश्चात् सब बराबर है।

जीवन के आदि तथा अंत में क्या है··? कुछ नहीं। जो अनन्त रूप हैं। इस अनन्त-कुछ-नहीं मे जीवन नहीं के तुल्य है। इस अत्यन्त अल्पकालीन या नहीं-तुल्य जीवन में स्त्री को भोगना और उसके लिये यत्न करना व्यर्थ है। साथ ही जीवन को रखना भी व्यर्थ है। अथवा यों कहना चाहिए कि न-तो स्त्री को भोगना चाहिए और न उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिए। एवं जीवन रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु 'जीवन को नष्ट नहीं किया

जा सकता, इसलिये उसे कर्म करना पड़ेगा। कर्म सिद्ध होने पर कुछ-न-कुछ उपयोग भी है ही। इसलिये कर्म करते-करते जब कोई भोग प्राप्त हो जाए तो उसे त्यागना भी नहीं चाहिए और न वह त्याग सकता है। एवं जब वे अप्राप्त हों, तो अनुचित रूप से या अकर्तव्य कर्मों के द्वारा उनको प्राप्त करने के लिये लालायित भी न होना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य को समर्थ होकर कामवेग को सहन करना चाहिए।

(४. प्राकृतिक दृष्टि से)—

—(प्रकृति के एक गुण या स्फुरणा की दृष्टि से)—

'मै' कोई वस्तु ही नहीं है। केवल 'मै' की कल्पना व्यवहार के लिये हो गई है। जबकि 'मैं' कोई वस्तु ही नहीं है तो किसको सुख होगा, किसको दुःख होगा और कौन स्त्री को भोगेगा...? जिसको सुख-दुःख होगा और जो स्त्री को भोगेगा, वह तो प्रकृति का गुण या स्फुरणा है। उस प्रकृति के गुण या स्फुरणा को सुख-आनन्द हो तो मुझे क्या...? अथवा उसे दुःख या व्याकुलता हो, तो मुझे क्या...? उसे काम-क्रीड़ा का सुख हो, तो मुझे क्या और उसे उस बिना व्याकुलता हो, तो मुझे क्या...? उसे जो-भी कुछ हो, होता रहे, मुझे इससे कुछ प्रयोजन नहीं। उसे प्राप्त होना-न होना उसका स्वभाव है, होता ही रहेगा। इसकी मुझे कुछ चिन्ता नहीं...।

—(प्रकृति के गुण या स्फुरण का सामुहिक दृष्टि से)—सृष्टि मे जितना भी जो कुछ है, सब प्रकृति का गुण या स्फुरण है। उससे ही सब कुछ हो रहा है। प्रकृति का कोई गुण या स्फुरण उदय होता है - कोई लीन होता है, कोई बड़ा होता है- कोई छोटा, कोई टेढ़ा होता है और कोई सीधा। कोई जीवित होता है तो कोई मरता है, कोई सर्व-सुख सम्पन्न होता है तो कोई उससे रहित होता हैं और कोई स्त्री-सुख से सम्पन्न होता है तो कोई उससे रहित। जिस प्रकार समष्टि रूप में नदी की लहरों की कुछ हानि-लाभ नही, उसी प्रकार समष्टि रूप में प्रकृति के गुणों या स्फुरणों की कुछ हानि-लाभ नहीं। जबकि कुछ हानि-लाभ नहीं तो फिर क्या चिन्ता…?

अत: प्राकृतिकता मे समष्टि दृष्टि से प्रकृति के गुणों या स्फुरणों का कुछ हानि-लाभ नहीं, चाहे एक गुण को स्त्री-सुख प्राप्त हो या न हो। 'मैं' कुछ हूँ नहीं, तो मुझे चिन्ता क्यों हो? इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टि से काम के वेग को सहन करना चाहिए।

(५. अद्वैत दृष्टि से)—

—जहाँ दो होते हैं वहाँ ही जन्मना-मरना, क्षीण-वृद्धि, सुख- मैं-तू और यह-वह आदि होते है। परन्तु जहाँ दो नहीं,

वहाँ कुछ नहीं। जब कि 'मैं' तथा 'स्त्री' दो भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं है तो भोगनेवाला कौन और भोगी जानेवाली कौन··? सुख तथा आनन्द किसको होगा और किस विषय से होगा··? यह सब-कुछ नहीं बनता। जब कि अद्वैत दृष्टिमें यह-सब कुछ नहीं बनता तो मुझे स्त्री या काम-क्रीड़ाका सुख प्राप्त न होगा, इसकी भी चिन्ता क्यों··? इस प्रकार काम वेग को समर्थ होकर सहन करना चाहिए।

उपरोक्त विवेचन के अनुसार साधक निश्चय करता है कि मैं भोग की दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से और तात्विक दृष्टि से कामवेग को समर्थ हो कर सहन कर सकता हूँ।

कामवेग को समर्थ होकर सहन करने का मार्ग तो निकल आया। अब इस विषय को जानने की आवश्यकता है कि काम-क्रीडा को प्राप्त करने के लिये किस प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति करनी चाहिए और किस प्रकार के कर्मों मे नहीं। इस विधि-निषेध का अनेक अध्यायों में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसी को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दोहराया जा रहा है। (१) सिद्धान्त, (२) बन्धन, (३) नियम (४) नीति, (५) अधिकार, (६) आवश्यकता, (७) निर्दोषिता (८) निर्लेपता और (९) भौतिक तथा मानसिक सर्वांपना-दक्षता

तत्वोंको कर्मों की पूर्ति करते हुये या संग्रह करते हुये देखना चाहिए।

'सिद्धान्त' मे सत्य या उद्देश्य को देखा जाता है। 'बन्धन' में समाज या राजनियम को देखते हुये कर्म-पूर्ति का पालन किया जाता है। 'नियम' में चोरी-अचोरी तथा कृपा-अकृपा आदि नियमों को देखा जाता है और उसके अनुसार कर्म किया जाता है। 'नीति' तत्व में समष्टि रूप से मनुष्यों की उन्नति देखकर कार्य करना पड़ता है। 'अधिकार' तत्व में अपनी ऐसी शक्ति को देखा जाता है, जिसकी सामर्थ्य में कोई हस्त-क्षेप न कर सके। 'आवश्यकता' मे मनुष्यको अपनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक आदि विषय की आवश्य-कताओं को काम-क्रीडा करते हुये या अन्य भोग भोगते हुये देखना पडता है। 'निर्लेप'तत्व में कर्म करते हुये निर्लेप रहना आवश्यक है। इस निर्लेपता की प्राप्ति समर्थ-महन में हो जाती है। 'निर्दोष' तत्व में अभी कहे हुये सिद्धान्त आदि सातों तत्व आजाते है। 'भौतिक तथा मानसिक समीपता-दूरता' में पहाड़, नदी, मार्ग और भवन तथा भावों-विचारों आदि की दूर-समीपता देखी जाती है। इस प्रकार विधि में सब प्रकार के कर्मों को संग्रह करते हुये परिमाण में पूर्ति [illegible] चाहिए।

स्त्री के भाव निर्दोष रूप से जानना—

अबतक मैं ने यह जाना है कि मैं स्त्री की ओर क्यों प्रवृत्त होता हूँ ? किस किस प्रकार से प्रवृत्त होता हूँ ? उसके प्राप्त न होने पर अकर्तव्य कर्म-शिला से टकरा कर कर्तव्य कर्म-पथकी ओर अग्रसर होता हूँ और कर्तव्य कर्म करने के लिये कुछ संकेतों का ज्ञान करता हूं। कर्मों की विधि-निषेध का भी मुझे ज्ञान हो जाता है और मनोवेग किस प्रकार सहन करना चाहिए, इसको भी जान लिया है। इन सब साधनों के जानने के उपरांत 'स्त्री के भाव' के ज्ञान करने की आवश्यकता हो जाती है। क्योंकि काम-क्रीडा स्त्री से की जाती है और उस क्रीड़ा का सम्बन्ध उसके मनोभाव से रहता है। इसलिये स्त्री के भाव जानने अत्यंत आवश्यक है।

काम-क्रीडा का आनन्द भोगने के लिये स्त्री के क्या भाव हैं ? वह अनुकूल भाव रखती है या प्रतिकूल। अथवा दोनों से से कोई भाव नहीं है या दोनों प्रकार के भाव हैं। इन भावों के जानने के साधन का ज्ञान करना चाहिए।

—(भाव का सामान्य रूप से वर्णन)— अंत करण का वह स्फुरण जिसके प्रेरण से चेतन - पिण्ड इन्द्रियों के द्वारा कर्म करता है, भाव कहलाता है।

ये भाव चेतन- पिण्ड के भाव के द्वारा नहीं जाने जाते। यह

तो उससे प्रेरित इन्द्रियो की क्रियाओं तथा उनसे रचित वस्तुओं, अर्थात् लक्षणों से जाने जाते हैं। उनके बिना मै अपने भावो से दूसरे के भाव नहीं जान सकता।

उक्त लक्षण दोषी भी होते हैं और निर्दोष भी। दोनों ही प्रकार से भावों का ज्ञान हो सकता है। जबकि दोनों ही प्रकार से भावो का ज्ञान हो सकता है तो निर्दोष लक्षणों ही से स्त्री के भावों का क्यों न ज्ञान करूं? जिससे मैं निर्दोष तो रहूंगा यदि मै दोषी लक्षणों से स्त्री के भाव का ज्ञान करूंगा तो दोषी हो जाऊंगा। भाव का ज्ञान तो समान रूप से होगा परन्तु दोषी विशेष रूप मे बन जाऊंगा। अत स्त्री के भाव निर्दोष रहकर ही जानना चाहिये ?

निर्दोष रहने के तत्व हमारे आदर्श मे वर्णित हैं। जब इन साधनों या तत्वों के आधार पर स्त्री के भाव जानूंगा तो मैं निर्दोष रहूंगा और स्त्री के भाव भी जान लूंगा। इस आदर्श के अतिरिक्त स्त्री के भाव का ज्ञान करने के लिये अन्य भी अनेक निर्दोष साधन है, जिनका चिन्तन करना आवश्यक है।

(१ स्त्री मैथुनादि करती है)—

चाहे स्त्री किसी भी पुरुष या पति से मैथुनादि करे, परन्तु नो है। वह करती है, इसलिये उसमे इस भाव का होना जाता है।

जैसा वह पुरुष है, वैसा ही मैं भी हूँ। फिर वह मुझसे काम क्रीड़ा क्यों नहीं करती…? इसका उत्तर यही है कि उसका उस पुरुष से सामाजिक या राजनियम आदि से सम्बन्ध हो गया है। अथवा यों कहना चाहिये कि बन्धन होगया है। यदि यह बन्धन मुझ से होजाता तो वह मुझ से काम-क्रीड़ा करने लगती। अत. काम-क्रीड़ा का करना-न-करना मानुषिक बन्धन पर निर्भर है। वास्तव मे भाव नही है ऐसा नहीं है क्यों कि कभी कभी वह काम-क्रीड़ा का भाव बन्धन तोड़कर अन्य पुरुष से सम्बन्ध प्रकट करने लगता है। इससे सिद्ध होजाता है कि समस्त स्त्रियों का मुझ या किसी भी पुरुष से काम-क्रीड़ा करने का भाव है परन्तु बन्धन के कारण वह न क्रीडा करती है और न भाव ही प्रकट करती है।

(२. स्त्री निश्चय करती रहती है)—

स्त्री, किसके साथ किस प्रकारका व्यवहार करना और किस के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना, यह निश्चय करती रहती है और उसी के अनुसार निश्चित व्यक्ति से व्यवहार करती है।

स्त्रीने जिसके साथ भी मैथुनादिका व्यवहार करना निश्चित करलिया है—बस, वह उसीके साथ उस व्यवहार को करती है। यदि वह मेरे साथ उक्त व्यवहार का करना निश्चित करले तो वह मेरे साथ भी उक्त व्यवहार को करने लग जाए। रुकावट है

तो निश्चय करने की ही है। निश्चय वह चाहे जब कर सकती है। जब भी वह निश्चय कर लेगी तब ही उस मे मुझसे काम क्रीडा करनेके भाव हो जायेंगे और अवसर मिलने पर मैथुनादि भी करेगी।

अतः सिद्ध हो जाता है कि मुझसे मैथुनादि करने के स्त्री मे भाव हैं, परन्तु वह इस व्यवहार को करना नहीं चाहती। क्यो कि उसने ऐसा करने का निश्चय नहीं किया है।

(३. स्त्री पडदा करती है)—

पडदा करने का अर्थ है कि अपने अंगों को न दिखाना। अर्थात् पुरुष स्त्री के अंगो को न देख सके।

पड़दा न करने पर पुरुष स्त्री के अंगों को देखेगा तो उस मे काम वृत्ति जागृत हो जाएगी और वह काम-क्रीडा करने का भाव प्रकट करने लगेगा। जिस से उक्त स्त्री में भी काम-वृत्ति का भाव जागृत हो जाएगा। जिसका जागृत करना अवांछनीय समझा जाता है। यहां 'पड़दा करना' का अन्य अर्थ नही लेना चाहिए।

अत. स्त्री के पड़दे करने से सिद्ध हो जाता है कि उसमे मुझ (या पुरुप) से काम-क्रीड़ा करने के भाव है परन्तु वह किसी कारण से उस पर नियन्त्रण किये हुये है, इसलिये ही वह मुझ से न काम-क्रीड़ा करती है और न भाव ही प्रकट।

(४. स्त्री पृथक रहती है)—

स्त्री मुझ या पुरुष से पृथक् रहती है। इसका कारण कोई महान् हानि है और वह-हानि काम-क्रीड़ा करने की ही हो सकती है, अन्य नहीं। वह काम-क्रीड़ा स्त्री की इच्छा के बिना होना संभव नहीं। अतः सिद्ध हो जाता है कि स्त्री पुरुष से जो पृथक् रहती है, इसका कारण यही है कि उसमे काम-क्रीड़ा करने के भाव है। इसलिये ही वह पृथक् रहती है, क्योंकि वह सब पुरुषों से या चाहे जिस पुरुष से काम-क्रीड़ा नहीं करना चाहती अथवा नहीं कर सकती।

(५. देखने, सुनने और पढ़ने से भी काम-क्रीड़ा-भाव की सिद्धि)--

देखने से ज्ञात होताहै कि समस्त स्त्री तथा पुरुप अपने-अपने सुखों के लिये करते हैं। वे पृथक्-पृथक् हैं। उनका आपस मे जो सम्बन्ध है, वह स्वार्थिक तथा बांधनिक है। इस प्रकार का सम्बन्ध तो मुझ से भी हो सकता है। जब कि इस प्रकार का सम्बन्ध मुझ से भी हो जाएगा तो वह मुझ से भी काम-क्रीड़ा करने लगेगी और उसमे मेरे प्रति काम-क्रीड़ा करने के भाव हो जाएंगे। ऐसा नहीं होने का कारण यही है कि स्त्री से मेरा स्वार्थिक तथा बांधनिक सम्बन्ध नहीं हुआ है। अतः देखने से सिद्ध हो जाता है कि स्त्री में मुझ से काम-क्रीड़ा करने के भाव है।

कथा-कहानी तथा जन-पत्र सुनने और पढ़ने से स्पष्ट होता है कि शक्ति-गुण, कर्मों की पूर्ति और कर्मों की अनुकूलता होनी चाहिए, किसी भी स्त्री से काम-क्रीड़ा की जा सकती है क्योंकि उसमें काम-क्रीडा करने के भाव है।

(६. व्यवहार से भी काम-भाव की अस्तित्वता)—

जब कि स्त्री म मुझ या किसी भी पुरुष में अन्य सब प्रकार के व्यवहार करने के भाव है और करती है तो यह नहीं हो सकता कि उसका मुझ से काम-क्रीड़ा करने का भाव न हो और वह उस व्यवहार को न करे। यदि वह उस व्यवहार को नही करती है तो इसका कारण यही हो सकता है कि वह किसी प्रकार के बन्धन मे बधी हुई है या उसने कोई विशेष निश्चय कर रखा है।

(७ सर्व-सुख भोगने की दृष्टि से भी काम-भाव की अस्तित्वता)—

जबकि स्त्री किसी भी पुरुष से किसी भी प्रकार का सुख भोगती है या भोग सकती है और उसे भोगने का भाव भी है, तो यह नहीं हो सकता कि काम-क्रीड़ा का सुख मुझ से भोगने का भाव न हो और वह भोगे नहीं। यदि वह ऐसा नहीं करती है तो किसी विशेष बन्धन या विशेष निश्चय के कारण ही। परन्तु यह-तो सिद्ध हो ही जाता है कि स्त्री का मुझ से काम-क्रीड़ा करने का भाव है।

(८. वातावरण से काम-भाव की अस्तित्वता)—

काम-क्रीड़ा सम्बन्धी भावना का अस्तित्व वातावरण से भी सिद्ध हो जाता है ।

संसार के समस्त पशु-पक्षी और मनुष्यादि काम-क्रीड़ा करते हैं जिनके संस्कार वातावरण के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। वही संस्कार स्त्री में भी पड़ते है। उस सर्वत्र व्याप्तता का प्रकटीकरण जहाँ-तहाँ चेतन-जगत और पुस्तकों आदि द्वारा होता रहता है। इस वातावरण के आधार पर कहा जा सकता है कि स्त्री मे मुझ से काम-क्रीड़ा करने के भाव हैं। यदि वह उन्हें प्रकट न करे या उन्हे कार्यान्वित न करे, यह दूसरी बात है।

(९. स्वभाव की दृष्टि से भी काम-भाव की अस्तित्वता)—

संसार मे जो भी कुछ होता है, सब स्वभाव ही से। स्त्री जाति मे भी गुण तथा क्रिया आदि का स्वभाव रहता है। जबकि समस्त स्त्रियों में काम-क्रीड़ा करने का स्वभाव है और वे करती है, तो किसी विशेष स्त्री मे उस क्रीड़ा के करने का भाव न हो और वह उक्त क्रीडा को न करे, ऐसा नहीं हो सकता। परन्तु वह किसी कारणवश न करे, यह दूसरी बात है। अतः सिद्ध हो जाता है कि स्त्री मे मेरे प्रति काम-क्रीड़ा करने के भाव है।

वैयक्तिक रूप में काम-भाव को जानना

वैयक्तिक रूप मे किसी भी स्त्री के काम-क्रीडा करने के भाव निम्न दो विधियों से जाने जा सकते हैं ।

१. अन्य किसी स्वार्थ के न होने पर—

जब कोई स्त्री किसी भी पुरुष से प्रेम-व्यवहार करती है, उसको अनेक प्रकार का सुख पहुंचाने का यत्न करती है और उसका अन्य किसी भी स्वार्थ से सम्बन्ध नहीं होता तो उस समय अपवाद को छोड़ कर काम-क्रीड़ा का ही स्वार्थ रहता है। यह भाव उस के व्यवहार से प्रतीत हो सकता है ।

२. काम-क्रीड़ा सम्बन्धी क्रिया करना—

स्त्री मे जब काम-क्रीडा सम्बन्धी भाव होगा तो वह उस मे सम्बन्ध रखनेवाले शब्दों का उच्चारण और क्रियाएँ करने लगेगी। यह भी वैयक्तिक व्यवहार के प्रसंग से ज्ञात होगा।

अब तक काम-क्रीड़ा सम्बन्धी स्त्री के भाव जानने के ग्यारह साधन प्राप्त हुये हैं। जिन में पूर्व ९ साधनो से समष्टि रूप से भाव जाने जाते हैं और उत्तर के २ साधनो से वैयक्तिक रूप से भाव का ज्ञान होता है। पूर्व के ९ साधन तो निर्दोष है और उत्तर के २ साधन दोष तथा निर्दोष दोनों प्रकार से काम मे आते हैं या इन दोनों के दोनों रूप रहते हैं। अब स्त्री के

इन काम-क्रीड़ा सम्बन्धी भाव जानने के ११ साधनों के वर्णन करने के उपरांत इस विषय को समाप्त किया जाता है।

स्त्री के काम-भाव जानने के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के विषयों के भी भाव जानने की आवश्यकता होती है। उन्हें इस ग्रंथ में वर्णित आदर्श के अनुसार जानना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य निर्दोष रहता हुआ अपने गन्तव्य पथ पर अग्रसर होता हुआ चला जा सकता है।

साधक की विचार धारा चल रही है। वह निश्चय करता है कि स्त्री के विषय में अपने कर्तव्य पथ का ज्ञान कर लेने के उपरांत जो जो भावी आशंकाएं हैं, उन्हें भी दूर कर लेना चाहिए।

यदि स्त्री आकर्षण करने लगी तो—

काम-क्रीड़ा के विषय मे मन का नियंत्रण करने का अभ्यास करते हुये साधकको यह प्रतीत होने लगा कि मै अवश्य सफलता को प्राप्त हूंगा। इस निश्चय के उपरांत थोड़ी ही देर मे उसे यह आशंका हुई कि यदि स्त्री ने मुझे आकर्षण करना आरम्भ कर दिया तो अनर्थ हो जाएगा। यदि मैं उससे काम - क्रीड़ा करता हूं तो अपने ध्येय से गिरता हूँ और त्यागता हूँ तो वह रुष्ट हो जाएगी।

(आशंकाएं)—

साधक विचार करता है कि मुझे यह आशंका है कि काम क्रीड़ा के त्यागने से और स्त्री के रुष्ट होने पर एक तो यह घटना या चिन्ता हो सकती है कि वह मैथुनादि न करे। इस के लिये यह समाधान है कि शक्ति-गुण तथा सुख रूप जानने से वह स्वयं ही काम-क्रीड़ा करेगी। यदि वह न करेगी तो दूसरी करेगी, कोई-न-कोई करेगी अवश्य। इसलिये काम-क्रीड़ा 'न करने' की चिन्ता न करनी चाहिए।

दूसरी आशंका यह होती है कि वह-तो रुष्ट हो जाएगी और दूसरी स्त्री में करने का भाव रहेगा नहीं, तो मैं इस सुख-आनन्द से वञ्चित हो जाऊँगा। इसका समाधान यह है कि यह एक प्रकार का का सुख प्राप्त न होगा तो क्या है...? अन्य सब प्रकार के अधिक से अधिक सुख तो प्राप्त होंगे ही। यह एक प्रकारका सुख प्राप्त न हो तो, न सही...। दूसरे ज्ञात नहीं कि अन्य कितने और प्रकार के सुख अप्राप्त हैं, उन में यह भी और-सही। तीसरे जब मैं अपने में काम-क्रीड़ा करने के भाव ही न रखूँगा तो मुझे किसी प्रकार दुःख भी न होगा। अतः स्त्री रुष्ट हो जाए तो कोई चिन्ता की बात नहीं।

तीसरे प्रकार से आशंका यह होती है कि वह रुष्ट हो जाएगी, तो अनेक प्रकार से हानि पहुँचाने का यत्न करेगी। जबकि मैं उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा रहा और

अपने हित साधन में लगा हुआ हूं, फिर भी वह मुझे हानि तथा दुःख पहुंचाने का यत्न करेगी और मुझ पर अत्याचार करेगी तो ऐसी अवस्था में मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं अपनी जिस प्रकार भी हो रक्षा करूं। परन्तु भय भीत होकर काम-क्रीड़ा न करना। यदि वह करना आवश्यक हो जाए तो सम्यक् विचार करके ही करना चाहिए। यदि सम्यक् विचार का अवसर न मिल सके, तो जितना भी समय मिले— उतने ही में विचार करके कर्तव्यपालन करना।

चौथे प्रकार की आशंका प्रलोभन की हो सकती है। उस से बचने के लिये अपने आदर्श को देखना चाहिए कि मेरा आदर्श क्या है···? प्रलोभन देते हुए वह कहेगी या वह अपने व्यवहार द्वारा यह प्रकट करेगी कि 'मैं तेरी हूँ, तेरे लिये करती हूं और कर सकती हूं'। अब इस विषय पर विचार करना चाहिए कि वास्तव में क्या है···?

(तेरी हूं और तेरे लिये करती हूं)—कोई स्त्री प्रसन्नता तथा मधुरता से और स्नेह सिंचन करती हुई देखती है। अथवा अनेक प्रकार से सुख पहुंचाने का साधन जुटाती है और पहुंचाती है। अथवा वह यह कहती है कि मैं तेरे सुख के लिये करती हूं, तेरी हूं और तेरे लिए ही कर सकती हूं। अब प्रश्न उठता है कि क्या वह वास्तव में मेरी है···? क्या वह मेरे सुख के लिये कर सकती है··? और क्या वह मेरे सुख के

लिये करती है …? यदि गम्भीरता से विचार करके देखा जाए तो वास्तव या मूल रूप में वह न मेरी है, न वह मेरे सुख के लिये कर सकती है और न-हि वह मेरे सुख की प्राप्ति के लिये करती है …। वह अपनी है, अपने सुख के लिये कर सकती है और करती भी अपने ही सुख की प्राप्ति के लिये है। इस सत्यता का नीचे की विवेचना से ज्ञान होगा।

(१) स्त्री के तथा मेरे भाव पृथक्-पृथक् हैं। उसे अपने भाव भासते हैं और मुझे अपने भाव भासते हैं। उसका शरीर पृथक् है और मेरा शरीर पृथक् है। उसके सुख-दुःख पृथक् हैं और मेरे सुख-दुःख पृथक् हैं। इन कारणों से वह अपनी है, मेरी नहीं। वह जो यह कहती है कि 'मैं तेरी हूं' यह कहना नहीं बनता।

(२) जब कि वह अपनी है तो वह अपने ही सुख की प्राप्ति के लिये करेगी और ऐसा करती भी है। जैसे—

अ. जब उसका जन्म हुआ था तो वह अपने ही भूख-प्यास से दुःखी होती थी और उनके दूर होने से वह सुखी हो जाती थी। उस समय उसे मेरे सुख से कोई प्रयोजन नहीं था।

आ. जब वह बडी हुई तो वह अपने ही सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होती थी। उसे अपना ही खाना, पीना और पहरना आदि अच्छा लगता था। उस समय उसे मेरे खाने, पीने और पहरने आदि का ज्ञान ही न था और उसे जो भी

दुःख होता था, उसे दूर करने का यत्न करती थी और वह उसे दूर करके प्रफुल्लित हो जाती थी। परन्तु मुझे जो दुःख होता था, उसे उसको दूर करने की कुछ चिन्ता न थी।

इ वह अपने घर के लोगो के सुख की प्राप्ति के लिये नहीं करती तो मेरे सुख की प्राप्ति के लिये भी नहीं करती। जबकि वह किसी के भी सुख की प्राप्ति के लिये नहीं करती, तो अपने ही सुख-प्राप्ति के लिये करती है।

ई जबकि वह संसार के किसी भी स्त्री-पुरुष के लिये नहीं करती, तो वह मेरे सुख के लिये भी नहीं करती। जबकि वह किसी के भी सुख के लिये नहीं करती, तो किसी के सुख के लिये तो करती ही है? उस किसी के में उसका अपना सुख पाया जाता है।

उ संसार में मुझ से बहुत अधिक-अधिक दुःखी है। वह उनके लिये क्यों-नहीं करती? इसका कारण यही है कि वे उसको प्रिय नहीं है। मेरे सुख के लिये इस लिये करती है कि मैं उसे प्रिय लगता हूँ। प्रिय लगना ही 'सुख' होता है। मेरे को सुख पहुँचाने में उसे सुख होता है, इस लिये वह मेरे सुख के लिये करती है।

ऊ दिन रात के व्यवहार से भी सिद्ध हो जाता है कि जब उसे मेरे द्वारा सुख होता है तब-तो वह मेरे को सुख पहुंचाने का यत्न करती है और जब उसे मेरे द्वारा दुःख होता

है तो वह मुझे सुख पहुंचाने का यत्न नहीं करती, वरन् दुःख पहुँचाना चाहती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वह अपने ही सुख की प्राप्ति के लिये यत्न करती है, मेरे सुख के लिये नहीं।

ग. यदि यह कहा जाए कि वह मेरे काम-क्रीड़ा के ही सुख को चाहती है, तो यह भी बात नहीं बनती। क्योंकि—

जबकि वह मेरे अन्य किसी भी प्रकार के सुख को नहीं चाहती, तो काम-क्रीडा के सुख को भी नहीं चाहती। जैसे और - अन्य सब प्रकार के सुख, वैसा ही काम-क्रीडा का सुख भी।

दूसरे मैं बारम्बार चाहता हूँ कि वह मेरे साथ काम-क्रीडा करने की इच्छा प्रकट करे, परन्तु वह ऐसा नहीं करती। जब उसी की इच्छा होती है, तभी वह अपनी उस इच्छा को प्रकट करती है। इससे सिद्ध होता है कि वह काम-क्रीड़ा को भी अपने ही सुख के लिये चाहती है।

तीसरे वह मुझे छोड़ कर अन्य पुरुष से काम-क्रीड़ा करने की इच्छा प्रकट करती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वह जो काम-क्रीडा करने की इच्छा प्रकट करती है; वह अपने ही सुख के लिये, न-कि मेरे सुख के लिये।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट होजाता है कि स्त्री अपने ही के लिये करती है, न-कि मेरे सुख के लिये। मेरे सुख की

प्राप्ति के लिये वह जो करती दृष्ट आती है, वह भी वास्तव (मूल) में अपने ही सुख की साधना के लिये है।

(३) स्त्री कर भी सकती अपने ही सुख के लिये है, दूसरे के लिये नहीं। दूसरों के प्रति तो वह कर्तव्यपालन ही कर सकती है। अब इस विषय को स्पष्ट करना चाहिये।

जब कि स्त्री को अपने ही सुख-दुख तथा आवश्यकता का अनुभव होता है, दूसरों के का नही, तो वह अपने लिये ही कर मकनी है; दूसरों के सुख की प्राप्ति तथा दु ख की निवृत्ति के लिये नहीं। हां, दूसरों के सुख दुख तथा आवश्यकताओं को जानकर, अपने सुख की प्राप्ति के लिये, उनके प्रति अपना कर्तव्यपालन कर सकती है।

यदि वह अपने सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के लिये यत्न करती नहीं, जिसका उसे अनुभव होता है, और मेरे सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के लिये मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, जिनका उसे अनुभव नहीं होता, तो इसका परिणाम यह होगा कि न उसे सुख की प्राप्ति होगी और न मुझे। दोनों ही दुःख भोगते हुए नष्ट हो जाएंगे। दोनों के सुख की प्राप्ति के लिये यही आवश्यक है कि वह अपने ही सुख की प्राप्ति के लिये यत्न करे और दूसरे के (मेरे) सुख लिये अपना कर्तव्यपालन करे। स्त्री यही कर सकती

है, इससे अधिक और-कुछ नही। क्योंकि प्रकृति ने ऐसा ही सृष्टि का विधान किया है।

उपरोक्त "मै तेरी हू और तेरे लिये करती हूँ" इस विषय की तीनो प्रकार से विवेचना करने पर सिद्ध हो जाता है कि स्त्री अपनी है, मेरी नही। वह अपने ही सुख की प्राप्ति के लिये कर सकती है, मेरे सुख की प्राप्ति के लिये नही। और करती भी अपने ही सुख की प्राप्ति के लिये है, मेरे सुख के लिये नहीं। मेरे प्रति तो वह अपना कर्तव्यपालन ही कर सकती है। यदि वह यह कहे कि 'वास्तव मे मैं तेरी हूँ, तेरे सुख की प्राप्तिके लिये करती हूँ और तेरे लिये ही कर सकती हू' तो वास्तव मे ऐसा नही है। ऐसा कहना असत्य है। यदि वह उक्त विषय को जानती हुई कहती है, तब-तो वह मुझे अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये फँसाना चाहती है और यदि वह अनजानता से कहती है तो उसे अज्ञान है, भ्रम है। अत मुझे दोनो ही प्रकार से उसके प्रलोभनो मे नही फसना चाहिए।

आशंका निवारण

मै अपना हूं और अपने सुख के लिये करता हूं—

अनेक बार ऐसी अवस्था आ जाती है कि मै स्वय ही

मोहित होजाता हूँ और मुझे आशंका होने लगती है कि कहीं मैं असत्पथ पर न चला जाऊं ? उन अवस्थाओं मे मेरे पास सत्-असत् निर्णय करने का कोई साधन नही होता। उस समय मुझे ऐसा ज्ञात होने लगता है कि 'मैं स्त्री का हूँ, स्त्री के सुख के लिये कर सकता हूँ और करता भी उसी के सुख के लिये हूं'। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। सत्यता मे तो ऐसा है कि 'मैं अपना हूँ, अपने सुख के लिये कर सकता हूँ'। और करता भी अपने ही सुख के लिये हूं । दूसरे के प्रति तो कर्तव्यपालन ही कर सकता हू'। इसके अतिरिक्त और-कुछ नहीं । इस सत्यता की निम्न तत्वांशों से सिद्धि होजाती है।

(१) मेरा तथा स्त्री का शरीर पृथक्-पृथक है, सुख-दुःख पृथक् है और भावों का अनुभव पृथक् है। इन कारणों से मैं स्त्री का नहीं हूँ, अपना हूं।

(२) तू जो कहता है कि मै स्त्री के सुख के लिये करता हूं, सो यह भी नही है। मै अपने ही सुख के लिये करता हूं। उसके प्रति तो कर्तव्यपालन ही कर सकता हू। इस सत्यता की निम्न अंशो से सिद्धि होती है—

मै जन्म के पश्चात् और बालकपन मे अपने सुख के लिये करता था, स्त्री के सुख के लिये नही। मै घरवालों के लिये, ससार के किसी भी व्यक्तिके लिये और किसी बहुत-दुखी के लिये क्यों-नहीं करता ? मै अपनी वांछित स्त्री के लिये ही

क्यों करना चाहता हूं ? कारण है कि उस से मुझे सुख तथा आनन्द होता है। इस से सिद्ध होता है कि मै जो किसी भी स्त्री के सुख तथा आनन्द के लिये करता हू, वह अपने ही सुख-आनन्द के लिये, न-कि उसके लिये। उसके प्रति तो कर्तव्य-पालन ही करता हू, परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि वास्तव में मै उसके सुख के लिये ही करता हू।

(३) कर भी मैं अपने ही सुख के लिये सकता हूं, उसके सुख के लिये नहीं। क्योंकि मुझे अपने ही भावों का अनुभव होता है, दूसरो के भावो का नही। मेरे भावों में जो सुख-दुख होता है, मुझे उन्हीं का अनुभव होता है। उन भावों से बाहर के भावों का सुख-दु ख का अनुभव नहीं होता। जब कि बाहर के भावों के सुख-दु ख का अनुभव नहीं होता, तो मैं अपने सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरों के सुख की प्राप्ति तथा दु ख की निवृत्ति के लिये कर ही कैसे सकता हूं ? अर्थात् मैं जो कर सकता हू अपने ही सुख की प्राप्ति तथा दु'ख की निवृत्ति के लिये। दूसरों के लिये तो, अपने सुख की प्राप्ति के लिये, कर्तव्यपालन कर सकता हू। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

जबकि मुझे अपने सुख दु ख तथा आवश्यकता का नुभव होता है और दूसरों के सुख-दु ख तथा आवश्यकता अनुभव नहीं होता, तो ऐसी अवस्था मे मै अपने सुख के

लिये तो करूँगा नहीं और दूसरों के सुख के लिये करूँगा तो इसका परिणाम क्या होगा ? न मैं अपनी आवश्यकता पूरी कर सकूँगा और न दूसरे की आवश्यकता पूरी हो सकेगी। अतः दोनों दुःखी होकर नष्ट हो जाएंगे। यदि मैं अपने ही सुख के लिये यत्न करूंगा और दूसरों के प्रति कर्तव्य-पालन, तो दोनों की आवश्यकताएं पूरी होंगी और दोनों ही सुखी होंगे। एवं दोनों का जीवन बराबर बना रहेगा। इस विवेचना से सिद्ध हो जाता है कि 'वास्तव में मैं अपने ही सुख के लिये कर सकता हूँ, दूसरों के लिये नहीं। दूसरों के प्रति तो अपने सुख की प्राप्ति के लिये कर्तव्यपालन ही कर सकता हूं'।

तीसरी बात यह है कि मैं दूसरों-दूसरों के सुख के लिये करूं और अपने सुख के लिये न करूं तो इसका परिणाम यह होगा कि न मैं दूसरों के सुख के लिये कर सकूंगा और न मैं अपने ही सुख के लिये। दूसरे मान लिया जाए कि ऐसी प्रवृत्ति संसार में चल जाए कि मनुष्य दूसरों-दूसरों के सुख के लिये किया करे, तो उसमें भी मनुष्य की आवश्यकता पूरी हो सकती है। परन्तु परिणाम में इस प्रयास में भी अपने ही सुख की प्रधानता रहती है, दूसरों के प्रति तो कर्तव्यपालन ही सिद्ध होता है। जैसे—

एक पुरुष किसी अन्य पुरुष को उसके सुख का साधन

या वस्तु देता है और वह पुरुष ,प्रथम पुरुष को उसके सुख का साधन या वस्तु देता है। यदि उन पुरुषो के उस-उस वस्तु के परिमाण और उपयोग की विधि मे अंतर है तो उस अंतर के अनुसार उन पुरुषों को पृथक्-पृथक् सुख दुःख होगा। जब प्रथम पुरुष, अन्य पुरुष को छोड़ कर उसी के समान, दूसरे व्यक्ति से वस्तु का आदान-प्रदान करेगा और उनके उपयोग तथा संरक्षणता की विधि मे भिन्नता होगी ही। इसी प्रकार प्रथम व्यक्ति तीसरे व्यक्ति से व्यवहार करेगा तो क्या सिद्ध होगा कि प्रथम व्यक्ति का सुख प्रधान रहेगा और दूसरो का सुख गौण। अपना सुख प्रधान होने से वह मुख्यत अपने ही सुख के लिये करेगा और दूसरो के लिये कर्तव्य-पालन। अतः सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य अपने ही सुख के लिये कर सकता है और दूसरों के प्रति कर्तव्यपालन। इस सिद्धात के आधार पर मै भी अपने ही सुख के लिये कर सकता हूँ, दूसरे के लिये नहीं। दूसरे के प्रति तो कर्तव्यपालन ही हो सकता है। इस सिद्धात मे भी अपना सुख प्रधान ठहरता है और दूसरे का गौण।

उपरोक्त तीनो प्रकारों की विवेचना के आधार पर कहा ा सकता है कि मै अपने ही सुख के लिये कर सकता हू, के सुख के लिये नही। उसके प्रति तो कर्तव्यपालन ही ,कता हूँ। यदि मै ज्ञान होते हुये कहता हूँ कि 'मै स्त्री का

हू, उसके सुख के लिये कर सकता हूँ और करता हूँ, तो मेरे अन्त करण मे स्त्री को फंसाने की इच्छा है। यदि मै अनजान से कहता हू तो मुझे अज्ञान है, भ्रम है। ये दोनों ही अवस्थाएं कुमार्ग मे ले जाने वाली है। अत इन दोनों ही अवस्थाओं को छोड़ना चाहिये।

मै स्त्री या अन्य व्यक्तिके प्रति कर्तव्यपालन ही कर सकता हूँ। यह कर्तव्यपालन चार प्रकार से बनता है—

(१) जिसने पहले मुझे सुख पहुचाया हो, (२) जो वर्तमान मे सुख पहुचा रहा हो, (३) जिससे भविष्यत्काल मे सुख पहुचने की संभावना हो और (४) सामान्य रूप से, अर्थात् सर्व-साधारण लोगों को जिस प्रकार सुख पहुँचाया जाता है—उस प्रकार से। ये तीनों कालो और सामन्य रूप के कर्तव्यपालन अपने आदर्श के अनुसार करने चाहिए।

अब एक आशंका यह होती है कि कही काम-क्रीड़ा के सम्बन्ध मे मन के नियंत्रण करते समय अधिक वीर्य होने से शरीर मे कोई नवीन व्याधि न हो जाए ? परन्तु इस बात की कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वीर्य के अधिक होने से व्याधि नहीं होगी। यह निरोगता तथा पुष्टि का सार है। यदि इस आशंका को ठीक मान भी लिया जाए, तो वीर्य क्षय

करने के अनेक साधन हैं। अत' व्याधि के भय से मन को नियंत्रण करने मे हिचकिचाहट न होनी चाहिए

"मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के मुख्य विषय काम-क्रीड़ा के सम्बन्ध में विहंगम दृष्टि से विचार हो चुका है। अब इस विषय को समाप्त किया जाता है। साधक के लिये यह एक विचार या अभ्यास करने की शैली भी है। इसी प्रकार साधक को अभ्यास करना चाहिए और और अभ्यास इतना अधिक होना चाहिए कि साधक के ध्यान करते ही तुरत आवश्यक तत्व उपस्थित हो जाएं।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के मुख्य विषय काम-क्रीड़ा संबन्धी मन के नियंत्रण पर विहंगम दृष्टि से विचार करने के उपरात इस पच्चीसवें अध्याय को समाप्त किया जाता है।

पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त

शुभम्

छब्बीसवां अध्याय

परलोक वर्णन की आवश्यकता

यह अध्याय परलोक विषय सम्बन्धी है। इस में स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म के अस्तित्व पर प्रकाश डाला जाएगा। इसमें यह निर्णय किया जाएगा कि जीव को स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म होता है या नहीं। इस विषय की चाहे सर्व-साधकों को आवश्यकता न हो, परन्तु अनेक साधकों को आवश्यकता रहती है। दूसरे कर्मयोग के विषय में यह विषय महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रखता है। क्योंकि इसके निश्चयात्मिक निर्णय के बिना कर्म-मार्ग पर चलने में सन्देह या भ्रम ही बना रहता है। जहाँ सन्देह होता है, वहाँ एक-तो कर्म-मार्ग में पथिक की अग्रसरता नहीं होती। दूसरे "संशयात्मा विनश्यति" अर्थात् सन्देहवाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है। अतः साधक की अग्रसरता, सफलता, और शांति के लिये परलोक के अस्तित्व पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

तीनों अवस्थाओं और विभिन्न इन्द्रियों में जीव की एकता

१. जाग्रत अवस्था के जीव का वर्णन—

सबसे पहले जीव के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है, क्योंकि इसके अस्तित्व से ही परलोक या पुनर्जन्म से सम्बन्ध है।

इस विषय में यह जानने की आवश्यकता है कि जीव क्या वस्तु है और वह एक मनुष्य में एक है अथवा अनेक।

यों तो जीव प्रत्येक प्रकार के प्राणी मे रहता है, परन्तु हमारा विषय मनुष्य से सम्बन्ध रखता है। इसलिये हम मनुष्य को लेकर ही जीव के स्वरूप का वर्णन करेंगे।

(१. विश्लेषण)—

मनुष्य कहता है कि मैं बहुत अच्छा दौड़ता हूँ। फिर कभी वह कहता है कि मेरे पैर दौड़ने मे बहुत अच्छे हैं। यहाँ 'मैं' एक बार दौड़नेवाला बन जाता है और दूसरी बार वह दौड़ने वाले पैर से पृथक् हो जाता है।

मनुष्य कहता है कि मैं बड़ा सुन्दर लेख लिखता हूं और दूसरी बार कहता है कि सुन्दर लेख लिखने मे मेरा हाथ अभ्यस्त है। यहाँ 'मैं' सुन्दर लेख लिखने वाला बन जाता है और आगे चलकर वह लिखनेवाले से पृथक् हो जाता है।

मनुष्य कहता है कि मैं सूक्ष्म वस्तुओं को भली प्रकार से देख सकता हूं और दूसरी बार कहता है कि मेरे नेत्र इतने शक्तिशाली हैं कि सूक्ष्म वस्तुओं को भी बिना कष्ट के देख सकते हैं। यहाँ 'मैं' सूक्ष्म वस्तुओं को देखने वाला बन जाता है और दूसरी बार देखनेवाले नेत्र से पृथक हो जाता है।

मनुष्य कभी कहता है कि 'मैं' मन्द ध्वनि को भी सुन सकता हूं और कभी कहता है कि मेरे कान मंद ध्वनि को भी सरलता से सुन सकते है। 'मैं' कभी मन्द ध्वनि सुनने वाला बन जाता है और कभी वह सुनने वाले कान से पृथक् हो जाता है।

मनुष्य कभी कहता है कि मैं अनेक संकल्प-विकल्प करता हूं और कभी कहता है कि मेरा मन अनेक संकल्प-विकल्प करता है। 'मैं' संकल्प-विकल्प करने वाला बन जाता है और वह ही कर्तापन से पृथक् हो जाता है।

मनुष्य कभी कहता है कि मैं सत्य निश्चय करता हूं और दूसरी बार कहता है कि मेरी बुद्धि सत्य निश्चय करती है। मनुष्य कभी 'मैं' बन कर निश्चय करने वाला बन जाता है और कभी वह निश्चय करने वाली बुद्धि से पृथक् हो जाता है।

उपरोक्त उदाहरणों से प्रकट होता है कि मनुष्य कभी 'मैं' के रूप में स्वयं कर्ता बन जाता है और कभी कर्ता से भिन्न

हो जाता है। अब देखा जाए कि मनुष्य क्या है? शरीर के हाथ या पैर आदि किसी भी एक अंग को मनुष्य नहीं कहते। समस्त कर्मेन्द्रिय, समस्त ज्ञानेन्द्रिय, और पांचों अन्तःकरण से युक्त विशेष ज्ञान रखने वाले प्राणी को मनुष्य कहते है। यहाँ मनुष्य को जीव का पर्याय समझना चाहिए। चाहे जीव कहो, चाहे मनुष्य—एक ही बात है। क्योंकि संसार में प्रसिद्ध है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार फल भोगता है। अथवा यों कहा जाता है कि जीव अपने कर्मों के अनुसार फल भोगता है। अतः मनुष्य कहो या जीव एक ही बात है।

(२. जीव की पृथकता)—

हमारा विषय जीव के विषय मे निर्णय करना है। यदि हम मनुष्य के स्थान पर जीव को मान लें तो बहुत अच्छा हो। जीव कभी 'मैं' के रूप मे कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, या बुद्धि बन जाता है और कभी उनसे पृथक् हो जाता है। इस से स्पष्ट होता है कि वह उन से पृथक् है और वही सुख-दुःख का भोगने वाला है। एव वही स्वर्ग, नरक, परलोक या पुनर्जन्म मे आ, जा, सकता है। यह तो सिद्ध हो गया है कि जीव कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन या बुद्धि नहीं है। वह उनसे पृथक् है। अब यह देखना है कि वह उनका सजातीय है या विजातीय।

(३. जीव का इन्द्रियों से सजातीय-विजातीयता का वर्णन)—

—जीव की कर्मेन्द्रियों से पृथकता)—जीव कर्मेन्द्रिय तो हो नहीं सकता। क्योंकि वह चैतन्य है, उसे अनुभव होता है। और कर्मेंद्रिय जड़ है, उसे अपना अनुभव नहीं होता। इस लिये जीव कर्मेन्द्रिय का सजातीय तो है नही, विजातीय है। इस कारण से जीव कर्मेन्द्रियों से पृथक् है।

—(जीव की ज्ञानेन्द्रियों से पृथकता)—जीव ज्ञानेन्द्रिय भी नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी ज्ञानेन्द्रियके अपना गुण छोड़ देने पर जीव का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। दूसरे किसी भी ज्ञानेन्द्रिय को अपना अनुभव स्वयं नहीं होता, दूसरे ही को होता है। यदि अन्त करण कही और हो तो कर्ण-ज्ञानेन्द्रिय सुनती हुई भी नही सुनती। इसी प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों का भी स्वभाव है। इस कारण से ज्ञान इन्द्रिया स्वय ज्ञान स्वरूप नहीं हैं, उसका साधन रूप है। जीव चैतन्य रूप है। इस लिये जीव ज्ञानेन्द्रियों का भी सजातीय नहीं हो सकता और विजातीय होने से वह उनसे पृथक् है। जीव की पृथकता का एक कारण यह भी है कि ज्ञानेन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् है और अनेक हैं। उन्हे पृथक पृथक अपना-अपना ही ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियों का नहीं। परन्तु जीव को सब इन्द्रियो का ज्ञान

होता है। वह उन के प्रेरण करने वाला तथा उनके सुख-दु ख का अनुभव करने वाला है। अत' जीव ज्ञानेन्द्रियों से भी पृथक् है।

(४ अंतःकरण और जीव का स्वरूप)—

अन्त करण तथा जीव के स्वरूप के विषय मे कहा जा सकता है कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय अंत करण मे प्रवेश करता है, वह वहा चेतना मे प्रतिबिंबित होता है। प्रतिबिंबित होने पर जब वह सकल्प-विकल्प के रूप मे स्फुरण होने लगता है, तब वह चेतना 'मन' नाम से संबोधित होने लगती है। जब वह स्फुरण निश्चय करने लगता है, तो वह चेतना स्फुरण के रूप में 'बुद्धि' नाम से पुकारी जाती है और वही चेतना किसी विषय का चिन्तन करने लगती है तो उसे 'चित्त' कहा जाता है। एवं जब मन, बुद्धि और चित्त के द्वारा उत्पन्न सुख-दु ख या व्याकुलता-आनन्द का अनुभव चेतना करने लगती है, तो वह 'जीव' कहलाने लगती है। यही चेतना के स्फुरणकी अन्तिम अवस्था है। यही अवस्था कर्ता-भोक्ता का रूप धारण करती है, जिसे 'जीव' नाम से सबोधित किया जाता है। अत जीव के स्वरूप का ज्ञान हो गया है कि वह क्या वस्तु है? यदि हम जीव के स्वरूप की परिभाषा करे तो इस प्रकार हो है।

—(जीव के स्वरूप की परिभाषा)—जीव चेतना के स्फुरण की उस अंतिम अवस्था को कहते हैं; जिसमें सुख-दुःख, व्याकुलता-आनन्द का अनुभव हो और कर्ता-भोक्तापन आ जाए।

२. संकल्प रचना में जीव का स्वरूप—

संकल्प रचना में केवल संकल्प (मन का स्फुरण) ही संकल्प होता है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जब हम किसी मनुष्य के विषय में ध्यान करते हैं तो उसका आकार-प्रकार, लम्बाई-चौड़ाई, रूप-रंग, गुण और क्रिया आदि फुरकर भासने लगते हैं। जब हम किसी नगर आदि का चिन्तन करते हैं तो उसमें सड़कें, गलियां, भवन, उद्यान, दूकान, यन्त्रालय और उनमें काम करने वाले मनुष्य दृष्ट आने लगते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी विषय की आलोचना करते हैं अथवा किसी वस्तु का विश्लेषण या संश्लेषण करके उसे देखते हैं तो हमें वे सब कुछ संकल्प रचना में दिखाई देने लगते हैं या प्रतीत होने लगते हैं। उस समय हम जिस सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, वह सुख-दुःख और जिस भी किसी विषय का निश्चय करते हैं—वे सब कुछ संकल्प रचना है। अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार या जीव सब-कुछ संकल्प रचना है। संकल्प रचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

संकल्प रचना की अवस्था भेद से ही उसके नामकरण हुये हैं। किसी अवस्था का नाम 'मन' रख दिया है। किसी अवस्था का नाम 'बुद्धि' मान लिया है। इसी प्रकार से 'चित्त' तथा 'अंहकार या जीव' को भी संज्ञा दे दी गई है। वास्तव मे मन, बुद्धि, चित्त और अंहकार या जीव कोई वस्तु नही है।

इस चतुष्टय अंत करण मे 'अंहकार या जीव' संकल्प रचना की अंतिम अवस्था है। इससे परे स्फुरण की कोई अवस्था नहीं है। सकल्प-रचना की इस अंतिम अवस्था (जीव) को सुख-दुःख का अनुभव होता है और यही किसी कर्म का कर्ता-भोक्ता बनती है। इस कर्ता-भोक्ता की अंतिम अवस्था से परे संकल्प रचना मे अन्य कोई अवस्था नहीं है। जो है, वह चेतन या चेतना की निराकार अवस्था हैं। इस के विषय में कुछ नहीं कहना है। हमारा प्रसंग जीव के स्वरूप जानने ही से है कि वह क्या वस्तु है? उसे जान लिया है। यदि हम सकल्प रचना के अनुसार जीव की परिभाषा करें तो यों कर सकते हैं कि—

—(जीव की परिभाषा)—जीव सकल्प रचना की वह अंतिम अवस्था है, जिसको सुख-दुःख का अनुभव होता है और वह किसी कर्म का कर्ता तथा उसके फल का भोक्ता बनता है।

३. स्वप्न के जीव का स्वरूप—

(१. स्वप्न अवस्था का वर्णन)—

जब हम स्वप्न अवस्था में होते है, तो वहाँ जाग्रत अवस्था के ससार की कोई वस्तु नहीं होती। वहाँ केवल जाग्रत अवस्था के संसार के विषयों की छायाँ होती है, जो जाग्रत अवस्था के समान ही सत्य प्रतीत होती है और उसी के समान सुख-दुःख तथा कर्म का कर्ता-भोक्ता होता है। स्वप्न में हजारों लाखों, करोडों, जीव होते है—जो अपने-अपने कर्म के कर्ता-भोक्ता होते हैं। उन्ही मे से स्वयं एक आप भी होता है, जिसको कि स्वप्न आया हुआ होता है। इस प्रकार से स्वप्न की अवस्था होती है।

(२. स्वप्न में जीव का स्वरूप)—

स्वप्न में जो नानात्व सत्य प्रतीत होता है, वह वास्तव मे सब मन का स्फुरण ही है, सब अंतःकरण का ही खेल है। अन्य नानात्व जगत कुछ नहीं। स्वप्न मे भी सुख-दुःख होता है और कर्म का कर्ता-भोक्ता होता है। उस समय जो कर्म-कर्ता तथा सुख-दुःख का भोक्ता होता है, उसे ही जीव कहते है। यदि इसी जीव का स्वरूप परिभाषा मे बाधकर दिखाए तो इस प्रकार दिखा सकते है—

—(जीव की परिभाषा)—वह स्वप्न के जगत का जीव एक प्रकार का स्फुरण है, जो सोते हुये मनुष्य के अव्यक्त चेतनमे व्यक्त होकर प्रतीत होता है और जिसकी प्रतीति कर्म के कर्ता-अकर्ता के रूप मे एवं सुख-दु.ख फल के भोक्ता-अभोक्ता के रूप में होती है।

४. सारांश—

जाग्रत अवस्था के व्यावहारिक रूप के, जाग्रत अवस्था की सकल्प रचना और स्वप्न जगत के जीव के स्वरूप का निश्चय हो गया है। तीनों स्थानों के जीव का लक्षण एक है। परन्तु कुछेक शब्दों में परिवर्तन है, जिनके अर्थो मे मौलिक भेद होते हुये भी भेद नहीं है। परन्तु इस एकता को संक्षिप्त विचार द्वारा देख लेना चाहिए।

तीनों अवस्थाओं के जीव की एकता—

जाग्रत अवस्था के व्यावहारिक रूप मे अव्यक्त चेतना का जो स्फुरण कर्म का कर्ता-भोक्ता और सुख-दु ख का अनुभव करता होता है, वही स्फुरण (जीव) जाग्रत अवस्थाके संकल्प रचना मे होता है। एव वही स्वप्नावस्था का होता है। क्योंकि—

(१) व्यावहारिक रूप मे जीव जिस कर्म को कर्ता-भोक्ता है ोर सुख दु ख का अनुभव करता है, संकल्प रचना मे

जीव उसी विषय का चिन्तन करता हुआ सोचता है कि मैंने व्यावहारिक जगतमें ऐसा-ऐसा कर्म किया, उसके ऐसे-ऐसे फल को भोगा और सुख दुःख का अनुभव किया। यही जीव व्यावहारिक जगत के आभास को सत्य मानता हुआ, कर्म का कर्ता-भोक्ता और सुख-दुःख का अनुभव कर्ता बन जाता है। इसके पश्चात् जब जीव स्वप्न अवस्था में होता है तो जाग्रत अवस्था का व्यावहारिक रूप और संकल्प जगत का रूप भासने लगता है। इसके अतिरिक्त स्वप्न अवस्था में अन्य स्फुरण होने पर भी वह भासने लगता है। पूर्व दोनो अवस्थाओं के समान इस स्वप्नावस्था में भी जीव अनुभव करता है। परन्तु उस समय अन्य अवस्थाओं का ज्ञान नहीं होता। उस समय सब मन का स्फुरण ही होता है। उसी स्फुरण की अंतिम अवस्था 'जीव' होता है। जो जागृत तथा संकल्प रचना में होता है। अतः इस परम्परा के आधार से तीनों अवस्थाओं के जीव की एकता सिद्ध हो जाती है।

(२) सीधी परंपरा से विचार करने के उपरान्त अब उल्टी परंपरा से भी जीव की एकता को विचार करके देख लेना चाहिए। स्वप्न अवस्था में जीव उस जगतमें जिस-जिस कर्म का कर्ता तथा भोक्ता होता है और उस जगत के सुख-दुःख का अनुभव करता है। जागृत होकर वह अपनी संकल्प रचना या ध्यान करता हुआ चिन्तन करता है कि मैंने स्वप्न जगत में इस-इस

प्रकार यह-यह कर्म किये और उनके यह-यह फल भोगे। फिर वह जीव व्यावहारिक अवस्था मे आकर अपने स्वप्न के अनुभव को अपनी वाणी के द्वारा अन्य लोगों से कहता है। यदि उसे अपने स्वप्न पर विश्वास होता है तो वह उसके अनुसार व्यावहारिक जगत मे कार्य भी करने लगता है। इस उल्टी परपरा से सिद्ध होता है कि स्वप्न, सकल्प रचना और व्याव ारिक जगत का जीव एक है।

(३) अब एक और प्रकार से भी जीव की एकता पर विचार कर लेना चाहिए कि व्यावहारिक जगत, सकल्प जगत और स्वप्न जगत का जीव एक है। जब वह व्यावहारिक जगत मे हे ता है तो संकल्प जगत तथा स्वप्न जगत मे नहीं होता और जब वह सकल्प जगत मे होता है तो व्यावहारिक जगत तथा स्वप्न जगत से दूर रहता है। एवं जब वह - जीव स्वप्न जगत में होता तो व्यावहारिक तथा संकल्प जगत मे नही होता। इस तीसरी प्रकार से भी सिद्ध हो जाता है कि तीनों अवस्थाओं मे जीव एक है। कभी वह व्यावहारिक जगत मे होता है, कभी सकल्प रचना मे और कभी स्वप्न जगत मे विचरण करता है।

व्यावहारिक जगत, सकल्प जगत और स्वप्न जगत का ीव एक होता है—यह तो सिद्ध हो ही गया है। अब इन्द्रियों

के आधार से भी जीव की एकता-अनेकता पर विचार कर लेना चाहिए।

विभिन्न इन्द्रियों में भी जीव एक है—

(१) अनेक ज्ञानेन्द्रियां हैं और अनेक कर्मेन्द्रियां है। वे सब अपना-अपना कार्य करती है। एक इंद्रियका कार्य दूसरी इन्द्रिय नहीं करती। यदि इन सब इन्द्रियों का जीव भिन्न-भिन्न हो तो एक को सब इन्द्रयों का ज्ञान नही हो सकता। परन्तु व्यवहार से देखा जाता है कि एक को सब इन्द्रियों का ज्ञान होता है और वह एक ही सब इन्द्रियों के द्वारा किये गये कर्मो का कर्ता-भोक्ता होता है। इससे सिद्ध होता है कि सब इन्द्रियों के द्वारा पृथक-पृथक् कर्म होने पर भी जीव एक है।

(२) दूसरी प्रकार से जीव की एकता इस प्रकार भी सिद्ध होती है कि जब जीव एकाग्र मन करके किसी वाद्य यन्त्र की मधुर ध्वनि या मनोहारिणी बात सुनता है तो वह किसी ग्रन्थ को पढ़ नहीं सकता। वह ग्रन्थ के लेख को देखता हुआ भी नहीं देखता। इसी प्रकार जब वह किसी आकर्षक दृश्य, वस्तु या लेख को देख या पढ़ रहा होता है तो किसी वाद्य-यन्त्र की ध्वनि को सुनता हुआ भी नहीं सुनता या बात सुनता भी नहीं सुनता। इससे सिद्ध होता है कि जीव एक वह एक समय में एक ही इन्द्रिय से कर्म करता

(३) एक इन्द्रिय से भी मनुष्य एक समय मे एक ही कर्म कर सकता है, अनेक नहीं। जैसे—हम आंख से एक समय मे एक ही वस्तु को देखते हैं, अनेक को नहीं। हम पुस्तक के एक अक्षर को पढ़ लेने के उपरांत ही दूसरे अक्षर को पढ सकते हैं। इसी प्रकार एक समय मे एक ही शब्द सुना जाता है, दो नहीं। जैसे—जब हम किसी व्यक्ति से बात कर रहे होते है और उसी समय अन्य व्यक्ति बात करने लगता है तो उसे रोक देते हैं। यदि दोनों की बातें सुनने लगते हैं तो किसी की भी बात का अर्थ समझ में नहीं आता। इसका कारण ही यह है कि जीव एक है। तभी वह एक समय मे एक वस्तु को देखता है, देख सकता है तथा एक शब्द को सुनता है, सुन सकता है और उसका अर्थ समझ सकता है। इसी प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों मे समझना चाहिये।

जीव का आधार

अब तक हमने जीव के स्वरूप और उसकी एकता-अनेकता का निर्णय किया है। अब इस विषय पर विचार करना है कि उसका आधार क्या है?

जीव मस्तिष्क के आधीन है—

शरीर मे जीव अवश्य है, इसलिये ही उसमे कर्ता-भोक्ता-न का अनुभव होता है, परन्तु यह देखना है कि वह शरीर

के किस अंग में है ? पैर मे जीव का निवास नहीं होता, क्योंकि पैर के काटने पर शरीर का जीव नष्ट नहीं होता। हाथ मे भी जीव नहीं रहता क्योंकि उसके काटने पर भी जीव नष्ट नहीं होता, परन्तु जब तक शरीर के साथ सम्बन्ध होता है तब तक जीव का सम्पर्क अवश्य रहता है। हा, पेट के स्थान पर काटकर शरीर के दो भाग कर पृथक् कर दिये जाएं तो जीव नष्ट हो जाता है। या हृदय की धड़कन बद हो जाती है तो जीव नष्ट होजाता है। अथवा गला काटकर पृथक् कर दिया जाए तो जीव नष्ट हो जाता है और यदि सिर कुचल दिया जाए तो भी जीव के अस्तित्व का कुछ ज्ञान नहीं होता। इन चारों स्थानों को शरीर से पृथक् कर दिया जाए तो जीव के अस्तित्व का कुछ पता नहीं चलता। अब यह देखना है कि इन चारों स्थानों में से जीव का मुख्य स्थान कौनसा है ? अथवा इन स्थानों से पृथक् स्थान है ?

यों तो जीव का निवास उपरोक्त चारों ही स्थानों में रहता है, इसके अतिरिक्त हाथ-पैर आदि अंगों में भी है, परन्तु मुख्यतः उसका निवास गले के ऊपर है। क्योंकि यहीं पर सब ज्ञानेन्द्रियाँ एकत्रित है। दूसरे मस्तिष्क के निर्बल या सबल होने पर उसका अन्तःकरण पर प्रभाव पड़ता है। जहा अन्तःकरण है, वहा ही जीव है। मस्तिष्क के निर्बल होने पर अन्तःकरण का कम स्फुरण होता है और उसके सबल होने पर

अधिक स्फुरण होता है। तीसरे जब मस्तिष्क मे चक्कर आने लगते है तो जीव अपना कार्य यथावत् नहीं करता। चौथे जब मनुष्य भाग, गाँजा, सुलफा और मदिरा आदि पी लेता है तो उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है और अन्तःकरण भी विकृत रूप मे ही अपना कार्य करने लगता है, अर्थात् अयुक्त स्फुरण करने लगता है। जब उक्त वस्तुओं का वेग या प्रभाव उतरता है तो मस्तिष्क शुद्ध होता है और अन्त करण यथार्थ रूप मे कार्य करने लगता ह। पाचवे, जीव को अनुभव रहित करने के लिये डाक्टर लोग मनुष्य को औषधि सु घा देते हैं, जिससे उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है और उसका चेतना जड़वत् हो जाती है। फिर डाक्टर लोग औषधी द्वारा मस्तिष्क शुद्ध कर देते हैं या वह स्वयं ही शुद्ध हो जाता है और जीव अपना कार्य फिर आरम्भ कर देता है।

उपरोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जीव मस्तिष्क के आधीन है। उसी के आधार पर स्थिर है और वहीं निवास है। इसका ज्ञान स्पर्श युक्त लक्षणों से होता है। दूसरे इसकी पुष्टि [illegible]जा में व्याप्त ज्ञान के वातावरण से भी होती है।

परलोक और पुनर्जन्म का अभाव

१. मस्तिष्क के आधार से परलोक तथा पुनर्जन्म का अभाव—

जीव चेतन या चेतना का एक प्रकार का स्फुरण रूप है, जो मस्तिष्क के आधीन है। उसके अस्तित्व से ही जीव का अस्तित्व है और उसकी नष्टता से जीव की नष्टता है। एवं जीव की उत्पत्ति भी गर्भाशय में रज - वीर्य के संयोग होने के पश्चात् मस्तिष्क के बनने पर होती है, ऐसा प्रसिद्ध है।

अतः मस्तिष्क नष्ट होने पर जीव नष्ट हो जाएगा। जब जीव नष्ट हो जाएगा तो स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म में कौन जाएगा? अर्थात् कोई नहीं। दूसरे, जीव इन्द्रियों के द्वारा आता जाता है। मरने के पश्चात् जब उसकी इन्द्रियाँ ही नष्ट हो जाएंगी तो उसे स्वर्ग, नरक, परलोक या पुनर्जन्म में ले कौन जाएगा? अर्थात् कोई नहीं। यदि यह कहा जाए कि जीव वहीं का वहीं उनका अनुभव कर लेगा तो इनका समाधान यह है कि जीव मस्तिष्क के अस्तित्व पर निर्भर है। यदि उसका आधार ही नष्ट होजाएगा तो वह ही कहां रहेगा? जब जीव ही न रहेगा तो वह यहाँ का यहाँ भी अनुभव नहीं कर सकता।

अतः सिद्ध हो जाता है कि मस्तिष्क के नष्ट होने पर जीव

भी नष्ट हो जाएगा। जीव के नष्ट होने पर स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म भी कहां··?

जीव के नष्ट होने पर स्वर्ग, नरक, परलोक, और पुनर्जन्म के अभाव की सिद्धि हो गई है। आगे उनके अभाव की सिद्धि दूसरी प्रकार से भी कर लेनी चाहिए। वह दूसरा प्रकार है कर्म का। अब कर्म के प्रकार पर भी विचार कर लेना चाहिए कि वह जीव को स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म में पहुंचाएगा या नहीं अथवा उसमें पहुंचाने की सामर्थ्य है या नहीं।

२. कर्म से भी स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म की अप्राप्ति—

(१. कर्म की परिभाषा)—

कर्म कहते हैं, जो कुछ किया जाए या होजाए। ये दो प्रकार के होते है जड़ तथा चैतन्य।

(२ जड़ कर्म)—

—(जड़-कर्म की परिभाषा)—जड़ कर्म स्थूल-कर्म (वस्तु, गुण और क्रिया आदि) को कहते हैं, जो अपने आप से न कर सके और न करा सके। एवं उसे न अपना ज्ञान हो न दूसरे का।

—(जड कर्म की असमर्थता)—जड़-कर्म इन्द्रियों से कर्म करवाया करता है। जबकि मरने के पश्चात् जड़-कर्म करने के साधन (इन्द्रियां) नष्ट या नि शक्त हो जाएंगे, तो फिर स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म मे कौन पहुंचाएगा ? दूसरे शरीर के बाहर जो जड-कर्म है, वे जीव से अत्यंत दूर है। तीसरे जीव अत्यंत सूक्ष्म है, जिसको पकड़ कर जड़-कर्म परलोक या पुनर्जन्म मे नहीं पहुँचा सकते। चौथे जड़-कर्म के आधीन जीव रहता भी नहीं है क्योंकि वह स्वयं अंतःकरणमे अपनी सृष्टि रच लेता है। उसे भौतिक सृष्टि की आवश्यकता नहीं रहती। पाचवें जीव अपने मे इतनी सामर्थ्य रखता है कि इन्द्रियों के द्वारा जड़-कर्म स्वयं रचवा लेता है। इस लिये जीव जड़ कर्मो के आधीन नहीं है। इसके अतिरिक्त जीव जब भौतिक वस्तुओं या कर्मो को छोड़ कर जाता है तो उसे कोई भी नहीं रोक सकता। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि जड-कर्म तो जीव को स्वर्ग, नरक, परलोक या पुनर्जन्म में ले जा नहीं सकता।

(२. चैतन्य कर्म)—

—(चैतन्य कर्म का अर्थ)—रहा चैतन्य कर्म, यह जीव का [illegible] है। [illegible] रूप से यह [illegible] कर सकता है और

दूसरों से करा सकता है, जिसको अपना तथा दूसरों का ज्ञान है। ऐसा कर्म चैतन्य-कर्म कहा जाता है।

जीव मन, बुद्धि, और चित्त से कर्म करता है। जो स्वयं चैतन्य रूप है। वह स्वयं कर सकता है और दूसरों से करा सकता है।

उपरोक्त चैतन्य-कर्म के आधीन ही जीव रहता है। यह जीव का सजातीय भी है। यही जीव को स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म में ले जा सकता है। अब देखना है कि यह चैतन्य-कर्म जीव को स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म में ले जा सकता है या नहीं।

–(चैतन्यकर्म की असमर्थता)—(१) चैतन्य-कर्म संकल्प या स्फुरण रूप है, जो मस्तिष्क के आधीन है। उसके अस्तित्व से ही चैतन्य-कर्म का अस्तित्व रहता है। जब मस्तिष्क ही नष्ट हो जाएगा तो उसके आश्रित चैतन्य-कर्म भी नष्ट हो जाएगा। जब चैतन्य-कर्म स्वयं ही नष्ट हो जायगा तो परलोक या पुनर्जन्म में ले कौन जाएगा… ? इससे सिद्ध होता है कि स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म नहीं है।

(२) दूसरे ये चैतन्य-कर्म कहीं ले-जा-आते हैं या भोग भुगतवाते हैं, तो इन्द्रियों के ही द्वारा। मरने के उपरांत जब [illegible] ही नष्ट हो जाएगी, तो फिर वे किसके द्वारा कहीं ले [illegible] और किस के द्वारा भोग भुगतवाएंगे…? इस प्रकार भी

जीव मृत्यु के पश्चात् न-तो किसी परलोक में जाएगा और न पुनर्जन्म में।

(३) यदि यह कहा जाए कि चैतन्य-कर्म इन्द्रियों के नष्ट होने पर जीव को ले-जा-आ सकता तो नहीं परन्तु जहां पर मनुष्य की मृत्यु हुई है, वहीं का वहीं उसे स्वर्गादि का अनुभव कराएगा। यह प्रकार भी अपने उद्देश्य में सफल होना दृष्ट नहीं आता। क्योंकि जबकि चैतन्य कर्म का मूल आधार मस्तिष्क ही नष्ट हो जाएगा, तो वह भी नष्ट हो जाएगा। जब चैतन्य-कर्म ही नष्ट हो जाएगा, तो वह वहां का वहां भी स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म का अनुभव नहीं करा सकता।

उपरोक्त चैतन्य कर्म की विवेचना से सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वर्ग नरक, परलोक और पुनर्जन्म में नहीं जा सकता और न वह वहां का वहां ही अनुभव कर सकता है। जबकि परलोक तथा पुनर्जन्म में जीव जा ही नहीं सकता और अनुभव भी नहीं कर सकता, तो वे भी नहीं हैं।

अब तक स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म के अस्तित्व की सिद्धि और जीव उन स्थानों या योनियों में नहीं जा सकता। इसकी सिद्धि जीव तथा कर्म के प्रकार के वर्णन में हो चुकी है। अब तीसरे प्रकार से 'अनुभव' के द्वारा सिद्ध हो, इस विषय को शुरू किया जाता है।

३. अनुभव के द्वारा भी परलोक आदि की अनस्तित्वता—

अब 'अनुभव' के द्वारा सिद्ध करना है कि स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म है या नहीं।

साधक को चाहिए कि एकान्त में ध्यान लगा कर निम्न-लिखित प्रकार से स्वर्गादि के अस्तित्व का अनुभव करे।

परलोक का अनुभव करो

भूतकाल का—

१ मैं किस लोक में था ····?

२. मैं किस शरीर में था ·····?

३ मेरी क्या भाषा थी ·····?

४ मेरे क्या कर्म थे······ ··?

५ मेरे को क्या सुख-दुःख थे ?

उत्तर—अनुभव करके या ध्यान लगाकर देखने से उक्त परलोक की बातों का कुछ ज्ञान नहीं होता।

भविष्यत् काल का—

१ मैं किस लोकमे हूंगा ···· ?

२ मैं किस शरीर में हूंगा · ?

३. मेरी भाषा क्या होगी ··· ?

४ मेरे क्या कर्म होंगे ·· ?

५ मुझे क्या सुख-दु ख होंगे · ?

उत्तर—ध्यान लगाकर अनुभव से ज्ञात होता है कि उपरोक्त वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता।

पुनर्जन्म का अनुभव करो

भूतकाल का—

१. मैं किस देश में था..........?

२ मै किस योनि में था .... ?

३. मेरी भाषा क्या थी..........?

४ मेरे क्या कर्म थे .... ?

५. मुझे क्या सुख-दुःख थे ......?

उत्तर—अनुभव करके या ध्यान लगाकर देखने से भूतकाल के पुनर्जन्म के विषयों का कुछ ज्ञान नहीं होता।

भविष्यत् काल का—

१. मैं किस देश मे उत्पन्न हूँगा .. ?

२. मेरी क्या योनि होगी .... ?

३ मेरी क्या भाषा होगी .... ?

४ मेरे क्या व्यवहार होंगे .... .. ?

५. मुझे क्या सुख-दुःख होंगे ..... ?

उत्तर—अनुभव करके या ध्यान लगा कर देखने से भविष्यत् काल के पुनर्जन्म का कुछ अनुभव नहीं होता।

(सरांश)—

जबकि भूत तथा भविष्यत् काल के स्वर्ग,

नरक, परलोक और पुनर्जन्म का कुछ अनुभव या ज्ञान नहीं होता तो सिद्ध होता है कि वे नही हैं। उनकी केवल कुकर्म से बचने और सुकर्म में प्रवृत होने के लिये ही कल्पना कर ली गई है।

उपरोक्त तीन प्रकार से तो परलोक तथा पुनर्जन्म का होना असत्य रूप मे सिद्ध हुआ है। अब चौथी प्रकार से भी उनके अस्तित्व पर विचार कर लेना चाहिए। वह चौथी प्रकार है 'अवशेष रहना'।

४ अवशेष में भी परलोक आदि की अनस्तित्वता—

सृष्टि में जिस पदार्थ का अस्तित्व होता है, उसका उससे सम्बन्धित वस्तु मे कुछ-न-कुछ अवशेष भी रहा करता है। यदि स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म का अस्तित्व है तो उनका जीव या मनुष्य मे न्यूनाधिक रूप मे अस्तित्व भी रहना चाहिए। परन्तु प्रतिदिन देखा जाता है कि उनका मनुष्य में किसी प्रकार का कुछ अस्तित्व नहीं रहता। न-तो उनका किसी प्रकार का ज्ञान (अनुभव) ही होता है, न विचार का ही कुछ अंश बाकी रहता है, न किसी प्रकार की किसी अश मे भाषा का रूप ही होता है और न किसी प्रकार के व्यवहार का ही कुछ बचा-खुचा बाकी रहता है। जन्म लेने के पश्चात् ही मनुष्य भाव, विचार भाषा तथा वस्तु आदि की प्राप्ति और संचय

परलोक का अनुभव कैसे करेगा··· ? इस विचार धारा से सिद्ध होता है कि जीव वहाँ पर भी परलोक का अनुभव न करेगा।

अब यह कहा जाए कि 'मानलो', तब-तो यह कल्पना हुई। कल्पना अनन्त है। हम किस-किस कल्पना को मानेंगे और किस-किस को छोडेंगे · ? जैसे हमने अनन्त कल्पनाओं को मानना छोड़ रखा है, उसी प्रकार इस स्वर्ग, नरक और परलोक की कल्पना को भी छोड़ना चाहिए।

(२. पुनर्जन्म के विषय में विकल्प)—

पुनर्जन्म की सिद्धि तो नहीं होती परन्तु किसी प्रकार से उसे मान लिया जाए। अब इस प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए।

इस जन्म मे इसी जन्म का अनुभव होता है, भूत तथा भविष्यत् के जन्म का नहीं। इसी प्रकार दूसरे जन्म में भी उसी जन्म का अनुभव होगा, अन्य जन्मों का नहीं। जबकि एक जन्म में उसी वर्तमान के जन्म का अनुभव होता हैं, अन्य जन्मों का नहीं तो सब जन्मों का अनुभव करने वाला पृथक्-पृथक् हुआ।

—दूसराका अर्थ—इस पृथक्-पृथक् अनुभव करने वाले ही को हम संसार मे 'दूसरा व्यक्ति' के नाम से पुकारते हैं। मेरं

और दूसरे में यही तो भेद है कि अनुभव पृथक्-पृथक् होता है। अनुभव की पृथकता के आधार पर ही 'दूसरा' है।

चाहे मेरे अनेक जन्म हों, परंतु उन सब के अनुभव पृथक्-पृथक् होनेसे उन्हें 'दूसरा' ही कहा जाएगा। जैसे—मैं संसार में पृथक् अनुभव करने वाले को 'दूसरा' कहता हूं, इसी प्रकार मेरे अन्य जन्म होने पर भी, पृथक् अनुभव होने से, उसे 'दूसरा' ही कहूँगा। जैसे—मुझे संसार में पृथक् अनुभव करने वाले दूसरे व्यक्ति से प्रयोजन नहीं, इसी प्रकार मुझे पृथक् अनुभव करनेवाले मेरे अन्य जन्मसे भी नहीं। और हो भी कैसे सकता है, जबकि अनुभव ही नहीं ? फिर भी यह कहा जाए कि अन्य जन्म से प्रयोजन मान लिया जाए, तो यह-तो कल्पना हुई। कल्पना अनन्त है। किस किस को माना जाएगा···? जैसे अन्य अनंत कल्पनाओं को छोड़ रखा है, इसी प्रकार इस पुनर्जन्म की कल्पना को भी छोडना चाहिए।

सारांश—

उपरोक्त मस्तिष्क का आधार, कर्म अनुभव, अवशेष और विकल्प इन पांच प्रकार से विचार करने पर सिद्ध हो जाता है कि जीव को स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म प्राप्त न और न वे हैं। इनकी कल्पना केवल शुभ कर्म करने की होने के लिये करली गई है। ऐसा प्रतीत होता है।

सत्कर्म किये जाए तो उक्त कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

छब्बीसवें अध्याय पर विहंगम दृष्टि--

(मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग)—

यह छब्बीसवाँ अध्याय मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग दोनो से महत्वपूर्ण सम्बन्ध रखता है। क्योंकि इस अध्याय मे स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म सम्बन्धी उलझन को व्यावहारिक रूप में सुलझाया गया है। इस अध्याय में जागृत-जगत, संकल्प-जगत और स्वप्न-जगत तीनों जगतों या अवस्थाओं मे और विभिन्न इंद्रियों में 'एक जीव' के होने की सिद्धि की गई है और यह भी सिद्ध हुआ है कि (१) मस्तिष्क, का आधार (२) कर्म, (३) अनुभव, (४) अवशेष और (५)विकल्प से स्वर्ग, नरक, परलोक और पुनर्जन्म नहीं है। केवल शुभकर्म मे प्रवृत्त होने और अशुभ कर्म से निवृत्त होने के लिये उनकी कल्पना करली गई है। यह अध्याय कर्मयोग से महत्वपूर्ण सम्बध रखता है। जिसके अंतर्गत मानसिक ब्रह्मचर्य का विषय भी आ जाता है

(आवश्यक सूचना—

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ को एक प्रकार से समाप्त हुआ समझ लेना चाहिए। क्योंकि जो तत्व या तत्वांश या नियम-उपनियम वर्णन करने थे, वे सब वर्णन किये जा चुके हैं। ये तत्व अनेक दशाब्दियों के अन्वेषण से प्राप्त किये गये हैं। जो अन्वेषण संसार और प्रकृति मे अंत:करण द्वारा हुआ है। इन नियमों या तत्वों का साधन करने से साधक अवश्य सफलता प्राप्त करेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है। दूसरी बात यह है कि मन के नियंत्रण करनेके तत्व जानने के साथ-साथ अनेक सिद्धांतों का भी इस ग्रंथ के अध्ययन करने से ज्ञान होगा, जो मानसिक ब्रह्मचर्य से सम्बंध रखते हुए भी अन्य विषयों से भी सम्बंध रखते हैं। इसलिये ये सिद्धांत कर्मयोग से भी सम्बंध रखते हैं। जिनका जीवन मे बड़ा महत्व है। जो कुछ अपने विषय के सम्बंध में वर्णन करना था, वह किया जा चुका है। परंतु जो विस्मृतिके अंधकार मे छिप गया है, वह ग्रंथ मे प्रकाशित न हो सका। यदि संभव हुआ तो उसके स्मरण होने पर या कोई नया अनुभव होने से ग्रंथ के अंतिम सत्ताईसवें अध्याय अभ्यास के प्रसंग में वर्णन कर दिया जाएगा।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के छब्बीसवें परलोक सम्बंधी अध्याय को समाप्त किया जाता है।

छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त

शुभम्

सत्ताईसवां अध्याय

यह सत्ताईसवां अध्याय मानसिक ब्रह्मचर्य सम्बन्धी निर्माण किये गये तत्वों के अभ्यास, मार्जन या साधना के लिये रख लिया गया है। इस अध्याय मे ६ अभ्यास दिये गये हैं। साधक को इस प्रकार से अभ्यास करना चाहिए। इन अभ्यासों के अंतर्गत जो भूला हुआ या नया तत्व ध्यान में आएगा, वह भी अंकित कर दिया जाएगा।

अभ्यास १

साधक विचार करता है कि जब मैं किसी पशु-पक्षी आदि को मैथुनादि करते देखता हूँ, तो मुझे उसको देखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। परन्तु उसे देखने के साथ-साथ मैं अंतःकरण मे उस क्रीड़ा को करने के लिये प्रवृत्त भी हो जाता हूँ। मै उस क्रीड़ा को देखने के लिये प्रवृत्त हुआ था, न कि उसे करने के लिये। जबकि मैं उसे करना नहीं चाहता था तो फिर करने के लिये क्यों प्रवृत्त हुआ ..? दूसरे जब मैं उस क्रीड़ा के करने के भाव को छोड़ना चाहता था, तो वह छूटता

क्यों न था ..? इस वर्णन से तीन बातें प्रकट होती हैं। पहली बात, मुझे काम-क्रीडा को देखने की आवश्यकता थी। दूसरी बात, काम-क्रीड़ा को करना नहीं चाहता था तो फिर प्रवृत्त क्यो हुआ ? तीसरी बात, लिप्तता अर्थात् वह छूटती क्यों न थी ? इन तीनों प्रश्नो पर विचार करना चाहिए।

पशु-पक्षियो आदि की काम-क्रीड़ा देखने की आवश्यकता इस लिये प्रतीत हुई कि उसका सम्बन्ध मनुष्य से भी है, क्योंकि मनुष्य भी काम-क्रीड़ा किया करता है। मैं भी मनुष्य ही हूं। इस कारण से मुझे उसको देखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जबकि मुझे देखने ही की आवश्यकता है तो मन का भाव देखने ही तक सीमित रहना चाहिए। उसके करने में प्रवृत्त न होना चाहिये। फिर करनेमे क्यों प्रवृत्त हुआ ? इसका कारण यही हो सकता है कि मैं उस प्रकार की क्रीड़ा करने में आनन्द जानता हूँ। इसी कारण से मैं उस क्रीड़ा के करने के भाव को त्याग नहीं सकता। क्योंकि यह एक स्वाभाविक, प्राकृतिक या ईश्वरीय नियम है कि जीव आनन्द को प्राप्त करे। उसके बिना वह एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसी सिद्धांत के आधार पर पशु-पक्षियों आदि की काम-क्रीड़ा देखने पर मुझे उस प्रकार की क्रीडा करने से उत्पन्न होने वाले आनन्द का स्मरण हो आता है और मैं उसे प्राप्त करना चाहने लगता हूं। बस,

इसी कारण काम-क्रीड़ा को न करने का ध्येय होने पर भी मैं उसे करने के लिये लालायित हो उठता हूं और मुझमें उसे करने की प्रवृत्ति जाग उठती है। उस प्रवृत्ति के जागने पर मैं उसे छोड़ना चाहता हूँ, क्योंकि केवल प्रवृत्ति जागृत होने ही से उसकी प्राप्ति न होगी। उसकी प्राप्ति तो होगी, विधि में कर्मों की पूर्ति ही से। दूसरे काम-क्रीड़ा का चिन्तन न छोड़ने से वीर्य भी क्षय होता रहेगा, जिससे शारीरिक और कार्मिक आदि अनेक प्रकार की हानियां उठानी पड़ेंगी। इस लिये काम-क्रीड़ा का चिन्तन छोड़ना आवश्यक है। इतना विचार कर लेने पर भी मन काम-क्रीड़ा के चिन्तन को छोड़ना नहीं चाहता, यही लिप्तता है। इसी लिप्तता को छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसको छोड़े बिना अत्यंत हानि है। परन्तु हानि हो या लाभ, मन को इस बात की चिन्ता नहीं है। उसे तो आनन्द होना चाहिए। जब तक उसे आनन्द का समुचित मार्ग न दिखाई दे, तब तक वह उस चिन्तन को छोड़ना नहीं चाहता। बुद्धि आनन्द को प्राप्त करने के लिये अनेक कर्म-मार्ग दिखाती है, अनेक निश्चय करती है। परन्तु जब तक मन को पूर्ण निश्चय नहीं हो जाता, तब तक उससे वह चिन्तन नहीं छूटता। जब उसे पूर्ण निश्चय हो जाएगा तो वह स्वयं उस चिन्तन को छोड़ देगा, अर्थात् उसमें काम-क्रीड़ा करने के भाव की लिप्तता न रहेगी।

उपरोक्त तीनों प्रश्नों पर विचार हो चुका है। अब अपने कर्म-मार्ग पर भी विचार कर लेना चाहिए। जिसके द्वारा मुझे उस काम-क्रीड़ा को प्राप्त करना है। वह कर्म-मार्ग है सिद्धांत, बन्धन, नियम, नीति, अधिकार, आवश्यकता, निर्दोषता, निर्लेपता, और भौतिक-मानसिक समीपता-दूरता। इस कर्म-मार्ग से अधिक से अधिक काम-क्रीड़ा का सुख-आनद प्राप्त हो सकता है। इस सुख के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के सुख भी अधिक से अधिक प्राप्त हो सकते हैं। मान लो, इस कर्म-मार्ग से काम-क्रीड़ा का सुख न-भी प्राप्त हो, तो-भी अन्य सब प्रकार के अधिक से अधिक सुख-आनन्द तो प्राप्त होंगे ही। एक प्रकार का सुख न हो तो, न सही। इस एक प्रकार का सुख प्राप्त न होने पर भी यह मार्ग समुचित तथा सम्पन्न है। मन को इस बात से भी प्रयोजन नहीं कि उसे काम-क्रीडा का सुख प्राप्त ही हो। उसे तो अधिक से अधिक सुख और आनन्द होने का निश्चय होना चाहिये। जब उसे यह निश्चय हो जाएगा, तो वह काम-क्रीड़ा का नाम भी न लेगा। हमारे कर्म-मार्ग मे मन को संतोष देना ही है, जिससे वह विना कष्ट के सरलता से वश मे हो जाएगा।

अभ्यास २

साधक विचार करता है कि मैं वारम्वार स्त्री या काम-

क्रीड़ा की ओर क्यों प्रवृत्त होता रहता हूं और कब तक प्रवृत्त होता रहूंगा ?

मै स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर मन को जाने से बारम्बार रोकता रहता हूॅ। बारम्बार विचार करता हूं, फिर भी वह नहीं रुकता। इसका कारण क्याहै ··? बहुत गंभीर होकर विचार करने से ज्ञात होता है कि जबतक अज्ञान तत्व का कोई भी अंश बाकी रहेगा, तब तक प्रवृत्त होता ही रहूंगा। इस लिये अज्ञान तत्व के किसी भी अंश के कारण प्रवृत्त होऊं, तो उसे उसी योग्य ज्ञान-अंश से दूर कर देना चाहिए।

प्रवृत्त होने का दूसरा कारण यह है कि विचार द्वारा मन को निवृत्त करने का यत्न किया जाता है, तो उस समय विचार किसी भी कारण से अधूरा ही छूट जाता है। और फिर कभी जब स्त्री या प्रेयसी सन्मुख आती है तो मै उस ओर, काम-क्रीड़ा करने की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इच्छा से, प्रवृत्त हो जाता हूॅ। अत. जहां तक हो सके विचार को शीघ्र पूर्ण करने का यत्न करना चाहिए। विचार को शीघ्र पूर्ण करने के लिये इन बातों की आवश्यकता है कि—

(१) अनावश्यक स्फुरण को न होने दे।

(२) अनावश्यक या अल्प आवश्यक विचारों को उस समय रोक दे।

(३) सन्देह को भी विचारों के द्वारा दूर करना चाहिए क्योंकि जब भी अपने विचारों मे संदेह होता है, तब भी मन स्त्री या काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

(४) चौथे अपने विचारों को भूल जाने से, उनके अपने सब अंशों मे पूर्ण होने पर भी, मन प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार की अवस्था को अप्राप्त-होने के लिये बारम्बार विचार का अभ्यास करना चाहिए।

इस अभ्यास में काम-क्रीड़ा या स्त्री की ओर क्यों प्रवृत्त होता हूं और कब तक प्रवृत्त होता रहूँगा? इसका वर्णन हो चुका है। एवं प्रवृत्ति को थामने के लिये भी उपाय का ज्ञान हो गया है।

अभ्यास ३

साधक विचार करता है कि मै किसी स्त्री या नव-उत्फुल्ल यौवना को देखता हूँ तो, उस से प्रेम करने या भोगने के लिये, लालायित हो जाता हूँ। परन्तु वह कर्मों की पूर्ति के विना प्राप्त न होगी। कर्मों की पूर्ति सिद्धान्त, बन्धन, नियम, नीति, अधिकार, आवश्यकता, निर्दोषता, निर्लेपता और भौतिक-मानसिक समीपता-दूरता के अनुसार करना है। यदि इस आदर्श के अनुसार हो तब-तो भोगना, प्रेम-सम्बन्ध करना और यदि न हो, तो उसे त्याग करना। पूर्ति होती हैं कर्म-संग्रह होने पर।

यदि कर्मों का संग्रह न हो, तो उन्हें संग्रह करना और वह अपने आदर्श के अनसार। कर्म-संग्रह करने और पूर्ति करने से पहले उनकी आकृति, गुण, क्रिया, योग और फल के जानने की आवश्यकता है। वह जानना भी अपने आदर्शके अनुसार होना चाहिए। कर्म को जानने, संग्रह और पूर्ति करते समय काम-वेग को सहन करने की आवश्यकता है। यह सहन दो प्रकार का है, समर्थ होकर सहन करना और असमर्थ होकर सहन करना। सहन तो करना ही पड़ेगा, इसलिये समर्थ होकर सहन करना चाहिए। समर्थ होकर सहन करन के लिये वर्णन किये गये तत्वों के साधना की आवश्यकता है। जो भौतिक सुख की दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से और तात्विक दृष्टि से साधन किये जा सकते हैं।

कर्म का साधन करते हुये हो सकता है कि प्रेयसी रुष्ट हो जाए। उसके रुष्ट होजाने से आशंका होती है कि वह प्रेम न करेगी और उससे काम-क्रीडा न हो सकेगी एवं उसमें भाव न रहेगा। इस आशंका की चिंता न करते हुये अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि चिंता न करने के कई कारण हैं। जैसे भौतिक सुख की दृष्टि से, मानसिक सुख की दृष्टि से और तात्विक दृष्टि से। इसके अतिरिक्त स्त्री के भाव पृथक् है और मेरे पृथक्, सुख-दुःख भी पृथक् है। इस कारण से उसे अपने सुख की प्राप्ति के लिये तो करना ही

पड़ेगा। जब मेरे में शक्ति-गुण होगा और कर्मों की अनुकूलता होगी तो उसे करना ही पड़ेगा, वह रुक नहीं सकती। वह मुझे सुख पहुँचाने में तो रुक सकती है, परंतु अपने को सुखी बनाने मे नहीं। अत जब वह मुझे सुख रूप समझेगी तो उसे मुझसे प्रेम या काम-क्रीड़ा करना ही पड़ेगा। छठे मे अपने कर्म-साधन मे लगा हुआ होता हूँ, जिससे उसे सुख या आनन्द नहीं होता। वह उसे प्राप्त करने के लिये मुझसे रुष्ट हो जाती है और अन्य व्यक्ति को प्राप्त करने की इच्छा तथा यत्न करती है। इसका अर्थ यह होता है कि जब मुझमें सुख-आनन्द देखती है तो मुझसे प्रेम करती है, मेरा हित चाहती है और जब वह मुझ में अपना सुख-आनन्द नही देखती, तो वह मुझ से रुष्ट होकर जिससे भी आनन्द होता है उससे सम्बंध कर लेती है। इसका प्रयोजन यह है कि वह मुझ से रुष्ट नहीं होती। वह-तो रुष्ट अपने सुख-आनन्द के अभाव के कारण होती है। जब उसे सुख-आनन्द मिलने लगेगा, तो वह मुझ से अपने-आप प्रसन्न हो जाएगी। ऐसा दैनिक व्यवहार में भी देखा जाता है। एक समय मे एक व्यक्ति रुष्ट होता है तो दूसरे समय में सुखरूप जानकर वही प्रसन्न होजाता है। चिंता इस सातवे प्रकार से भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह अपने सुख-आनन्द से पृथक् नहीं हो सकती। वह उसके विना ... क्षण भी नहीं रह सकती। जब वह मुझ में सुख-आनन्द

देखेगी तो वह मुझको कैसे छोड़ सकती है...? वह अपने सुख-आनन्द को छोड़े, तो मुझे छोड़े। अतः मुझे उससे पृथक् होने की चिन्ता न करके और समर्थ होकर सहज करते हुये अपने धर्म-साधन में लगे रहना चाहिए।

कर्म-साधन या कर्तव्यपालन में लगे हुये दूसरे प्रकार से यह आशंका होती है कि कभी वर्तमान प्रेमसी को न छोड़ना पड़े...? कहीं उससे सम्बन्ध न टूट जाए...? इस प्रश्न के विषय में चिन्ताकी क्या बात है ? पहिले तो यह बात है कि जन्म तथा मृत्यु पृथक्-पृथक् होता है, दूसरे सुख-दुःख अपने-अपने है। तीसरे हम अपने-अपने सुख-लाभ के लिये धर्मों की अनुकूलता पाकर एक बन्धन में बँध गये। वास्तव में मूल में तो कोई सम्बन्ध है नहीं। फिर यदि सम्बन्ध टूट जाता है तो क्या चिंता...? चौथे वर्तमान प्रेमिका से सम्बन्ध न टूटने का आग्रह इस कारण है कि उससे अनुकूलता है, और तो कोई कारण नहीं। यह अनुकूलता जिससे भी होगी, उससे इसी प्रकार का आग्रह हो जाएगा। यह अनुकूलता अन्य स्त्री से भी हो सकती है, तो फिर कर्मयोग में लगे हुए वर्तमान स्त्री से सम्बंध टूटने या छोड़ने का प्रश्न ही न उठना चाहिए। पाँचवें समस्त संसार अनन्त काल से कर्म-प्रवाह में प्रवाहित होरहा है। उस प्रवाह में हम भी प्रवाहित होरहे हैं। स्वभावतः उस प्रवाह में बहते-बहते हम एक दूसरे से मिलते जाएगे,

कर्म की अनुकूलता होने के कारण एक दूसरे से बँध गए। हो सकता है कि प्रवाह का एक ऐसा वेग आये कि दोनों एक-दूसरे से कुछ काल के लिये या सदा के लिये पृथक् हो जाए अथवा सम्बध टूट जाए। इस प्रकार हम सम्बंध रखने तथा टूटने के क्रम के कर्म-प्रवाह मे बह रहे है और उसी के आधीन होकर हमें रहना पड़ेगा। अतः मुझे सम्बंध टूटने या रहने की चिंता न करके अपने कर्म-साधन या कर्मयोग अथवा कर्तव्य-पालन मे तत्पर रहना चाहिए।

अपने कर्मयोग के साधन मे मुझे यह देखना है कि वर्तमान स्त्री से काम-क्रीड़ा करना है या नहीं। इस देखने के लिये मुझे अपने आदर्श को टटोलना पड़ेगा। उसके अनुसार हो तो करना और न-हो-तो न करना। परन्तु करते-न करने दोनों प्रकार की इच्छा, चेष्टा और यत्न करके परस्पर विरोधी कर्म न करना। यदि मेरे कर्मयोग में वर्तमान् स्त्री की उपेक्षा करके, अपने उद्देश्य सिद्धि के लिये, अपने कर्म-साधन में लगना है और उस कर्म-साधन मे लगने से मुझे अपने वर्तमान स्त्री-सुख के अभाव की आशंका होजाती है, तो इसका समाधान यह है कि सुख तो मुझे अपना कर्म देता है, न कि स्त्री। वह - तो निमित्तमात्र बनती है। यदि मेरे कर्म मे स्त्री-सुख हुआ, तो [illegible]वश्य प्राप्त होगा। उसके लिये कोई-न-कोई निमित्त अवश्य [illegible]गी। यदि मेरे कर्म मे स्त्री-सुख न हुआ तो, जिस वर्तमान

स्त्री में सुख की आशा लगाए हुए बैठा हूँ, उससे भी प्राप्त न होगा। क्योंकि सुख तो अपने ही कर्म से होता है, न कि कोई दूसरा देता है। दूसरा तो निमित्तमात्र बनता है। अतः अपने कर्म में स्त्री-सुख हुआ, तो कोई न कोई निमित्त मात्र बन ही जाएगी। इस कारण से वर्तमान स्त्री से सम्बंध रखने - न रखने या रहने - न रहने की चिंता न करके, अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये, अपने कर्मयोग का साधन करना है।

अभ्यास ४

स्नेह होने पर भी काम-क्रीड़ा की अप्राप्ति—

मैं जब किसी स्त्री या नव-उत्फुल्ल-यौवना को प्रसन्न, मधुर और स्नेह सिंचित दृष्टि से अपनी ओर आकर्षित हुये या ताकते हुये देखता हूँ, तो उधर आकर्षित हो जाता हूँ। क्योंकि मुझे प्रतीत होने लगता है कि अब मुझे वांछित-सुख या आनन्द की प्राप्ति होगी। परन्तु उसकी इस प्रकार की दृष्टि होना, मेरे सुख-आनन्द के लिये नहीं, उसके अपने सुख-आनन्द के लिये है। जब वह किसी प्रकार का सुख या आनंद मुझ में जानेगी, तो उसका मेरी ओर आकर्षण होना स्वाभाविक है।

(१, स्नेह होने से विचार में परिणत और उसके अनुसार कार्य)—

वह जो मेरी ओर स्नेह से देखती है, इसका कारण यह है कि वह किसी प्रकार का मेरे मे अपना सुख जानती है और हो सकता है कि उसका मेरे से काम-क्रीड़ा करने का भाव हो। किसी भी कारण से मुझे सुख रूप जानने से उसके मनोभाव तरगित होने लगेंगे। जब उसके भाव फुरने लगेंगे, तो वह अनुकूलता-प्रतिकूलता का निश्चय करने के लिये निर्णय करने लगेगी। फिर वह निश्चय जिस भी किसी प्रकार के व्यवहार का हो, उसी के अनुसार व्यवहार करने लगेगी। यदि वह-निश्चय अनुकूल व्यवहार का हुआ तो अनुकूल व्यवहार करने लगेगी और प्रतिकूल व्यवहार का हुआ तो विरुद्ध व्यवहार करने लगेगी। यदि अनुकूल-प्रतिकूल किसी भी प्रकार के व्यवहार का निश्चय नहीं हुआ तो उसके व्यवहार उपेक्षित रूप मे हो जाएंगे।

उपरोक्त विचार का यह अर्थ हुआ कि स्त्री मे प्रसन्नता, मधुरता और स्नेहता होने से भाव तरंगण या स्फुरण होगा। पश्चात् वह निश्चय करेगी और फिर निश्चय के अनुसार कार्य करेगी। जिस प्रकार का निश्चय होगा, उसी के अनुसार उसके नेत्रों का कोमल तथा कठोर आदि रूप हो जाएगा। स्त्री के स्नेहित नेत्रो या व्यवहार को देखते ही, यह समझ लेना

कि काम-क्रीड़ा प्राप्त हो जाएगी—भारी भूल है।

(२. स्नेह के दो रूप)—

स्नेहित नेत्रों या स्नेह के दो प्रकार होते हैं (१) स्पार्शिक और (२) व्यावहारिक। स्पार्शिक स्नेह में स्नेह का केवल स्पर्श ही होता है और व्यावहारिक स्नेह में स्नेह मिश्रित व्यवहार किया जाता है। स्पार्शिक स्नेह के सम्बन्ध में तो कुछ चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह क्षणिक होता है और उसकी कुछ उपयोगिता भी नहीं है। परन्तु व्यावहारिक स्नेह में अवश्य विचार करने की आवश्यकता है कि वह किस प्रकार के व्यवहार करने का है। वह हमारे अनुकूल हैं या प्रतिकूल और उसे हमें करना है या नहीं। यदि नहीं करना है, तब तो उसके प्रति कुछ चिन्तन या विचार करने की आवश्यकता नहीं और यदि उसे करना है तो किस समय में और कितने परिमाण में ? इत्यादि बातें विचार करके ही व्यवहार या स्नेह करना चाहिए, न-कि स्त्री के स्नेहित नेत्रों या व्यवहार को देखते ही उस ओर प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

दूसरे मैं देखता हूं कि संसार में मुझे चारों ओर स्नेह की दृष्टि से देखा जाता है, सर्वत्र स्नेह पाया जाता है। परन्तु उस स्नेह के मूल में भिन्न-भिन्न अंतर हैं। किसी का स्नेह किसी स्वार्थ तथा किसी काल को लिये हुये होता है और किसी का

स्नेह किसी स्वार्थ तथा किसी काल को लिये होता है। कोई हमारी वस्तु का अपहरण करने के निमित्त छल-कपट या बलात्कार करने के लिये स्नेह करता है तो कोई हमारी वस्तु को ग्रहण करने के लिये अपनी वस्तु को समुचित रूप में देना चाहता है। किसी के पास कोई वस्तु, गुण तथा क्रिया किसी परिमाण में होती है तो किसी के पास कोई वस्तु, गुण तथा क्रिया किसी परिमाण मे होती है। किसी के पास दुर्गुण होता है तो किसी के पास सुगुण होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोगों के पास भिन्न-भिन्न वस्तु, गुण, क्रिया दुर्गुण और सुगुण भिन्न-भिन्न परिमाण मे होते हैं। मुझे किसी से स्नेह करते हुये अपने आदर्श का देखना चाहिए। जिससे मेरी आवश्यकता पूरी हो सके और मेरे उद्देश्य की भी पूर्ति हो। यदि तू अपने उद्देश्य को छोड़ कर किसी के स्नेह करने पर ही स्नेह करने लग जाएगा अथवा किसी के सुप्त स्नेह को जागृत करने लगेगा तो अवाछित कर्मों में ही उलझ-पुलझ हो जाएगा। जिसका परिणाम अवांछित-फल, दुख, कष्ट, असुविधा, अशाति और संताप आदि के अतिरिक्त और कुछ न होगा। अत किसी के ... को देख कर स्नेह नहीं करना चाहिए अथवा किसी के ... स्नेह को जागृत नहीं करना चाहिए। किसी में स्नेह

करते समय या किसी के सुप्त स्नेह को जागृत करने के लिये अपना आदर्श या उद्देश्य देखना आवश्यक है।

अभ्यास ५

सब अपने उद्देश्य को सफल बनाने में लगे हुये हैं, इसलिये मुझे भी अपने उद्देश्य को सफल बनाना चाहिए—

दूसरे दिन साधक विचार करता है कि मैं जनपथ में देखता हूं कि सहस्रों मनुष्य आते-जाते हैं। वे अपने-अपने भाव लिये हुये हैं। किसी को भी किसी के भाव का ज्ञान नहीं है। वे सब अपने-अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपने-अपने भाव का चिन्तन करते हुये चले जारहे हैं और उसी के अनुसार कर्म करते हैं। वे अपने उद्देश्य की प्राप्ति में मनुष्य, पशु, पक्षी, यंत्र और अन्य वस्तुओं को साधन बनाते हैं। जबकि सब अपने-अपने उद्देश्य को सफल बनाने में लगे हुये हैं, तो मैं भी अपने उद्देश्य को सफल क्यों न बनाऊँ···? अर्थात् मुझे वह यत्न करना चाहिए कि जिससे सफलता मिले। मान लिया जाए कि कोई अपने उद्देश्य को सफल बनाने के लिये यत्न नहीं करता है, तो मुझे उसके अनुसार नहीं करना चाहिए। यदि कोई अपने उद्देश्य के विरुद्ध कार्य करता है, तो मुझे उससे भी प्रयोजन नहीं। मुझे तो अपने उद्देश्य के अनुसार कार्य करके,

इसे सफल बनाना चाहिए—जीवन का यही उद्देश्य है। यह उद्देश्य वैयक्तिक है। मैं व्यक्ति हूं, इसलिये मुझे इस सिद्धान्त के अनुसार अपने को सफल बनाना चाहिए। साथ ही मैं समष्टि का भी अंश हूँ, इसलिये मुझे उसके उद्देश्य का भी ध्यान रखना चाहिए। समष्टि जीवन का उद्देश्य है कि क्रियाशील रहना, सफल-असफल होना नहीं।

अभ्यास ६

१. अभ्यास की आवश्यकता—

साधक ने काम-क्रीड़ा के विषय मे मन को वश मे करने के लिये नियमों या तत्वों की रचना कर ली है, परन्तु उसे पर्याप्त अभ्यास की आवश्यकता है। उसके बिना नियमों या साधनों का निर्माण करना व्यर्थ है क्योंकि जबतक विषय में सिद्धता नहीं होती, तबतक फल प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था मे नियंत्रण-विशेषज्ञ तथा अनियंत्रणक दोनों बराबर हैं। बराबर ही नहीं, नियंत्रण-विशेषज्ञ की भारी हानि भी है। क्योंकि उसके समस्त जीवन भर का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। साधक इन सब बातों को जानता है, परन्तु वह ऐसी परिस्थिति मे पड़ा हुआ है कि अभ्यास नहीं करने पाता।

२. अभ्यास करने में अड़चनें—

साधक कभी शारीरिक तथा मस्तिष्क की निर्बलता के आगे

विवश होता है, कभी राजनियम की उलझन में उलझ जाता है, कभी किसी राजनैतिक संस्था की शक्ति के दुरुपयोगों, अनाचारों और अज्ञानता या हठधर्मी पर विचार करता है; कभी सामाजिक प्रथाएं अभ्यास करने का अवसर नहीं देती, कभी कौटम्बिक अड़चनें आ जाती है तो कभी साधक वैयक्तिक दोषों से आक्रांत हो जाता है। अर्थात् कभी साधक को शारीरिक, वाचिक, मानसिक और व्यावहारिक दोष चैन नहीं लेने देते। इत्यादि आपत्तियों के कारण साधक अपने मानसिक नियंत्रण तत्वों को सिद्ध नहीं करने पाता। जबतक तत्व सिद्ध न हों तबतक फल कहाँ ? जबतक फल नही, तब तक समस्त नियम बिडम्बनामात्र हैं। नियमों का अभ्यास तब तक नही होने पाता, जबतक पर्याप्त समय न मिले। अतः अभ्यास करने के लिये उक्त आपत्तियों का न होना या समय का मिलना अत्यावश्यक है। इसके बिना कुछ-नही बन पाता। इस कारण अभ्यास करने के लिये किसी न किसी प्रकार समय निकालना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु उक्त दोषों और आवश्यकताओं पर भी ध्यान तथा समय देना आवश्यक हो जाता है।—

(१, मनोवेग का अपना कार्य किये चले जाना)—

—परन्तु कामदेव या मनोवेग उपरोक्त किसी भी बात को नहीं देखता। वह-तो अपना काम किये चला जाता है। मनुष्य

की चाहे कैसी भी दुर्दशा हो, उसके प्राण चाहे संकट मे पड़े हुये हों और लोग चाहे उसे बुरा बताए। वे चाहे उसकी निन्दा करे, चाहे जूतिया मारे या उसके साथ व्यावहारिक असहयोग करे अथवा चाहे प्रतिष्ठा धूल मे मिलादें। परन्तु इन बातों की कामदेव को कुछ चिन्ता नही होती। वह धीरे से या तेजी से, चुपके से या खटखटाहट (गान वाद्यों,)के साथ, रात मे या दिन मे, सोते या जागते, उठने या बैठते, चलते-फिरते या स्थिरता मे--बड़ी मधुरता तथा सौन्दर्य के साथ अन्त.करण-कुटीर मे प्रवेश करता है।—

(२. सौन्दर्य जाल से निकलना, अत्यन्त कठिन)—

—उस समय मनुष्य उसके माधुर्य तथा सौन्दर्य से मुग्ध होकर उसका दर्शन तथा चिन्तन करने लगता है और वह बड़े प्रेम, माधुर्य तथा स्नेह से उसे अपनी अन्त करण कुटीर मे निवास करने के लिये स्थान देता है। जब कामदेव या उसका मनोवेग अंत.करण कुटीर मे अपना अधिकार जमा लेता है, तो पश्चात् वह उसके जीव या मनुष्यको अपने वश में करने लगता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य वशमे होता चला जाता है, त्यों-त्यो वह उसके जालमें अपनेको फंसा हुआ अनुभव करने लगता है। और जब वह उससे निकलने का यत्न करने लगता है, तो कामदेव के प्रेम, माधुर्य और स्नेह के या सौन्दर्य आनन्द के तन्तुः इतने

सघन तथा उलझे हुये होते हैं कि उनका सुलझाना और निकलने का मार्ग निकालना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। यदि ये तन्तु किसी मनुष्य के स्वाभाविक रूप में निर्बल तथा झिनझिने हों या वह किसी परिस्थितिवश उनसे निकल जाए, तब तो दूसरी बात है। अन्यथा इन तन्तुओं से निकलना एक प्रकार से असम्भव-सा हो जाता है। परन्तु यदि साधक सतत तथा सत्य प्रयत्न करे तो कोई समय ऐसा आ सकता है कि उसे सफलता मिल जाए। यदि उसे अपने साधन में पूर्ण सफलता न भी मिले, तो-भी कोई चिन्ता की बात नहीं। उसे आंशिक लाभ तो अवश्य होगा ही।

३. साधक का प्रेमिका की प्रेम-पाश में बंधना—

साधक कामदेव के प्रेम, माधुर्य और स्नेह अथवा सौन्दर्य तथा आनन्द-पाश के तन्तुओ मे फंस गया है। वह चाहता है कि मैं सदा प्रेमिका के समीप रहूं, उसे सदा देखता रहूं, उस के मधुर शब्दों को श्रवण करता रहूँ और उसके प्रेमामृत का सदा पान करूँ। इसी लालसा मे वह अपना समय व्यतीत करता है। पर जब कभी नियत समय मे प्रेमिका का प्रेमामृत उसके हृदय मे प्रवेश नही होने पाता तो उसकी छाती ताप से तपने लगती है और वह उससे इतना व्याकुल हो जाता है
प्रेमिका के प्रेमामृत की वर्षा हुये बिना शांत नहीं होता।
जिस प्रकार से भी हो—उचित-अनुचित, न्याय

धर्म-अधर्म कुछ नहीं देखता—अपने शुष्क तथा तप्त हृदय को प्रेमिका के स्नेह से सिंचित करना चाहता है।

वह मार्ग मे उसका प्रेम-दर्शन करके कृतार्थ होता है। वह विद्यालय मे, सभास्थलों मे, सिनेमा घरों मे झाड़ियो के झुरमुटों मे से, पुस्तकों की आड़ मे से और अपने कार्यों के मिस से अपनी प्रेमिका से प्रेम का आदान-प्रदान करता है। वह भीतो के झरोखों, किवाड़ो के छिद्रों-झिरियों, दरवाजों में से और दर्पण की छायों मे अपनी प्रेमिका के रूप- सौंदर्य का मधुपान करने लगता है। वह मधुपान करते हुये अपने कर्तव्य को. हानि- लाभ को और सुख-दु ख को भूल जाता है। उसे यह ध्यान नहीं रहता या उसे ध्यान आता भी है तो वह तत्क्षण अंतर्ध्यान हो जाता है। वह उस समय भूल जाता है कि यदि लोग मुझे देख लेगे तो क्या कहेंगे ? क्या समझेंगे और वे मुझे क्या क्या हानियां पहुंचाएंगे ? वह यह भी भूल जाता है कि स्वामी के कार्य मे क्षति होगी, जिससे मेरी भविष्यत् में अवनति हो जाएगी। उसे यह भी स्मरण नहीं रहता कि अपने व्यापार को न संभालने से मुझे अपने कर्मचारियों तथा राजसत्ताके द्वारा कितनी क्षति पहुंचेगी ? वह यह भी भूल जाता है कि अपने ऊपर देश के लिये हुये कार्य-भार को यथावत् संचालन न करने से, लोग मुझ पर थू-थू करने लगेंगे। वह अपनी प्रेमिका की प्रेम-मदिरा पीकर

चिन्ता-विचार में मग्न

इतना मस्त होजाता है कि वह अपने शरीर की सुध-बुध भी भूल जाता है। उसे यह ध्यान नही रहता कि मै महीनों तथा वर्षों से रोगावस्था मे पड़ा हुआ हूँ, सब प्रकार के कार्यों से निकम्मा होचुका हूँ और उसके प्रतिदिन के चिन्तन से क्षीण होता रहता हूं। वह इस दीन-हीन अवस्था को प्राप्त होते हुये भी अपने व्यसन को नहीं छोड़ सकता। उसमें एक प्रकार का पागलपन-सा आ जाता है। वह दिन-रात अपनी प्रेमिका का चिन्तन करता रहता है। रात को जब सब मनुष्य अपने-अपने घरो मे और अपनी-अपनी शैया पर लेटे हुए आनंद से सोते है, तो उस समय प्रेमी अपनी शैया पर पड़ा-पडा नींद लाने का यत्न करता है। परन्तु बड़ी कठिनाई के साथ और बहुत विचारों के उपरांत किसी प्रकार से उसे नींद आ जाती है। परन्तु वह नींद कुछ ही समय ठहर पाती है कि व्याकुलता उसे भग कर देती है और प्रेमी का अंतःकरण मंथन होने लगता है। उस समय संसार मे चारों ओर अंधकार ही अंधकार छाया हुआ रहता है। उसका उस समय एक प्रकार से सृष्टि से सम्बध विच्छेद रहता है और प्रेमिका भी कहीं, किसी घर में—अपनी शैया पर पड़ी होती है। उसका ज्ञात नहीं कि क्या अवस्था होगी ? उस शून्य तथा एकांत स्थल मे साधक-प्रेमी सन्तापित अंतःकरण से कुछ-कुछ सोचने लगा और उस समय उसका कुछ-कुछ काम-वेग भी उतरा। उस समय उसे प्रेमिका से

उत्पन्न होने वाले आनन्द के अतिरिक्त भविष्यत् मे आने वाली आपत्तियाँ-विपत्तिया भी दिखाई देने लगीं और वह अपनी अवस्था तथा कर्मों पर विचार करने लगा।

४. साधक का विचार आरम्भ—

(१ आकर्षण होने का कारण)—

साधक विचार करता है कि मैं जो वारम्बार स्त्री की ओर आकर्षित होता हूँ, इसका कारण क्या है··? मुझे उससे सम्मिलन की अभिलाषा क्यों बनी रहती है··? इसका कारण है कि वह मुझे प्रिय लगती है, उससे मुझे आनन्द होता है। अब यह देखना है कि इस प्रिय लगने तथा आनन्द होने का कारण क्या है·? यदि उसको देखने, उसके शब्दों को सुनने और उसके सम्मिलन ही मे आनन्द प्राप्त होता है, तो उससे उनके अतिरिक्त अन्य प्रकार की इच्छा न होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता·। स्त्री की ओर अब आकर्षित होता हूं तो लिंग पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् उसमे चेतनता आजाती है और साथ ही वह झरने लगता है। ये दोनों लक्षण मैथुनादि से सम्बन्ध रखते हैं। अत स्पष्ट हो जाता है कि मै जो स्त्री की ओर वारम्वार आकृष्ट होता हूँ, इसका मूल कारण उससे मैथुन आदि करके सुख-आनन्द प्राप्त करना ही है, परन्तु वह भ्रान्तिवश ज्ञात नहीं होता।

(२ काम-क्रीड़ा का सुख अपने सुखके लिए चाहता हूँ)—

अब साधक विचार करता है कि मैं जो स्त्री से काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त करना चाहता हूं। वह किसके सुख के लिये ? अपने लिये या स्त्री के लिये ? मैं देखता हूँ कि जबकि मैं स्त्री के किसी भी प्रकार के सुख के लिये यत्न नहीं करता, तो मै उसके इस सुख के लिये भी यत्न नहीं करता। दूसरे स्त्री का मुझसे प्रेम होता है, तो मेरा भी उससे प्रेम होजाता है और उसके सुख की प्राप्ति के लिये चिन्तन तथा यत्न करने लगता हूँ। यदि उसका मुझसे प्रेम नहीं और वह मेरे सुख के लिय यत्न नहीं करती, तो मेरा भी उससे प्रेम नहीं रहता और मैं भी उसके सुख की प्राप्ति के लिये यत्न नहीं करता। यदि उसका मेरे प्रति रूक्षता या द्वेष हो जाता है और वह मुझे हानि पहुँचाने लगती है, तो मेरे मे भी उसके प्रति रूक्षता तथा द्वेष होजाता है और मै भी उसे हानि पहुँचाने का यत्न करने लगता हूँ। चौथे स्त्री जब कभी मुझसे प्रेम करती-करती अन्य पुरुष से प्रेम करने लगती है तो मुझे उससे घृणा होने लगती है और मै उसके इस मुख्य-कार्य को नहीं चाहता। साथ ही मैं प्रेमिका के कार्य मे बाधा पहुंचाने का यत्न भी करने लगता हूं। पांचवें स्त्री (प्रेमिका) की मुझसे काम-क्रीड़ा करने की इच्छा नहीं होती है, तो मैं उसे—अपने से काम-क्रीड़ा करने के लिये—अनेक प्रकार से प्रेरणा करता हूँ। इन पाँच कारणों से

प्रकट होता है कि मैं जो स्त्री से काम-क्रीड़ा करना चाहता हूँ, वह अपने ही सुख के लिये—स्त्री के सुख के लिये नहीं। स्त्री के सुख के लिये जो चाहता हूँ, वह भी मूल रूप में अपने ही सुख के लिये है।

—(१. अपने सुख की दृष्टि से)—जब कि मैं मूल रूप में अपने ही सुख की दृष्टि से स्त्री के सुख को चाहता हू, तो अपने सुख की प्राप्ति के लिये स्त्री से प्रेम होना स्वाभाविक है। जिस स्त्री से मैं प्रेम करता हूं और काम-क्रीड़ा करना चाहता हूँ, वह सब चोरी ही में होता है और होसकता है—अचोरीमें नहीं। अर्थात् मैं अपनी प्रेमिका से असत्कर्मों मे ही प्रेम तथा काम-क्रीडा कर सकता हूँ, सत्कर्मों मे नहीं। या यों कहना चाहिए कि चोरी में कर्मों की पूर्ति करके प्रेमिका से प्रेम, काम-क्रीड़ा या उसका आनन्द प्राप्त कर सकता हूँ।

मैं चोरी मे कर्मों की पूर्ति किस लिये करता हूँ कि दीर्घ-कालीन परिश्रम और सामाजिक आदि झंझटों से बच जाऊँ और मुझे सुख-आनन्द शीघ्र से शीघ्र तथा अधिक से अधिक प्राप्त हो। वह आनन्द अचोरी (सत्कर्मों) मे कर्मों की पूर्ति करने से नहीं हो सकता। दूसरे सत्कर्मों से अधिक से अधिक देर और कम से कम सुख प्राप्त होने की संभावना रहती है, क्योंकि उसमे दीर्घकालीन परिश्रम और सामाजिक आदि

झंझटों में पड़ना होता है । तीसरे अचोरी में यह शंका भी बनी ही रहती है कि कदाचित काम-क्रीड़ा का सुख प्राप्त ही न हो । इन्हीं सुख-प्राप्ति के बाधक कारणों से मैं चोरी में कर्मों की पूर्ति करने लगता हूं ।

परन्तु ध्यान देने से ज्ञात होता है कि चोरी मे कर्मों की पूर्ति करने के लिये प्रेमिका को छोड़कर अन्य समस्त स्त्री-पुरुष तथा बालक बालिकाओं की दृष्टि से अपने कर्मों को छिपाना पड़ता है, जो असंभव-सा है क्योंकि वे प्रायः सतर्क रहते हैं। दूसरे ऐसी अवस्था में हो सकता है कि चोरी मे कर्मों की पूर्ति करने की इच्छा होने पर वह अवसर ही न आने पाए, जबकि कर्मों की पूर्ति हो सके तथा मैं काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त कर सकूँ और जितना भी अल्प सुख अचोरी में तथा देर से प्राप्त होने वाला है, उससे भी वंचित हो जाऊँ और ऐसा हुआ भी है । तीसरे चोरी मे कर्मों की पूर्ति करने से मन, वचन और व्यवहार मे अनेकता हो जाएगी। कर्मों में अनेकता होने और उसका अभ्यास होने पर मुझे अपने-आपको अपने-आप पर ही विश्वास न रहेगा। जबकि मुझे अपने-आप पर ही विश्वास न रहेगा, तो शांति-आनन्द कहाँ ? यदि मुझे अपनी प्रेयसी से काम-क्रीड़ा का आनन्द भी प्राप्त होगा, तब भी मैं संशयात्मा होकर व्याकुल बना रहूंगा। चौथे काम-क्रीड़ा से अतिरिक्त अन्य विषयों के सुखों की प्राप्ति के लिये भी चोरी

ही में कर्मों की पूर्ति करने लगूँगा। जिसका परिणाम यह होगा कि मैं शीघ्रसे शीघ्र सब प्रकार के सुखों को नष्ट कर लूंगा। पाँचवे चोरी में कर्मों की पूर्ति करने से अपने वीर्य का भी निरंतर क्षीण करता रहूँगा, जिससे मैं निर्बल तथा रोगी होकर अपने काम-क्रीडा के सुख से वंचित हो जाऊंगा। छठे जब मेरे मन, वचन तथा व्यवहार में अनेकता हो जाएगी, तो मैं अपनी प्रेयसी से उसी प्रकार का व्यवहार करने लगूंगा। जिससे वह मेरे पर अविश्वास करके घृणा करने लगेगी और मेरा परित्याग कर देगी। उस समय मेरी कैसी दयनीय दशा होगी ? जो वर्णनातीत है। उस समय न मुझे प्रेयसी की प्रसन्नता मिलेगी, न काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त होगा और दोषी अलग बन जाऊंगा। एवं अपने अविश्वास से चिंतित रह कर, रोगी बना हुआ, अपने दुःख की घड़ियां गिनता रहूंगा। यदि मेरे वह - कर्म अन्य लोगों को ज्ञात हो जाएंगे, तो वे मुझे किस बुरी दृष्टि से देखेंगे ? सातवें चोरी में कर्मों की पूर्ति करने से मुझे अपनी प्रेमिका की कृपा दृष्टि पर आधारित होना होगा। जब कभी उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ कार्य हुआ कि वह मुझ पर रुष्ट हो जाएगी। और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगेगा कि वह मेरे से सम्बन्ध विच्छेद कर देगी। उस समय मेरे प्राण निकल-से जाएंगे। मेरे लिये संसार सूना हो जाएगा और मैं अपना धर्म-कर्म तथा तन-मन-

धन आदि सब कुछ खोकर या देकर भी अपनी प्रेयसी को अपने पास न रख सकूंगा। इस प्रकार चोरी से कर्मों की पूर्ति करने से मुझे न काम क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त हो सकेगा और न अन्य प्रकार के ही सुख प्राप्त कर सकूंगा। इन सब सुखों को प्राप्त करने के लिये चोरी से काम-क्रीडा को प्राप्त करने का यत्न न करना। प्रथम तो चोरी से कर्मों की पूर्ति करने से काम-क्रीड़ा का सुख शीघ्र तथा अधिक प्राप्त होगा ही नहीं, क्योंकि उसमें अनेक बाधाएं उपस्थित होती रहेंगी। यदि वह किसी प्रकार चोरी से प्राप्त भी हो जाए, तो इस असत्पथ का त्यागना अत्यन्त दुष्कर हो जाएगा। अतः यदि चोरी से किसी प्रकार शीघ्र तथा अत्यधिक काम-क्रीड़ा का सुख-आनन्द प्राप्त भी हो, तो भी उसे त्याग देना चाहिए।

अचोरी या यों कहना चाहिए, स्वकर्मों से पूर्ति करने से चोरी के सब दोष दूर रहेंगे और मुझ में अनेक गुण आ जाएंगे। मैं पुरुषार्थी बन जाऊंगा। मेरे मन, वचन और क्रियाओं में एकता हो जाएगी। जिसकी सान्त्वना से मुझे काम-क्रीड़ा प्राप्त न होने पर भी सन्तोष रहेगा। जब मैं अचोरी से काम-क्रीड़ा प्राप्त करने के लिये कर्मों की पूर्ति करूंगा, तो अन्य विषयों में भी अचोरी ही से कर्मों की पूर्ति करने लगूंगा। इस प्रकार मेरा जीवन समस्त विषयों में सत्कर्मी

तथा सुखमय बन जाएगा। यदि वे सुख मुझे प्राप्त न-भी होंगे तो-भी शांत बना रहूंगा, क्योंकि शारीरिक कष्टों की अपेक्षा मानसिक कष्ट अधिक दुःख देते हैं। मानसिक क्षोभ ही तो विचलित कर देते हैं। सत्कर्मों के प्रभाव से, जो भी शारीरिक दुःख प्राप्त होगा, उसे शांति पूर्वक सहन कर लिया जाएगा। परन्तु ये गुण असत्कर्मों से उत्पन्न नहीं हो सकते। इसलिये मुझे काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त करने के लिये अचोरी ही मे कर्मों की पूर्ति करनी चाहिए। दूसरे मैं यह जानता हूँ कि चोरी मे कर्मों की पूर्ति न करके अचोरी मे कर्मों की पूर्ति करनी चाहिए—फिर भी मै चोरी ही मे प्रवृत्त हो जाता हू क्योंकि मै यह समझने लगता हूं कि चोरी की अपेक्षा अचोरी में अधिक समय लगेगा, काम-वेग अधिक सहन करना पड़ेगा और आनन्द की प्राप्ति कम होगी। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए, तो ज्ञात होगा कि ऐसा नहीं है। वरन् अचोरी की अपेक्षा चोरी ही मे अधिक समय लगेगा और बहुत सम्भव है कि इस समय का अन्त ही न आए। परन्तु अचोरी में अपवाद को छोड़ कर समय का अन्त आना स्वाभाविक है। चोरी मे तो अकस्मात् ही समय की अल्पता हो और अचोरी मे अकस्मात् ही देरी हो। इस अकस्मात् का चिन्तन न करना।

[illegible] कारण चोरी मे प्रवृत्त होने का यह है कि अचोरी में [illegible] को अधिक सहन करना पडेगा। परन्तु यदि विचार-

पूर्वक देखा जाए तो, ज्ञात होगा कि अचोरी की अपेक्षा, चोरी ही में कामवेग को अधिक सहन करना पड़ेगा और अधिक सतर्क रहना पडेगा। क्योंकि किंचित भी भूल हुई कि लोगों को ज्ञात हुआ और किये-कराये पर मट्टी फिर गई। परन्तु अचोरी में यदि सतर्कता मे कमी रहने पर लोगों को ज्ञात भी हो जाए, तो कोई हानि नहीं। चोरी मे प्रवृत्त होने का तीसरा कारण यह है कि अचोरी में आनन्द की कम प्राप्ति होगी। परन्तु ऐसा नहीं है। ऐसा तो अकस्मात् ही हो सकता है। अकस्मात् के लिये हमें चिन्ता न करनी चाहिए। जो मार्ग हमे सदा तथा अधिक से अधिक आनन्द का देने वाला हो, उसे ही ग्रहण करना चाहिए और वह मार्ग है अचोरी या सत् का। यदि हमे सत्कर्म-मार्ग से काम-क्रीड़ा का आनन्द कम प्राप्त हो या नहीं प्राप्त हो तो कोई बात नहीं। एक प्रकार का सुख न-भी प्राप्त होगा तो क्या है ? अन्य सब प्रकार के सुख तो अधिक से अधिक और शीघ्र से शीघ्र प्राप्त होंगे ही। एक प्रकार का न-हो तो, न-सही। अतः हमे अपने सत्कर्म-मार्ग को न छोड़ना चाहिए। वरन् उसे यत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

—(२. प्रेयसी के सुख की दृष्टि से)—साधक विचार करता है कि जब मैंने अपने सुख प्राप्त होने के मार्ग का निश्चय कर लिया है, तो प्रेमिका के सुख के मार्ग का भी तो निश्चय होना

चाहिए। साधक का इधर ध्यान जाते ही वह अपनी प्रेयसी के सुख का चिन्तन करने लगता है कि उसे किस प्रकार से आनन्द प्राप्त होगा…? उसे काम क्रीड़ा का आनन्द उसके मनोवेगों को तरंगित करने से तो होगा नहीं। उसके आनन्द की प्राप्ति के लिये उसके द्वारा कर्मों की पूर्ति होनी आवश्यक है। वह पूर्ति चोरी तथा अचोरी इन दो रूपों में हो सकती है। चोरी से कर्मों की पूर्ति होने से, उसके समस्त दोष प्रेयसी में आ जाएंगे। उसे अपने कर्मों को अन्य स्त्री-पुरुषों से छिपाना पड़ेगा, जो अत्यन्त कठिन कार्य होगा। क्योंकि इतनी सतर्कता होना असम्भव-सा है। दूसरे हो सकता है कि उसे भोग भोगने का अवसर ही प्राप्त न हो। क्योंकि उसे वह चोरी ही से प्राप्त करना है। तीसरे उसके कर्मों में अनेकता हो जाएगी। जिससे अपनी असफलता पर वह स्वयं दग्ध होती रहेगी। चौथे कर्मों में अनेकता होने से, अन्य लोगों को भी उस पर अविश्वास हो जाएगा। जिससे उसे अनेक प्रकार की हानियाँ, लाञ्छन और फटकार आदि सुनने तथा सहन करने पड़ेंगे। पांचवें उसे अन्य विषयों में भी चोरी करनी पड़ेगी। यह नहीं हो सकता कि एक विषय के सुख की प्राप्ति के लिये तो चोरी करे और अन्य …ों के सुख की प्राप्ति के लिये चोरी न करे। इस प्रकार …री से कर्मों की पूर्ति करने से, उसके काम-क्रीडा के सुख

के सहित अन्य सब प्रकार के सुख भी शीघ्र से शीघ्र नष्ट हो जाएगे।

दूसरे मै अपनी प्रेमिका को जो सुख-आनन्द देना चाहता हूं, वह नही दे सकू गा क्योंकि मै किसी को सुख-दुःख नही दे सकता। सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दु ख को प्राप्त होते है। मैं तो उनका निमित्तमात्र बनता हूं। या यों कहना चाहिए कि मै अपना कर्तव्यपालन करता हूं। मेरा कर्तव्य इस प्रकार बनता है कि जिसने भूतकाल मे मेरे सुख के लिये किया हो, वर्तमान काल मे कर रहा हो या कर रही हो अथवा भविष्यत् म जिससे संभावना हो या सामान्य रूप से। इस प्रकार से प्रेमिका मेरे द्वारा अपने सुख के प्राप्ति की अधिकारिणी बन सकती है और इस अवस्था में मेरा कर्तव्य हो जाता है कि वह मेरे द्वारा आनन्द को प्राप्त करे ''। उसे वही देना चाहिए। वह आनन्द सत्कर्मो के द्वारा ही हो सकता है, चोरी मं कर्मों की पूर्ति करने से नही। अतः अपनी प्रेमिका के सुख के लिये आवश्यक हो जाता है कि उसे, चोरी (असत्) कर्मों मे प्रवृत्त न करके, अचोरी (सत्) के कर्मों में प्रवृत्त करूं' यदि मै उसे सत्कर्मों मे नही चला सकता तो 'असत्कर्मों मे प्रवृत्त न करना' यह भी श्रेष्ठ है। परन्तु उसके अपने सुख की दृष्टि से चोरी कर्मों मे

उसे प्रवृत्त कभी न करना, चाहे उसे काम-क्रीड़ा का आनन्द प्राप्त ही न हो।

—(३. सम्बन्ध विच्छेदकी दृष्टि से)—जब मै सत्कर्म पथ पर चलूगा और अपनी प्रेमिका को सत्कर्म-पथ पर चलने के लिये प्रवृत्त करूगा, तो हमारा परस्पर सम्बन्ध विच्छेद हो जाएगा। क्योंकि हमारा जो प्रेम है, वह असत्कर्म-पथ पर चलने के कारण है और उसमे हमारा एक-दूसरे का स्वार्थ सिद्ध होता है या दोनो को अपना-अपना आनन्द मिलता है। जब हम सत्कर्म-मार्ग पर चलने लगेगे, तो हम दोनों को एक दूसरे से आनन्द न मिल सकेगा। जहाँ आनन्द मिलने से रहा, वहाँ न प्रेम होगा और न सम्बन्ध। अत सत्कर्म-पथ पर हमारा सम्बन्ध का विच्छेद होना स्वाभाविक है।

जब हमारा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा, तो न-तो मैं अपनी प्रेमिका को आनन्द पहुचा सकूंगा और न वह-ही मुझे आनन्द दे सकेगी। मेरे सुख के लिये तो यह बात है कि मुझे मेरा कर्म ही आनन्द देता है। वह-तो केवल निमित्त मात्र बनती है। यदि मेरे कर्म मे आनन्द प्राप्त होना हुआ, तो अवश्य प्राप्त होगा और यदि न-होना हुआ,तो उसके लाख चिन्तन-यत्नसे भी मुझे सुख-आनन्द की प्राप्ति न होगी। इसी प्रकार उसके प्रति भी, मेरे करने से कुछ न होगा। दूसरा तो निमित्तमात्र बनता

है। यदि उसके कर्मों मे आनन्द प्राप्त होना हुआ तो उसके लिये कोई-न-कोई निमित्त अवश्य बन जाएगा। इस कारण उसके आनन्द के प्राप्ति की तो चिन्ता करनी न चाहिए।

दूसरा तो कर्तव्यपालन ही कर सकता है। मैं भी प्रेयसी के प्रति कर्तव्यपालन ही कर सकता हूँ तथा करता हूं और वह भी मेरे प्रति कर्तव्यपालन ही कर सकती है तथा करती है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जबकि दोनों कर्तव्यपालन ही करते है तो, हमारा परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद होने पर भी, कर्तव्यपालन मे अन्तर नहीं आ सकता। वर्तमान प्रेमिका से सम्बन्ध रहेगा तो, तो कर्तव्यपालन होगा और अन्य प्रेमिका से सम्बन्ध रहेगा तो, तो कर्तव्यपालन होगा—होगा अवश्य।

मेरा वर्तमान-प्रेयसी से सम्बन्ध का विच्छेद अवश्य होगा, क्योंकि वह-सम्बन्ध असत्कर्मों के कारण है। असत्कर्मों का स्वभाव ही यह है कि विकार (दोप) उत्पन्न कर देना। वह विकार शारीरिक, वाचिक, मानसिक हो अथवा वैयक्तिक, सामाजिक या राजकीय हो अथवा अन्य किसी प्रकार का हो और किसी काल मे हो—होता है अवश्य। वह विकार ही मेरा अपनी प्रेयसी से सम्बन्ध विच्छेद करा देगा। इसी प्रकार सत्कर्मों मे भी सम्बन्ध विच्छेद होता है, परन्तु इस विच्छेद मे दोप नहीं आने पाता। यह बात स्वाभाविक या प्राकृतिक है। दूसरी बात यह है कि असत्कर्मों से सम्बन्ध का विच्छेद

हुआ—विच्छेद घृणा, द्वेष और शत्रुता पूर्ण होगा। जिनका दूर होना अत्यधिक कठिन है। और सत्कर्मों से विच्छेद प्रेम तथा सहानुभूति पूर्ण होगा। जो फिर भी कभी, चाहे जब, सम्बन्ध हो सकता है और प्रमिका को सुख-आनन्द पहुंचाया जा सकता है। अत सम्बन्ध का विच्छेद होना ही है, तो सत्कर्मों मे ही विच्छेद करना चाहिए। जहा तक हो सके असत्कर्मों मे विच्छेद का अवसर न आने देना चाहिए।

समस्त ससार निरतर कर्म-प्रवाहमें प्रवाहित होरहा है। उसी प्रवाह मे हम भी वह रहे है। किसी कर्म की झाल से मै तथा प्रेमिका एक दूसरे के समीप पहुंच गये और जब हम दोनो के कर्मों की कुछ अनुकूलता हुई तो एक-दूसरे की ओर आकर्षित हुए। एवं प्रेम का मूक आदान-प्रदान हुआ हो सकता है कि जिस प्रकार कर्म-प्रवाह मे किसी झाल से हमारा प्रेम सम्पर्क या सम्बन्ध हुआ, उसी प्रकार किसी झाल से सम्बन्ध का विच्छेद भी हो जाए।

माना कि जो भी कुछ होता है कर्मों ही से होता है, परन्तु कर्म करने तो अपने अधीन है ? जैसी भी इच्छा हो, उसी के अनुसार कर्म कर ले। वास्तव मे देखा जाए तो ऐसा नहीं है क्योंकि कर्म—आवश्यकता, परिस्थिति, उद्देश्य, स्वभाव, शक्ति, साधन और सचित-प्रारब्ध कर्म के अनुसार होता है। इसलिये मुझे सम्बन्ध तथा विच्छेद का चिन्तन न करना

चाहिए। जैसा भी होना होगा, वैसा हो जाएगा। परन्तु कर्तव्य दृष्टि से अपने सत्कर्मों का ही संचय करते रहना चाहिए। क्योंकि सत्कर्म ही एक-दूसरे से सम्बन्ध और प्रेम स्थापित करने वाले है।

सत्कर्मों के लिये प्रेमिका से सम्बन्ध विच्छेद करने से मुझे कष्ट क्यों होता है‥? यदि सम्बन्ध के मूल मे प्रवेश करके देखा जाए, तो मेरा तथा प्रेमिका का सम्बन्ध है ही कहाँ ․? शरीर, उसकी उत्पत्ति-नाश, क्षीण-वृद्धि, सुख-दुःख और अनुभव सब पृथक्-पृथक् हैं। केवल अपने-अपने स्वार्थ की अनुकूलता से एक-दूसरे के प्रति प्रेम हो जाता है और उसके होने पर अभिन्न सम्बन्ध प्रतीत होने लगता है। जब उस अभिन्न सम्बन्ध के टूटने की संभावना होती है, तो बड़ा कष्ट होता है। वास्तव मे देखा जाए तो यह सब अनुकूलता ही के कारण है। जहां-जहां, अनुकूलता होगी, वहाँ-वहाँ सम्बन्ध के टूटने की संभावना होने पर अपार-वेदना होगी और ऐसा भूतकाल मे हुआ भी है। इसी स्वाभाविकता से मुझे वर्तमानकालिक प्रेमिका से सम्बन्ध का विच्छेद करने मे कष्ट होता है। यदि वर्तमानकालिक प्रेमिका मे अनुकूलता न रहे, तो उससे सम्बन्ध विच्छेद करने मे किसी प्रकार का कष्ट न हो। वर्तमानकालिक प्रेमिका से अनुकूलता रहती नहीं क्योंकि वह असत्कर्मो से है और सत्कर्मों से भी अनुकूलता नहीं रह सकती। इसलिये सम्बन्ध

विच्छेद का होना स्वाभाविक है। जबकि विच्छेद का होना स्वाभाविक है, तो उसके लिये संकोच और कष्ट क्या ?

सम्बन्ध तथा विच्छेद का आधार कर्म है। इसलिये अपने कर्मों को ही भली प्रकार से देखना चाहिए। अपने वर्तमानिक कर्मो को देखने से ज्ञात होता है कि मेरा वर्तमानिक प्रेमिका से सम्बन्ध नहीं हो सकता, नही ठहर सकता क्योंकि मेरे पास ऐसे कर्म-साधन नहीं हैं, जिनके द्वारा मैं कर्मों की पूर्ति करके उसे प्राप्त कर सकूँ या सम्बन्ध बनाए रख सकूँ और भविष्यत मे भी उससे तृप्ति होने की संभावना नही है क्योंकि यह असत्कर्मों से होगी। जिनकी साधना करना मेरा उद्देश्य नहीं है। जब मुझे तृप्ति ही न होगी, तो मेरा सम्बन्ध भी नहीं रह सकता। जब सम्बन्ध विच्छेदका होना अवश्यंभावी है, तो उस सम्बन्धके रखनेकी क्या चिन्ता ? अत. सम्बन्ध रखनेके लिये अपने उद्देश्य सत्कर्मों को कभी न छोड़ना चाहिए। दूसरे जबकि मेरा उद्देश्य असत्पथ से कर्म-सग्रह करना और पूर्ति करना नहीं है, तो पहले असत्पथ से संग्रह तथा पूर्ति करूं और पश्चात् उनका त्याग करूं। इस प्रकार परस्पर विरोधी कर्म करके एक कर्म के फल को दूसरे कर्म के द्वारा नष्ट न । अर्थात् जिस प्रकार से भी फल प्राप्त करना हो, उसमें लक्ष्य स्थापित करके और उसको स्पष्ट रखते हुये—कर्म करना।

तीसरे दूसरे को आशा देकर निराशा में परिणत न करना।

—(लांछन की दृष्टि से)—जब मैं सत्कर्म को ग्रहण करने के लिये अपनी प्रेयसी से सम्बन्ध का विच्छेद करूंगा, तो वह अपने मन में विचार करेगी या मुझ से कहेगी कि यदि सम्बन्ध का विच्छेद करना ही था तो सम्बन्ध क्यों किया ···? यह बात तो पहले ही विचारने की थी। सम्बन्ध बनाने में जो कष्ट मुझे हुआ था और उसके तुम्हारे द्वारा तोड़े जाने पर जो कष्ट मुझे होगा, उसका उत्तरदायित्व किस पर होगा···? तुम्हीं बतलाओ, मुझे किस प्रकार सन्तोष हो···?

प्रेमिका के ये प्रश्न यथार्थ हैं। इन पर विचार करने की आवश्यकता है···? मेरी इच्छा नहीं थी कि असत्कर्मों में उससे सम्बन्ध करूं परन्तु अज्ञान, मनोवेगवश और अभ्यास की कमी के कारण ऐसा हो गया। अब अज्ञान के कुछ दूर होने, मन के कुछ नियंत्रण में आने और कुछ अभ्यास के होने के कारण—सत्कर्म के मार्ग पर चलना चाहता हूँ। इस मार्ग पर चलने से हम दोनों का तथा समाज का लाभ है। इस लिये यदि सत्कर्म-मार्ग में सम्बन्ध का विच्छेद हो जाए, तो कुछ चिन्ता की बात नहीं है। दूसरे तुमने मुझ से जो सम्बन्ध किया है, वह मेरे निश्चय से नहीं, अपने निश्चय से। इस कारण मेरे पर दोषारोपण करना निरर्थक-सा है। इसका उत्तरदायित्व स्वयं तुम्हारे ऊपर है। इतना होने पर भी सत्कर्म से सम्बन्ध का विच्छेद हुआ, उसे विच्छेद नहीं कहना

चाहिए क्योंकि काम-क्रीड़ा के विषय को छोड़कर अन्य किसी भी विषय में सम्बन्ध हो सकता है। तीसरे वह मुझ पर यह लाञ्छन लगा सकती है कि तुमने मुझे मंझधार में छोड़ दिया। पर सम्यकतया विचार करने पर इस आरोप में भी सार नहीं दिखाई देता—क्योंकि उसका पूर्व का आधार (सम्बन्ध) छूटा नहीं है, ज्यों का त्यों बना हुआ है। मान लिया जाए कि पूर्व का सम्बन्ध टूट जाए और उत्तर-सम्बन्धी भी अपना संबंध तोड़ ले, तो एक भारी दु:ख है और संसार- समुद्र में असंबंधी मंजधार में पड़ जाए। परन्तु यदि ऐसा असत्कर्म को छोड़ने में और सत्कर्म के ग्रहण करने में हो, तो अवश्य कर लेना चाहिए क्योंकि सत्कर्म में छोड़ने से मंजधार में छोड़ना नहीं कहलाता। सत्कर्मी तो अपनी प्रेमिका को सत्मार्ग पर लाने-का यत्न करता है। जो मंझधार में छोड़ने की अपेक्षा—पार लगाना ही कहा जाएगा। चौथे वह यदि मुझ पर अविश्वास का दोष लगाती है, तो भी मुझ पर यह दोष नहीं लगसकता। क्योंकि प्रथम तो मैंने उसे विश्वास दिया नहीं है। दूसरे मेरे विश्वास के आधार पर उसने मुझ से सम्बन्ध किया भी नहीं है—अपने निश्चय से किया है। अतः मेरे पर कोई दोष आकर लागू नहीं होता। इसलिये मुझे सत्कर्मों को अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए अथवा मुझे सत्कर्म-मार्ग पर अवश्य चलना चाहिए।

—(५. प्रेरणा की दृष्टि से)—साधक आगे बढ़ता हुआ विचार कर रहा है कि मैं ने पहले तो अमुक स्त्री से सम्बन्ध किया और अब उसे तोड़ना चाहता हूँ। पहले वह स्त्री खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने, घर-गृहस्थी के कार्य में संलग्न और अपने आनन्द में मग्न रहा करती थी। एवं वह मुझ से सम्पर्क स्थापित करना नहीं चाहती थी। परन्तु मैं ने उसे वारम्बार प्रेम से प्रवृत्त करके अपनी ओर आकर्पित किया। अब उससे सम्बन्ध का विच्छेद करना चाहता हूँ। यह-तो बड़ा भारी अन्याय है। ज्यों-ज्यों इस बात का चिन्तन करता हूँ, त्यों-त्यों मुझे अंतर्वेदना होती है। परन्तु किया क्या जाए? उस से सम्बन्ध का विच्छेद तो करना ही पड़ेगा। क्योंकि यह सम्बन्ध असत्कर्मों से है। असत्कर्म अपने को, प्रेमिका को, समाज को और देश को हानिदायक तथा दुःखप्रद है। प्रेमिका का साथ छोड़ने पर हो सकता है कि उसे असत्कर्म के सुख प्राप्त न हों परन्तु सत्कर्म के सुख-तो प्राप्त होंगे ही। असत्कर्म के न हों-तो, न सही।

दूसरे असत्कर्म के सब सुख प्राप्त होने पर भी अशांति-असन्तोष बने रहेंगे परन्तु सत्कर्म में यदि एक प्रकार का भी सुख प्राप्त न हो, तो-भी शांति-सन्तोष बना रहेगा।

तीसरे मेरी प्रेरणा द्वारा उसे जो कष्ट हुआ है, उसके प्रति मेरा कर्तव्य हो जाता है कि जहाँ तक हो सके, उसे सुख-

सन्तोष हो। वह कार्य असत्कर्मों की अपेक्षा सत्कर्मों से अधिक सुचारु रूप में हो सकता है। इस लिये असत्कर्मों का सुख प्रेमिका को न दे सके, तो कोई बात नहीं। उसे सत्कर्मों का सुख तो मिल ही जाएगा। अत प्रेमिका के असत्कर्मों के सुख का चिन्तन न करके, अपने सत्कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिए।

—(६. प्रेम की दृष्टि से)—साधक आगे विचार करता है कि मैं ने पहले तो अमुक स्त्री से प्रेम किया और अब उसे छोड़ता हूं। जब कुछ स्वार्थ प्रतीत हुआ या आनन्द प्राप्त हुआ, तो प्रेम करने लगा और जब कुछ स्वार्थ लाभ न हुआ या आनन्द न हुआ, तो प्रेमी जी विदा हुए। यह कैसा प्रेम ··? यदि प्रेम किया है, तो उसका कुछ निर्वाह भी होना चाहिए।

(प्रेम की परिभाषा), प्रेम उस प्रिय (मधुर) आकर्षण को कहते हैं, जिसमे प्रेम किये जाने वाले व्यक्ति के प्रति वास्तविक सुख-आनन्द की इच्छा तथा उसके सुख प्राप्ति का यत्न किया जाए।

वास्तविक सुख-आनन्द तब होता है, जबकि सत्कर्म हों।

(सत्कर्म की परिभाषा), सत्कर्म उस सर्वत्र तथा स्थायी रहने वाले कर्म को कहते हैं, जिससे असशयात्मक और अभ्रमात्मक सुख-आनन्द की प्राप्ति हो।

ऐसे सत्कर्म हमारे आदर्श के नौ तत्व हैं। उनके साधन तत्व सत्कर्म भी इसी ग्रन्थ मे वर्णित है। जो सर्व स्थानों तथा तीनों कालों में विद्यमान रहते हैं और असंशयात्मक तथा अभ्रमात्मक सुख-आनन्द को देते हैं।

प्रेमिका मुझ से जो प्रेम करती है, इसका कारण यही है कि वह मुझ से सत्सुख या सत्आनन्द चाहती है और वह हो सकता है, सत्कर्मों के द्वारा। सत्कर्मों में दूसरों के प्रति कर्तव्य-पालन ही किया जा सकता है। यह नहीं हो सकता कि अपने सुख के लिये न करके, दूसरों-दूसरों ही के सुख के लिये किया जाया करे। ऐसी अवस्था मे सत्कर्मों में वर्तमानिक प्रेमिका से सुख न होने पर, अन्य को ग्रहण किया जाएगा और उसके लिये सुख-साधन जुटाये जाएंगे, तो वर्तमानिक प्रेमिका मेरे द्वारा होने वाले सुख-आनन्द से वंचित हो जाएगी। ऐसा भविष्य देखकर छाती में पीड़ा होती है परन्तु किया क्या जाए ..? ऐसा करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। प्रेमिका को कुछ सुखों से तो अवश्य हाथ धोना पड़ेगा परन्तु परिणाम उसके लिये सुखावह होगा। इस लिये सत्कर्मों को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इन सत्कर्मों ही से प्रेम का निर्वाह भी हो सकता है क्योंकि वास्तविक आनन्द का देने वाला—यही कर्म है, असत्कर्म नहीं।

—(७. सहानुभूति की दृष्टि से)— विचार करते-करते साधक सहानुभूति पर आता है। वह सोचता है कि प्रेमिका मुझ से सहानुभूति रखती है, इस लिये मुझे भी उससे सहानुभूति रखनी चाहिए। यह सहानुभूति असत्कर्मों की अपेक्षा सत्कर्मों के द्वारा अच्छी रखी जा सकती है। इस लिये असत्कर्मों को छोड कर सत्कर्मों को ही ग्रहण करना चाहिए।

—(सारांश)—साधक ऊपर विस्तृत विचार करने के उपरात, संक्षिप्त रूप से विचार करके देखता है कि अपने सुख की दृष्टि और प्रेमिका के सुख की दृष्टि से सत्कर्म का ग्रहण करना आवश्यक है। असत्कर्म के त्याग और सत्कर्म के ग्रहण करने में सम्बन्ध के विच्छेद की आशंका करके यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि मुझे या प्रेमिका को आनन्द की प्राप्ति में कमी होगी। वरन् सत्कर्म के ग्रहण करने में तो अधिक से अधिक और शीघ्र से शीघ्र सुख की प्राप्ति होगी। सत्कर्म के ग्रहण करने में प्रेमिका के लांछन की ओर भी ध्यान देना आवश्यक नहीं है, क्योंकि मेरा कोई दोष नहीं है, दूसरे उसका भी कल्याण है। मैंने उसे जो असत्कर्म में प्रवृत्त करके कष्ट दिया है। उसका मै आभारी हूँ। जहा तक हो सकेगा, उसके प्रति कर्तव्यपालन करूगा। ऐसी अवस्था मे सम्भव है कि वर्तमानिक प्रेमिका की अपेक्षा आगन्तुक के लिये अधिक सुख

का यत्न करना पड़े, परन्तु इसका मुझ पर कोई दोष नहीं आ सकता। क्योंकि वर्तमानिक प्रेमिका भी कर्तव्यपालन से अधिक कुछ नहीं कर रही है और न कर सकती है। प्रेम के आधार से भी यही सिद्ध होता है कि सत्कर्म का ग्रहण करना चाहिए। इससे ही यथार्थ रूप से प्रेम का निर्वाह हो सकता है। सहानुभूति का विचार भी सत्कर्म के ग्रहण करने में बाधक नहीं, साधक है। अत निस्सन्देह होकर सत्कर्म ग्रहण करना चाहिए।

अभ्यास ७

साधक विचार करता है कि मैं ने यह विचार करके देखा है कि अपने सुख की दृष्टि से, प्रेमिका के सुख की दृष्टि से, सम्बन्ध के विच्छेद की दृष्टि से, लांछन की दृष्टि से, प्रेरणा की दृष्टि से, प्रेम की दृष्टि से और सहानुभूति रखने की दृष्टि से असत्कर्म को छोड़कर सत्कर्म को ग्रहण करना चाहिए। परन्तु फिर भी मैं बारम्बार प्रेमिका की ओर प्रवृत्त हो जाता हूँ। अब यह देखना है कि ऐसा क्यों होता है--?

१. बारम्बार आँखों से प्रेमिका को क्यों देखता हूँ ?--

मैं बारम्बार असत्कर्मों 'चोरी' से प्रेमिका को क्यों देखता

हूं··? यदि यह कहा जाए कि उसे जानना चाहता हूं, तब तो सत्कर्मों ही से जानना चाहिए क्योंकि मैंने सत्कर्मों को ग्रहण करने का अपना उद्देश्य बना लिया है। दूसरे प्रेमिका में जानने की बात ही क्या है? वही पिण्ड, वही आकृति वही रूप, वही रंग, वही अंग, वही ढंग, वही गुण और वही क्रिया आदि हैं। जब कि सब-कुछ वही है तो फिर भी उसको चोरी से बार-म्बार देखने की इच्छा तथा यत्न करने लगता हूं। जब कि ऐसा है तो क्या उससे काम-क्रीड़ा करना चाहता हूं···? नहीं ··। क्योंकि वह असत्कर्मों से प्राप्त होगी, इसलिये वह मुझे करना नहीं है। तो फिर उसे बारम्बार क्यों देखता हूं ··? ध्यान देने से ज्ञात होता है कि वह मुझे प्रिय लगती है और उस से मुझे आनन्द होता है। यह प्रिय लगने तथा आनन्द देने वाला कौन है··? इनका देनेवाला मेरा मन, मेरा संकल्प, मेरा भाव या मेरा संस्कार है। प्रेमिका में तो भासने लगता है। तू जो कहता है कि प्रेमिका के बिना व्याकुलता होती है, सो यह व्याकुलता भी मेरा मन ही देता है। उसके अभाव में तो केवल अभ्यास करने से भासने लगता है। जबकि आनन्द और व्याकुलता का देने वाला मेरा मन ही है, तो स्त्री में क्यों अभ्यास करना ··? यदि मुझे आनन्द का अभ्यास करना ही है, तो सत्कर्मों में ही करना चाहिए।

२. भूल होने के कारण और अभ्यास की आवश्यकता --

साधक विचार करता है कि मैंने अपने सुख की दृष्टि से और प्रेमिका के सुख आदि की दृष्टियों से विचार करके देखा है कि असत्कर्मों में काम-क्रीड़ा की ओर प्रवृत्त न होना चाहिए। फिर भी मैं उस ओर प्रवृत्त हो जाता हूँ। इसका कारण अपने विचारों या मन को नियंत्रण करने वाले मानसिक तत्वों को भूल जाना है। भूल इस कारण से होती है कि केन्द्रीय मस्तिष्क में से कुछ मस्तिष्क क्षीण होता रहता है और कुछ नवीन बनता रहता है। उस क्षीण-नवीनता के बनने में ही भूल हो जाया करती है। दूसरे इस क्षीणता तथा नवीनता के होने में संसार के विभिन्न और काम-क्रीडा के निर्बाध संस्कार पड़ते रहते हैं। जिनके कारण किये हुए विचारों में भूल हो जाया करती है और भूल हो जाने से निश्चित किये हुए कर्मों में स्थिर नहीं रह सकता। भूल होने का एक कारण यह भी है कि मस्तिष्क निर्बल होने पर उसमें धारण किये रखने की शक्ति कम हो जाती है। इन्हीं कारणों से अपने मानसिक ब्रह्मचर्य के तत्वों को भूल जाने से असत्कर्मों में काम-क्रीड़ा के आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त हो जाता हूं। इस प्रवृत्त होने से बचने के लिये प्रतिदिन अपने विचारों का अभ्यास करना आवश्यक है और

साथ ही यदि मस्तिष्क की पुष्टि के लिये भी यत्न किया जाए तो अच्छा है। इनके बिना अत्यन्त उपयोगी तथा सुन्दर रचना व्यर्थ है।

जिस प्रकार बहुत-सुन्दर तथा उपयोगी भवन बनाया जाए और उसमे दैनिक झाड़ा-बुहारी तथा स्वच्छाई न रखी जाए तो खुले स्थानों, द्वारों और खिडकियो आदि से मैल-मट्टी तथा कूडा-करकट एकत्रित होने से—वह दु.खदायी बन जाता है। उस मे जहाँ-तहा पानी आदि पड़ने से दुर्गन्ध उत्पन्न होकर कीडे-मकोडे आदि विषैले जन्तु उत्पन्न होजाते है और वह भवन असहनीय तथा त्याज्य बन जाता है। इसी प्रकार अन्त करण की भी अवस्था है। यदि हमने अपने अ.त करण मे युक्ति, तर्क, प्रमाण, उदाहरण और अनुभव आदि से सत्कर्म को स्थापित कर लिया है किन्तु उसकी दैनिक साधना-अभ्यास नहीं किया है तो अत करण मे इन्द्रियों आदि से मैल-मटीले तथा कूडे-करकटीले भाव एकत्रित हो जाएँगे। उनके होने से अत करण दु खदायी बन जाएगा। उसमे जहाँ-तहाँ सरसता पहुचने से दुर्गंध उत्पन्न होकर विषैले तथा हिंसक भाव उत्पन्न हो जाएगे और वह अत करण असहनीय तथा त्याज्य बन जाएगा। अत अत करण-को सत्यं, शिव, सुन्दरम् बनाने के लिये प्रतिदिन सत्कर्मों की साधना तथा अभ्यास करना वश्यक है।

इन कष्टों तथा दुःखों आदि का अनुभव करके और भवन की न्यूनताओं को देखकर उसे अपूर्ण तथा दोषी समझकर, त्यागा जाए तो बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नही कहा जा सकता क्योंकि ऐसा होना तो स्वाभाविक है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये—भवन निर्माण के लिये निरंतर किये गये परिश्रम पर ही निर्भर नही रहा जा सकता – दैनिक झाड़ना-बुहारना और स्वच्छता रखनी होगी। इन कार्यों के लिये प्रतिदिन कुछ-न-कुछ कष्ट तथा अवाछित सहन भी करना पड़ेगा। तभी अत्यधिक परिश्रम से खड़ा किया हुआ भवन हमारे लिये सुखदायी तथा आनन्द का दायक हो सकता है। दूसरे निर्माता के अतिरिक्त निवासी व्यक्ति को भी अपनी आवश्यकता के अनुसार उस भवन में सामग्री को सुसज्जित करना पड़ेगा। यदि व्यक्ति अपना कार्य न करके उसका दोष भवन निर्माता पर ही डाल दे, तो युक्त न होगा। इससे भवन निर्माता दोषी नही हो सकता क्योंकि सबकी आवश्यकताएं और परिस्थिति आदि पृथक्-पृथक् है। अतः सब को अपनी आवश्यकता आदि के अनुसार भवन मे आवश्यकता सामग्री को सुसज्जित करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार मानसिक ब्रह्मचर्य के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार भवन को सुख तथा आनन्ददायक बनाने के लिये उसे नित्य झाड़ना-बुहारना और आवश्यक सामग्रियों से सुसज्जित करना आव-

श्यक है, उसी प्रकार मानसिक ब्रह्मचर्य के विषय में भी उसके तत्वों का नित्य प्रति विचार-अभ्यास करने की आवश्यकता है।

अभ्यास ८

मनोविज्ञान की दृष्टि से—

साधक विचार करता है कि इतना विचार करने के उपरात भी मन कामिनी की ओर प्रवृत्त हो ही जाता है परन्तु मनोवेग के अनुसार प्रवृत्त होने से न-तो कामिनी ही प्राप्त होगी और न-हि उसके साथ काम-क्रीड़ा का करना।

दूसरे मन न-तो सुख-आनन्द ही का निश्चय कर सकता है कि किसी विषय में वह है या नहीं और न-हि वह उसे प्राप्त करने के लिये सुविधा का मार्ग जान सकता है। वह-तो केवल प्रवृत्त होना जानता है और वह अपने उसी स्वभाव में प्रवृत्त होता रहता है। इस प्रकार मन के मनोवेगित होने पर कुछ प्राप्त न हो सकेगा। कुछ प्राप्त तो होगा नहीं, हां, मनुष्य लक्षित सुख-आनन्द के सहित अन्य सुख-आनन्द भी और समस्त सुविधाएं क्षीण तथा नष्ट अवश्य कर लेगा। अथवा यों कहना चाहिए कि समस्त कष्ट, दुःख और असुविधाएं अवश्य प्राप्त हो जाएंगी। सुख-आनन्द तथा उनको प्राप्त करने के लिये साधनों और सुविधाओं का निश्चय तो केवल विचार

द्वारा बुद्धि ही करती है। उसके अनुसार कर्म करने ही से वाञ्छित-फल की प्राप्ति होगी। अतः मुझे विचारित निश्चय ही से कर्म-पूर्ति करनी चाहिए।

मनोवेग का कार्य केवल प्रवृत्त करना है और बुद्धि का कार्य निश्चय करना। यदि मन प्रवृत्त होने का कार्य न करे, तो बुद्धि के विचार का कार्य भी न हो। किसी भी आनन्द या विषय को प्राप्त करने के लिये मन तथा बुद्धि दोनों का होना आवश्यक है। यदि इन दोनों में से एक भी न हो, तो कुछ भी नहीं बन पाता। अत किसी भी विषय की प्राप्ति के लिये मन से केवल प्रेरणा होने ही का कार्य लेना चाहिये, विचार का नहीं और बुद्धि से विचार का। यही बात काम-क्रीड़ा के विषय में लागू करनी चाहिए।

मेरा मन मुझे कामिनी की ओर प्रवृत्त कर देता है और बुद्धि उधर जाने से रोकती है। जबकि बुद्धि उधर प्रवृत्त होने से रोकती है, तो रुक जाना चाहिए। यदि यह कहा जाए कि मुझसे रहा-सहा और थमा नहीं जाता, सो यह बात नहीं है। क्योंकि मन को तो सुख-आनन्द और सुविधा चाहिए। उनका मार्ग बुद्धि बतलाती है। जब मन को आनन्द तथा सुविधा का मार्ग दिखाई देने लगेगा तो वह स्वयं ही कामिनी की ओर प्रवृत्त होने से रुक जाएगा, मुझसे कामवेग का सहन हो जाएगा और मैं अशांत न रह कर शांत हो जाऊंगा। उस मार्ग

का हमारे "मानसिक-ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र मे सम्यक्तया वर्णन है और वह बुद्धि द्वारा निश्चित है। उस पर चलने से हमे अवश्य आनन्द की प्राप्ति होगी। उस मार्ग मे से कामवेग को सहन करने के कुछ तत्व या साधन ये हैं कि भौतिक सुख, तात्त्विक दृष्टि और मानसिक सुख की दृष्टि से कामवेग को समर्थ होकर सहन करना।

अभ्यास ९

साधक विचार करता है कि मुझे अपने को सुख न पहुचा कर दूसरे को सुख पहुंचाने की इच्छा होती है परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता। मै तो दूसरे के प्रति कर्तव्यपालन ही कर सकता हू। क्योंकि—

(१) शरीर, सुख-दुःख, कर्म, भाव और अनुभव पृथक्-पृथक् होने से—

(२) अपने को सुख न पहुंचा या आवश्यकता पूरी न कर सकने के कारण—

(३) मेरे को दूसरे के सुख का अनुभव न होने से—

जबकि मै दूसरे को सुख पहुचा ही नहीं सकता, तो उसकी चिन्ता भी क्यों होनी चाहिए ?—

(१) पृथक्-पृथक् अनुभव होने से—

(२) सुख की प्राप्ति के लिये सब के पास साधन रूप इन्द्रिया हैं—

(३) मै दूसरे के सुख के लिये कर नही सकता—

(४) प्रकृति की रचना ही ऐसी है—

मै दूसरे के प्रति कर्तव्यपालन कर सकता हूं और वह कर्तव्य चार प्रकार से बनता है—

(१) भूतकाल मे जिसने मुझे सुख पहुंचाया हो—

(२) वर्तमान मे सुख पहुंचा रहा हो—

(३) भविष्यत् मे संभावना हो—

(४) सामान्य रूप से—

जबकि मैं अपने सुख लिये यत्न करूंगा, तो मुझे यह यत्न अपने आदर्श के अनुसार करना चाहिए। जब मै आदर्श के अनुसार कर्म करूंगा, तो यह कर्म सत्कर्म कहलाएगा। इससे अतिरिक्त असत्कर्म होगा। सत्कर्म मे दूसरे के सुख के लिये न-करना भी श्रेयस्कर है और असत्कर्म मे दूसरे के सुख के लिये सब कुछ करना भी दुःखदायी है। सत्कर्म करते हुये यदि दूसरे को सुख न होने से दुःख होता है तो क्या बस की बात है? वह तो होना ही है। फिर उसके लिये चिन्ता भी क्या ?

यदि सत्कर्म करते-करते दूसरे को सुख न होकर दुःख होता है तो—

(१) भौतिक सुख की दृष्टि से—

(२) तात्विक दृष्टि से—

(३) और मानसिक सुख की दृष्टि से—उस वेग को समर्थ होकर सहन करना चाहिए। फिर दूसरा भी मेरे प्रति इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता या नहीं करता । अत यदि मैं अपने आदर्श के अनुसार कर्तव्यपालन करता हू और दूसरे को सुख-आनन्द नहीं होता, तो मेरा इसमें कुछ दोष नहीं है। उसके कर्मो का ही दोष है, जो उसे दु ख देता है।

"मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक शास्त्र के अभ्यास के सत्ताईसवे अध्याय मे नौ (९) अभ्यास देकर इस ग्रंथ को समाप्त किया जाता है। परन्तु ग्रन्थ समाप्त होने से पहले साधक या पाठक को चेतावनी दे देना आवश्यक है।

चेतावनी—

साधक को यह अच्छी प्रकार समझ कर हृदयंगम कर लेना चाहिए कि वह दूसरे की देखा-देखी न करे। यदि वह ऐसा करेगा, तो उस पर यह कहावत बहुत-कुछ घट सकती है। कि—

"देखा देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग"

साधक या पाठक को यह नहीं सोचना चाहिए कि इस ग्रन्थ के साधक ने, जिस प्रकार काम-भाव को अपना कर, महान् फल को प्राप्त किया है—उसी प्रकार मैं भी, उसी प्रकार के काम-भाव को अपना कर, महान् फल को प्राप्त करूं।

समस्त मनुष्यों के भाव भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है और उन भावों का क्रम तथा वेग आदि भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। साधक को अपने भाव की भिन्नता, उसका क्रम वेग, कर्म और शक्ति आदि देखते हुये ही विचार तथा अभ्यास करना चाहिए। यदि साधक दूसरे की देखा-देखी करेगा तो यह होगा कि वह न-तो अपना भाव, उसका क्रम, वेग और कर्म को अपना कर सफलता या आनन्द को प्राप्त कर सकेगा। एवं न-हि वह दूसरे के भाव, क्रम, वेग और कर्म को अपना सकेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि वह वांछित फल से रहित होकर दुःख, कष्ट, कठिनाई, असुविधा, असफलता, अशांति, असन्तोष को प्राप्त हुआ रोग आदि से पीड़ित ही रहेगा। अतः साधक को चाहिए कि वह देखा-देखी कभी न करे।

अब "मानसिक ब्रह्मचर्य अथवा कर्मयोग" नामक ग्रंथ के सत्ताईसवें अध्याय को समाप्त करके ग्रंथ को समाप्त किया जाता है। जिसमें मानसिक ब्रह्मचर्य और कर्मयोग के सत्ताईस अध्याय वर्णन है। इस ग्रन्थ की समाप्ति ज्येष्ठ शुक्ला ११ वार सोमवार विक्रम सम्वत् २००३ में की।

सत्ताईसवां अध्याय समाप्त

ग्रन्थ समाप्त

शुभम् ______________ शुभम्

शुभम्

कुछ परिचय

लेखक—

फ़कीरचन्द कानोड़िया

कुछ परिचय

लज्जा

लज्जा भाव की उत्पत्ति निषेध तथा प्रेम भाव के सम्मिश्रण में होती है। इस भाव मे विचार तथा मनोवेग दोनों का स्थान होता है। मनुष्य कभी आशंका से थमता है, तो कभी प्रेम की ओर आकर्षित होता है। इन दोनों भावों की सन्धि ही में लज्जा भाव सन्निहित है।

सभ्यता

जिस आचार के अंतर्गत व्यवहार, नमन और वेश-भूषा आदि हों—उसे सभ्यता कहते हैं।

संस्कृति

वह संस्कार, जिस पर समस्त विचार और कार्य आधारित हों, संस्कृति कहलाती है।

प्रेम

प्रेम में केवल प्रियता होती है। जो केवल प्रेम करने वाले में रहती है।

माधुर्य

माधुर्य में प्रेम प्रेमी से निकलकर प्रियक मे आजाता है और प्रेमी इस प्रकार के वचन बोलता और व्यवहार करता है जो प्रियक को प्रिय लगते है जब इस प्रकार के वचन और व्यवहार होने लगे, जो प्रिय लगे तो वहाँ मधुरता होती है।

स्नेह

स्नेह मे प्रेम तथा मधुरता के भाव के साथ-साथ एक प्रकार की चिकनाई रहती है जो जीव के लिहसी रहती है। यह चिकनाई भी एक प्रकार का भाव ही है, जो जीव के लिहसा रहता है और यत्न करने पर भी जीव से सरलता से छूट नहीं सकता। यह भाव जीव को सरस बनाए रखता है।

हिंसा और अहिंसा

हिंसा का अर्थ—

प्रकृति के नियमो के अनुसार कर्मो के न करने को हिंसा कहते है।

असत्कर्म करने को हिंसा कहेगे।

कर्तव्यपालन न करने से हिंसा कर्म हो जाता है।

अर्थात् असत्कर्मों को करने और प्रकृति के नियमों तथा कर्तव्य को पालन नहीं करने से हिंसा कर्म होता है ।

अहिंसा का अर्थ—

प्रकृति के नियमों, जो मानव जीवन की प्रगति के लिये बनाये गये हैं, को पालन करने से अहिंसा कर्म होता है ।

सत्कर्म करने से अहिंसा कर्म होता है ।

कर्तव्यपालन को अहिंसा कर्म कहेंगे ।

अर्थात् प्रकृति के नियमों, सत्कर्मों और कर्तव्यपालन का नाम ही अहिंसा हो सकता है ।

सौन्दर्य

किसी वस्तु (विषय) के निर्माण में किसी प्रकार या किसी क्रम से चातुर्य पाया जाए, उसमें स्वच्छता या सरलता हो अथवा दोनों हों और जो देखने आदि में प्रिय लगे, तो उसे सुन्दरता कहेंगे । अथवा सौन्दर्य उसे कहेंगे कि किसी वस्तु या क्रिया शरीर में चतुरता से युक्त कौशल हो ।

मोह

स्वाभाविक भ्रम ही मोह कहलाता है ।

प्रतीक

केन्द्रित भावनाओं-विचारों का साकार रूप ही प्रतीक कहा जा सकता है।

उधार

उधार से समय-शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है। उस से कष्ट दुःख और अंतःकरण में विकार उत्पन्न होता है। इसलिये उधार के लेन-देन से बचना चाहिए।

परिश्रम-फल

दूसरे का परिश्रम-फल प्राप्त करने के लिये अपना परिश्रम-फल यथोचित रूप से दो।

अपने धन की बचत के लिये अपने विषयों (वस्तु) का विकास करो।

साहित्य

साहित्य को जीवन से उत्पन्न करो।

जीवन को जीवन से उत्पन्न होनेवाले साहित्य को ही अपना चाहिए।

विष्णु पूजन

शान्ताकारं भुजग शयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगन सदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मी कांतं कमल नयनं योगभिर्ध्यान गम्यं
वन्दे विष्णु भवभय हरं सर्व लोकैक नाथम् ॥

हमारे विष्णु भगवान कैसे हैं ? जिनका आकार शात है, जो शेष शैया पर शयन करते हैं। वह शैया समुद्र तल पर लगी हुई है। जिनकी ग्रीवा तथा वक्षस्थल पर कौस्तुभमणी आदि के कंठे सुशोभित हैं। जिनके एक हाथ में शंख है, एक हाथ मे चक्र है, एक हाथ मे गदा है और एक हाथ में पद्म है। जिनके शिर पर मुकुट शोभायमान है और कानों में सुन्दर कुण्डल हैं। जिनकी नाभी मे से कमल उत्पन्न हुआ और उस कमल मे से ब्रह्मा उत्पन्न हुये। ब्रह्मा जी के चार शिर हैं, चार हाथ हैं और चारों हाथों मे चार वेद है। ऐसे ब्रह्मा को उत्पन्न तथा धारण करने वाले विष्णु भगवान के नेत्र कमल के समान सुन्दर, कोमल तथा निर्लेप हैं। वे विष्णु भगवान आकाश के समान व्याप्त है। जिनका मेघ के समान श्याम वर्ण है। ऐसे विष्णु भगवान शुभ अंगों से सुशोभित हैं। साक्षात् लक्ष्मी जिनकी चरण-सेवा करती है और जिनका वाहन गरुड़ है।

जो विश्व के आधार है, संसार के भय दूर करने वाले है और वे सब लोको के एक ही स्वामी हैं। ऐसे विष्णु भगवान योगियो के ध्यान मे जाने जा सकते हैं। जिनके राम तथा कृष्ण दो मुख्य अवतार है। उस विष्णु भगवान पर आकाश मे से देवता पुष्प-वर्षा करते है। ऐसे विष्णु भगवान को मैं शतशः वन्दना करता हूं।

उपरोक्त भगवान का रूप किसी भक्त का दिया हुआ हो, तव तो वह अपने इष्ट को चाहे भी जो रूप दे सकता है। वह जो भी रूप दे, वही ठीक है। परन्तु कर्मयोगी के लिये विष्णु भगवान का उपरोक्त रूप, जो हमारे सन्मुख मूर्तिमान् है, रहस्य रूप है। समुद्र, शेष शैया, चार हाथ, नाभी मे से कमल उत्पन्न होना और कमल मे से चार हाथ चतुष्मुखी ब्रह्मा उत्पन्न होना तथा उसके हाथो में चारों वेद होना एवं जिनका वाहन गरुड़ होना—इत्यादि वस्तुए ही तो रहस्य है। मानव-अमानव के अगों का सयोग ही कर्मयोगी की समझ मे नहीं आता। वह सृष्टि में किसी मनुष्य को इस रूप मे नहीं देखता है और न-हि वह इस रूप का है। तो वह भक्त के समान इस महा-महिम देव को कैसे नमन कर सकता है ? वह उसकी आराधना कैसे कर सकता है ? यह रूप तो उसके लिये त्याज्य हो जाता है। परन्तु यदि हम विष्णु भगवान के इसी रूप को आलंकारिक भाषा मे रूपक मान लेते हैं तो यह हमारी संस्कृति

का सौन्दर्य पूर्ण संक्षिप्त से संक्षिप्त सार साकार रूप धारण कर लेता है और कर्मयोगी के लिये उसी प्रकार आराध्य हो जाता है, जिस प्रकार भक्त के लिये है।

यदि हम सागर को उपमान मान लें तो पृथ्वी या संसार हमारे लिये उपमेय हो जाता है, अथवा यों कहना चाहिए कि यह समुद्र नहीं, संसार है। यदि हम शेषनाग को सर्प न मान-कर हजारों आपत्तियां, विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ आदि मान लें तो हमारे सन्मुख कोई रहस्य नहीं रहता। यदि हम विष्णु भगवान को सत्य का रूप समझलें तो हमारा संशय दूर हो जाता है। अब तीनों बातों को इस प्रकार ले सकते हैं कि संसारमें हजारों आपत्तियाँ, विपत्तियाँ,कठिनाइयाँ और बाधाएं हैं। जिन से अन्तःकरण स्थित सत्य विवर्ण होकर कृष्ण रूप हो जाता है। फिर भी वह अपना तेज, उज्ज्वलता, कांति और शांति आदि प्रकट करता रहता है; जिस प्रकार मेघ में छिपा सूर्य अपना प्रकाश प्रकट करता रहता है। वह सत्य आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त रहता है। जब आपत्तियों-विपत्तियों आदि से अन्त.करण कलुषित हो जाता है या यों कहना चाहिए कि सत्य छिप जाता है तो अत्याचार मनुष्य रूप धारण कर उस पर अत्याचार करने लगता है। उस अत्याचार से पीड़ित हो सत्य प्रकट होता है और वह कमल के समान निर्लेप रहता हुआ हाथ में अस्त्र-शस्त्र धारण करके अत्या-

चारियों को नाश करना है। पश्चात् उस सत्य के मध्य से एक निर्लिप्त भाव (कमल) उत्पन्न होता है। जिससे सृष्टि या मानव (ब्रह्मा) रचना होती है। वह मानव सब विषयों का ज्ञान रखने वाला होता है और वह मनुष्यों की व्यवस्था बना कर उसे ज्ञान दे देता है। ऐसे सत्य की साक्षात् लक्ष्मी चरण सेवा करती है। जिससे संसार का पालन होता है। जब मनुष्य को अज्ञानांधकार मे कुछ दिखाई नहीं देता है अथवा किसी अत्याचारी के अत्याचार को सहन नहीं कर सकता और वह श्रद्धा तथा विश्वास के साथ सत्य का आह्वान करता है तो सत्य गरुड़ पक्षी के समान तेजगति से उसके पास पहुंच कर उसकी रक्षा करता है और उसे सान्त्वना देता है। ऐसे रक्षा-पालन करने वाले सत्य से समस्त संसार प्रफुल्लित हो उठता है। इन्हीं बातों को विष्णु भगवान शंख द्वारा उद्घोष करते है।

उपरोक्त हम अपने शेषशायी विष्णु भगवान को उपमान मानकर उपमेय ग्रहण कर लेते है तो हम अपनी संस्कृति के केन्द्रीय स्थल पर पहुंच जाते हैं और समझ जाते हैं कि हमे संसार में किस प्रकार रहना है और क्या तथा कैसे करना है? हम जान जाते हैं कि संसार से हजारो आपत्तियाँ, विपत्तियां, कठिनाइयाँ तथा बाधाएं आती हैं। और आ सकती हैं। इन से घबराना नहीं चाहिए, अपने धैर्य को छोडना नहीं चाहिए— सहस्रो फणो के नीचे विष्णु भगवान के शयन करने का यही

अर्थ है। हजार प्रकार से प्रलोभन आदि आ सकते है और आते है। जिनसे आक्रांत होकर मनुष्य कामांध हो जाता है, अन्तः-करण में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, मोह आ दबाता है और बुद्धि मारी जाती है। जिनसे मनुष्य अपनी किसी प्रकार भी रक्षा नही कर पाता। फिर भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए और सत्य का आह्वान श्रद्धा तथा विश्वास के साथ प्रयत्न से करना चाहिए। जब इस प्रकार से उसका आह्वान किया जाएगा तो सत्य हमारे समीप शीघ्र प्रकट होकर हमारी रक्षा तथा पालना आदि करेगा और हमे विकास का पथ दिखलाएगा। जब हमारे पर अशमनीय अत्याचारी अत्याचार करते हों तो हमे उनका नाश करने के लिये अस्त्र-शस्त्र धारण करना चाहिए। इस प्रकार हम अपनी लक्ष्मी की, अपने अधिकार की और अपनी वस्तु आदि की रक्षा कर सकेंगे और लक्ष्मी हमारी चरण सेवा करेगी। हम वैकुण्ठ लोक में निवास करेंगे। इस के ऐश्वर्य का भोग करते हुये कल्याण को प्राप्त होंगे। ऐसे कर्म-पथ प्रदर्शित करनेवाले मूर्तिमान विष्णु भगवान को शतशः वन्दना करते हैं।

हमारे सन्मुख विष्णु भगवान का जो चित्र है, वह हमारी संस्कृति का ही पवित्रतम तथा सार का सार है। यह हमें प्रेरणा करता है कि हे कर्म योगियो, तुम मुझे लक्ष्य बनाकर कर्म करो। इस प्रकार तुम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त

होंगे। तुम अपनी सब आपत्तियाँ, विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ और बाधाएं दूर करोगे। एवं अपना विकास करोगे। इस पथ से तुम्हारा आकार शांत होगा। यही पथ विश्व का आधार है। इसी पथ से लक्ष्मी चरण सेविका बनेगी। इसी पथ से संसार का भय दूर होगा और सब मनुष्यों के लिये कल्याण तक पहुचाने वाला एक यही पथ है। इसी को कर्म योगी ध्यान लगाकर जानता है। इसलिये इसी को लक्ष्य बनाकर हमें कर्म-मार्ग पर चलना चाहिए। यही पथ कर्मयोगी के लिये आराध्य है। इसी पथ के लिये हमें यत्नशील होना चाहिए। इस पथ पर चलने की सुविधा के लिये भगवान राम और भगवान कृष्ण के चरित्रों को सामने रख सकते हैं, क्योंकि इन दो महापुरुषों में हमारी संस्कृति अत्यन्त केन्द्रित हैं। ऐसे पथ - प्रदर्शक विष्णु भगवान को हम बारम्बार नमस्कार करते हैं और श्रद्धा-विश्वास के पुष्प चढ़ाते हैं।

विष्णवे नमः

स्थान—

साहित्य धाम

किनारी बाजार, दिल्ली।